वीर सेवामन्दिर-सस्ती-ग्रथमालाका चतुर्थ पुष्प

श्रावक-धर्म-संग्रह

लेखक

श्री स्व० मा० दरयावसिंहजी सोधिया

सम्पादक

हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री

द्वितीयवार
५००० प्रति

भाद्रपदवीर नि० सं० २४७६
विक्रम सं० २००७

लागत मूल्य
डेढ़ रूपया

दो शब्द

भारतीय धर्मोंमें जैनधर्मका स्थान महत्व पूर्ण है, उसके अहिंसादि सिद्धांत लोकोपयोगी और आत्म-कल्याण करने वाले हैं, उन पर चलनेसे आत्मा अपना पूर्ण विकास कर सकता है। अनेकान्तको जीवन में उतारने से संसारमें उसका कोई शत्रु नहीं हो सकता। अहिंसा और अपरिग्रहवादका आचरण करनेसे सांसारिक विषमताका सहज ही निरसन होकर व्यर्थकी झंझटोंसे सदाके लिये मुक्ति मिल जाती है। इस तरह इन सिद्धान्तोंके सर्वसाधारणमें प्रचारका अभाव देखकर हृदय तलमला उठता है कि इन सार्वजनीन महत्वपूर्ण सिद्धांतोंका जनतामें प्रचार क्यों नहीं हुआ? यदि इनका प्रचार हो तो कैसे हो, अथवा जनता जैनधर्मकी आत्माको और इसके गृहस्थ मुनि-धर्मके आचार-विचारों को कैसे जाने और उन्हें जीवन में किस तरह अपनाये?

समाजमें आज जो जैन-साहित्य प्रकाशित हो रहा है उसका मूल्य अधिक होनेसे सुगमतासे जनता उसे खरीद नहीं सकती, अतएव वह जैन धर्मके सिद्धांतोंकी जानकारीसे प्राय: अपरिचित ही रह जाती है, वह उनकी महत्ता एवं सार्वभौमिकतासे वंचित ही रहती है। इसीसे जैन-धर्मका साहित्य सबको सुलभ हो सके और वे जैनधर्मके सिद्धांतोंका परिज्ञान कर अपना हितसाधन कर सकें इसी पवित्र भावनाको दृष्टिमें रखते हुए श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक चिदानन्दजी महाराजकी प्रेरणा से वीरसेवामन्दिरके तत्वावधानमें 'सस्ती ग्रन्थमाला' की स्थापना की गई है जिसका उद्देश्य स्वाध्याय प्रेमी पाठकों और पाठिकाओंको लागत मूल्य में ग्रन्थों को प्रकाशित कर देना है। ग्रन्थमालासे छहढाला, जैन महिला शिक्षासंग्रह, 'सरल जैनधर्म', श्रावक-धर्म संग्रह रत्नकरण्ड श्रावकाचार और सुख की झलक ये छह ग्रंथ प्रकाशित हुए थे। जिन्हें जनता ने खूब पसन्द किया और इसलिये इनका ये दूसरा

संस्करण प्रकाशित हो रहा है। अभी हाल में मोक्षमार्गप्रकाशक और पद्मपुराण ये दोनों ग्रंथ भी तय्यार हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थका विषय उसके नाम से स्पष्ट है, इसमें जैन श्रावकके आचार-विचारों का संकलन किया गया है उसके दैनिक कर्तव्यों के साथ श्रावक के पाक्षिक साधक और नैष्टिक भेदों का स्वरूप और उनकी आचार सम्बन्धी समस्त क्रियाओं का कथन है जिसे पढ़ते ही श्रावक अपनी क्रियाओंका सामान्य परिचय प्राप्त कर और उसे जीवनमें उतारने तथा अपने जीवनको पूर्ण अहिंसक बनानेमें समर्थ हो सकता है। ग्रंथकारने इसके संकलनमें पर्याप्त परिश्रम किया है। जिससे यह ग्रंथ श्रावकोपयोगी बन गया है। आशा है स्वाध्याय-प्रेमी महानुभाव इसे अपनायेंगे और सस्ती-ग्रन्थमालाका इस निःस्वार्थ सेवाका अभिनन्दन कर प्रत्येक घरमें, ग्रन्थमालाके पूरे सेटको खरीदकर ज्ञानार्जन करनेका प्रयत्न करेंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थका यह संस्करण १६ पाइन्टके टाइपमें छापा गया है जिससे ग्रंथका कलेवर २० फार्मसे बढ़कर २५ फार्मका हो गया है। अतएव ग्रन्थका लागत मूल्य सवा रुपयासे बढ़ाकर डेढ़ रुपया करना पड़ा है। इस ग्रंथमालाका यह कार्य उदार मना श्रीमानोंकी सहायता पर निर्भर है। आशा है जिन वाणी भक्त महानुभाव एकसौ एक रुपया देकर सहायक बनने का प्रयत्न करेंगे। उन्हें ग्रंथमालाका पूरा सेट भेंट स्वरूप दिया जायेगा। ग्राहक महानुभाव अपनी-अपनी प्रतियां शीघ्र ही रिजर्व करा लेवें अन्यथा पीछे पछताना पड़ेगा। इतने सस्ते मूल्यमें फिर इन ग्रंथोंका मिलना दुर्लभ है।

प्रस्तुत संस्करणके प्रारम्भिक १० फार्मके सम्पादनका भार जिनके ऊपर था, उनकी असावधानीसे कई पंक्तियां छूट गईं, जो कि शुद्धिपत्रमें दे दी हैं, तथा ६३ वें पृष्ठकी तीसरी पंक्तिके आगे पूरे २ पृष्ठका अंश छूट गया, जो कि पृथक् पत्रपर मुद्रित कराकर यथास्थान जोड़ दिया गया है। इन भद्दी भूलोंके लिए हम अत्यन्त शर्मिन्दा हैं।

ता० ७-६-५०

—सम्पादक

भूमिका

इस बात को बहुधा सभी धर्मानुयायी निर्विवाद स्वीकार करते हैं कि सम्पूर्ण संसारी जीवों की जन्म-मरण परिपाटी का कारण उनकी पंचेन्द्रियों के विषयोंमें लोलुपता और क्रोध-मन-माया-लोभ कषाय एवं मोहरूप प्रवृत्ति है। इसीलिये ये दोष हीनाधिक रूप से सभी संसारी जीवोंमें पाये जाते हैं तथा इन्हीं के वश वे नाना प्रकार की शुभाशुभ क्रियायें करते हुए उन क्रियाओं के परिपाक से जन्म-मरण का चक्कर लगाते हुए, अति दुखी और दीन हीन हो रहे हैं। जिन जीवों के विषय-कषायों की प्रवृत्ति मन्द होती है वे शुभ (पुण्य) कर्म करतेहुए भविष्य में देवगति या मनुष्यगति पाते हैं। इसी प्रकार जिनके विषय-कषायों की प्रवृत्ति तीव्र होती है वे अशुभ (पाप) कर्म करते हुए भविष्य में नरकगति या तिर्यंच (पशु पक्षी-कीड़ी-मकोड़ा) गतिको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सभी संसारी जीव अपने किये हुए पुण्य पाप कर्मों का फल स्वयं ही भोगते हैं। इन चतुर्गतियों में भ्रमण करते हुए जीवों में से जब किसी को उसके पूर्व संचित पुण्योदय से औरों की अपेक्षा दुखों की कुछ मात्रा कम होती है तब लोग उसे सुखी समझते हैं। संसारी अज्ञानी जीवोंने दुख की कमी को ही सुख मान रक्खा है। यथार्थमें वह सुख नहीं है। सच्चा सुख तो वही है जो विषय-कषायों के सर्वथा अभाव होने पर शांत दशारूप चिरस्थाई हो, और जिससे संसारपरिभ्रमण अर्थात् जन्म-मरणकी परिपाटीका सर्वथा अभाव हो-जाय, इसीका दूसरा नाम निष्कर्म अवस्था अर्थात् मोक्ष सुख है, जीवात्मा इस अवस्थाको पाकर ही परमात्मा हो सकता है। यद्यपि सभी संसारी जीव दुख से बचने के लिये अनिष्ट सामग्रियों के दूर करने और सुख की प्राप्ति के लिये इष्ट-सामग्रियोंका समागम मिलाने

में निरन्तर त्रस्त-व्यस्त रहते हैं, जबतक वे सच्चे दुख सुख के स्वरूप को भली भांति जानकर दुख के मूल कारण विषय कषायोंका अभाव नहीं करते तबतक निराकुल-स्वाधीन, अविनाशी, आत्मिक सुख को कदापि नहीं पा सकते ।

ज्ञात रहे कि इन संसारी प्राणियों में एकेंद्रीसे लेकर अमनस्क (असैनी) पंचेन्द्रिय, तक तो मन के बिना आत्महित के विचारसे सर्वथा ही शून्य हैं। अब रहे शेष सैनी पंचेन्द्रिय. सो इनमेंसे जिनके मोहादि कर्मों का तीव्र उदय है वे सदा विषय-कषायों में ही अति मूर्छित रह धर्म से सर्वथा विमुख रहते हैं उनको आत्महित की रुचि ही उत्पन्न नहीं होती। हाँ! जिनके मोहादि कर्मों का कुछ मंद उदय है, उन्हें धर्म बुद्धि होती ही है उन्हें धर्म की वार्ता सुहाती है और वे धर्म धारण करने की इच्छा भी करते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि दुख के अभाव और सुख की प्राप्ति रूप मूल उद्देश्यकी सिद्धिके लिए ही प्रायः सभी मतोंने गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम इन दो कक्षाओं का आचरण किसी-न-किसी रूपमें स्वीकार किया है, अथवा कोई-कोई उसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों में भी विभक्त करते हैं। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि वर्तमान में शांति सुख की प्राप्ति के निमित्त भूत, इन चारों आश्रमोंकी अथवा दोनों कक्षाओं की बड़ी अव्यवस्था हो रही है, इनका रूप अत्यन्त विपरीतसा हो रहा है। सदुपदेशकों के अभाव से बहुधा गृहस्थाश्रमी अपने कर्त्तव्य-कर्मसे सर्वथा च्युत हो रहे हैं वे सच्चे दिल से न तो अपना कर्त्तव्य ही पालन करते हैं और न साधु-धर्म के ही सहायक होते हैं, वरन् मानमाने दुराचरणों में प्रवृत्त देखे जाते हैं। इसी प्रकार प्रायः गृहत्यागी-साधुवर्ग द्वारा गृहस्थोंको सुमार्ग (मोक्षमार्ग)का उपदेश मिलना तो दूर रहा, वे स्वयं स्वधर्म से पतित होते हुए गृहस्थों को उलटे विषय-कषायों में फंसाकर अनन्त संसारी बनाते हैं। इस प्रकार उलटी गङ्गा बह रही है।

इस उल्टी गङ्गाके बहने का कारण क्या है ! जब इसपर सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि कई मत तो केवल ज्ञान मात्र से ही सुख की प्राप्ति एवं मोक्ष होना मानते हैं। इसलिये वे विरागता-को दूरही से नमस्कार करते हुए केवल ज्ञान बढ़ानेमें ही तत्पर रहते और अपने को ज्ञानी एवं मोक्षमार्गी समझते हैं। इसी प्रकार उनसे विरुद्ध कई मत केवल एक विरागता से ही सुखकी प्राप्ति एवं मोक्ष होना मानते हैं, इसलिए वे संसार और मोक्ष सम्बन्धी तत्त्वज्ञान के बिना ही मनमाना भेष धर, मनमानी क्रियायें करते हुए अपने को विरागी, सुखी और मोक्षमार्गी मानते हैं। इसप्रकार अंधे-लंगड़ेकी नांई ज्ञान-वैराग्य की एकता न होनेसे गृहस्थ और संन्यास दोनों आश्रमोंका धर्म यथार्थरूपसे पालन नहीं होता। प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि कई लोग तो राज विद्या अथवा धर्मज्ञान शून्य न्याय, व्याकरणादि विद्या या अनुभवहीन धर्मविद्यामें निपुण होकर ज्ञानी, मोक्षमार्गी पनेकी ठसक धारते हुए, सदाचार को ताकमें रख, विषय-कषायों में तल्लीन रहते हुए, संसार संपदा बढ़ाने और विलासप्रिय बनने में ही तत्पर रहकर अपने तईं सुखी मान रहे हैं। परन्तु खेदके साथ कहना पड़ता है कि उन्हें सच्चे आत्म ज्ञान एवं विरागता के बिना शांति सुख के दर्शन भी नहीं होते। इसी प्रकार कई लोग केवल विरागता के उपासक बनकर आत्मज्ञान की प्राप्ति हुए बिना ही पेट पालने अथवा ख्याति-लाभ-पूजादि प्रयोजनों के वश मनमाने भेषधर अपने तईं विरागी-मोक्षमार्गी प्रसिद्ध करते हैं। ऐसे लोग भी ज्ञान वैराग्य की एकता के बिना महा-सन्तप्त (दुखी) और असंतुष्ट देखे जाते हैं। वे बहुधा ब्रह्मचारी, त्यागी नामों से प्रसिद्ध होते हुए भी विषय-कषायों में लिप्त रहते हैं, उनके हृदयमें शांतिरस के बदले संकल्प-विकल्पोंकी ज्वालायें धधकती रहती हैं। यह सब दुष्परिणाम ज्ञान-वैराग्य की पृथक्ताका है। अतएव मुमुक्षु सज्जनोंको उचित है कि पहले तो वीतराग-विज्ञानता के मार्गमें प्रवर्तनेवाले विद्वानों एवं वीतराग-विज्ञानता के प्ररूपक सच्छास्त्रों

द्वारा मोक्षमार्ग-सम्बन्धी तत्त्वों का भलाभाँति ज्ञान प्राप्त करें। संसार, संसार के कारणों तथा मोक्ष, मोक्षके कारणों को जानें, उनकी भलीभाँति जांच कर उनपर दृढ़ विश्वास लावें। पीछे संसार के कारणोंको छोड़ने और मोक्ष के कारणोंको ग्रहण करने के लिये गृहस्थ एवं मुनिधर्म रूप विरागताको यथाशक्य अंगीकार करें। इस प्रकार ज्ञान वैराग्यकी गाढ़ी मित्रता एवं एकीभाव ही सच्चे, आत्मिक, अविनाशी सुख की प्राप्ति का यथार्थ उपाय है।

यहां यह कह देना कुछ अनुचित न होगा कि जिस प्रकार गृहस्थ धर्म अथवा साधु धर्म धारण करने के पहले आत्म-ज्ञान होने की आवश्यकता है, उसी प्रकार मुनि धर्म धारण करने के पहिले यह बात जानना भी अति आवश्यक है कि गृहस्थाश्रम में गृहस्थ धर्म साधन करते हुए मनुष्य किस-किस प्रकार, कितने दर्जे तक विषय-कषायों को घटा सकता है और कितने दर्जे तक विषय-कषाय घटने पर आत्म-स्वरूप साधने योग्य साधु धर्म अंगीकार कर सकता है? अतएव साधु धर्म अंगीकार करनेके पहिले गृहस्थ धर्म को भली भाँति जानकर उसका अभ्यास करना प्रत्येक मनुष्य का प्रथम-कर्त्तव्य है। इसी अभिप्राय को मनमें धारणकर मेरी इच्छा दीर्घकालसे गृहस्थधर्मके स्वरूप को भली-भाँति जानने की थी। अतएव इसीका सतत प्रयत्न किया, जिसमें श्रावकाचार के ज्ञाता वृद्ध विद्वानों एवं संस्कृतपाठी पंडित महाशयों की सहायता द्वारा गृहस्थ धर्मके प्रकाशक अनेक संस्कृत-भाषा के ग्रन्थों के आधार से इस विषयको एकत्र करते-करते यह ' श्रावक-धर्म संग्रह " नामक ग्रंथ संग्रह हो गया। इसमें मुख्यपने-गृहस्थधर्म का और गौणपने साधु-धर्मका वर्णन है। आशा है कि इससे अन्य मुमुक्षुओं को भी अपना-अपना कर्त्तव्य भलीभाँति ज्ञात होगा और वे इसके अनुसार आचरण कर क्रमशः शांतिसुख का अनुभव करते हुए परम शांति युक्त परमात्म-अवस्था को प्राप्त होंगे।

मैंने इस श्रावक धर्म-संग्रह करने का कार्य अपनी मान-बड़ाई, लोभ

अथवा और किसी दुरभिनिवेशके वश होकर नहीं किया, केवल अपने ज्ञानवर्धन एवं कल्याण निमित्त किया है। इसमें जो कुछ विषय प्रतिपादन किया गया है वह श्री सर्वज्ञ, वीतराग, तीर्थंकर भगवान्‌के हितोपदेशकी परिपाटीके अनुसार निर्ग्रंथाचार्य महर्षियों द्वारा रचित ग्रंथोंके आधारसे तथा उस पवित्र मार्गके अनुयायी एवं प्रवर्तक अनेक मुमुक्षु-विद्वानोंकी सम्मतिसे किया गया है। इतना अवश्य है कि कहीं-कहीं पूर्वाचार्योंके संक्षिप्त वाक्योंको ध्वनि वृद्ध विद्वानोंकी सम्मति एवं तर्क-वादसे स्पष्ट कर दी गई है। पुनः इस ग्रंथका संशोधन भी अनेक धर्म-मर्मज्ञ अनुभवी सज्जनों द्वारा कराया गया है।

इस ग्रंथके संग्रह करनेमें नीचे लिखे ग्रन्थोंका आश्रय लिया गया है—

(१) रत्नकरंडश्रावकाचार—मूलकर्ता श्रीसमंतभद्रस्वामी। भाषाटीकाकार पं० सदासुखजी।

(२) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा—मूलकर्त्ता श्रीकार्तिकेय स्वामी। भाषाटीकाकार पं० जयचन्द्रजी।

(३) भगवती आराधना—मूलकर्त्ता श्रीशिवार्य। भाषाटीकाकार पं० सदासुखजी।

(४) वसुनन्दि श्रावकाचार—आचार्य वसुनन्दी।

(५) धर्मपरीक्षा—अमितगत्याचार्य।

(६) त्रिवर्णाचार—सोमसेन भट्टारक संग्रहीत।

(७) चारित्रसार—मंत्रिवर चामुंडराय।

(८) अमितगति श्रावकाचार—अमितगत्याचार्य।

(९) सागारधर्मामृत—पं० आशाधरजी।

(१०) गुरूपदेश श्रावकाचार—पं० डालूरामजी।

(११) प्रश्नोत्तरश्रावकाचार—मूलकर्त्ता भट्टारक सकलकीर्ति। भाषाटीकाकार पं० बुलाकीदासजी॥

(१२) पीयूषवर्ष श्रावकाचार—ब्रह्मनेमिदत्त ।

(१३) पार्श्वनाथपुराण - पं० भूधरदासजी ।

(१४) तत्वार्थबोध भाषापद्यानुवाद—पं० बुधजनजी ।

(१५) क्रियाकोष—पं० दौलतरामजी ।

(१६) क्रियाकोष—पं० किशनसिंहजी ।

(१७) ज्ञानानन्द श्रावकाचार—ब्र० रायमल्लजी ।

(१८) अष्टपाहुड़— (सूत्रपाहुड़-भावपाहुड़) मूलकर्त्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य । भाषाटीकाकार पं० जयचन्दजी ।

(१९) यशस्तिलकचम्पू—श्रीसोमदेवसूरि ।

(२०) सुभाषितरत्नसन्दोह—श्रीअमितगत्याचार्य ।

(२१) समाधितंत्र टीका—पं० पर्वतधर्मार्थी ।

(२२) सुदृष्टितरंगिणी—पं० टेकचन्दजी ।

(२३ धर्मसार—मू० भट्टारक सकलकीर्ति । भाषाटीकाकार पं० शिरोमणिजी ।

(२४) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—श्रीअमृतचन्द्राचार्य । भाषाटीकाकार पं० टोडरमलजी ।

(२५) आदिपुराण—श्रीजिनसेनाचार्य । भाषाटीकाकार पं० दौलतरामजी ॥

(२६) भद्रबाहुसंहिता—भट्टारक भद्रबाहु ।

(२७) धर्मसंग्रहश्रावकाचार—पं० मेधावी ।

(२८) तत्वार्थसूत्र—(सर्वार्थसिद्धिटीका) भाषाटीकाकार पं० जयचन्दजी ।

(२९) श्रीमूलाचार—श्रीवट्टकेर । भाषाटीकाकार पं० पारसदासजी ।

(३०) सारचतुर्विंशतिका—भट्टारक सकलकीर्ति । भाषाटीकाकार पं० पारसदासजी ॥

यहां कोई शंका करेगा कि जब जैनधर्ममें भट्टारकोंका कोई पदस्थ हो नहीं, किन्तु यह भेष कल्पित और शिथिलाचाररूप है और बहुधा सभी जैन इनके वाक्योंको संदेहकी दृष्टिसे देखते तथा भविष्यमें देखेंगे तो फिर उनके रचित या संगृहीत ग्रंथोंका आधार इस ग्रंथमें लेनेकी क्या आवश्यकता थी? उसका समाधान यह है कि जिन बातोंका उल्लेख वीतरागता, विज्ञानताके मार्गपर चलनेवाले दिगम्बर जैनाचार्योंने किया है, उन्हींकी पुष्टि इन भट्टारकोंने भी अपने ग्रन्थोंमें की है, इससे सिद्ध हुआ कि दिगम्बर-पूर्वाचार्यों के वाक्य संशय-रहित, सर्व-मान्य हैं। बस, यही विशेषता बतानेके लिये भट्टारकीय ग्रंथोंके आधार भी इस ग्रंथ में संग्रह किये गये हैं।

यद्यपि इस ग्रंथके संग्रह करनेमें बहुत सावधानी रखी गई है तथापि बुद्धिकी मन्दता एवं प्रमादवश कोई त्रुटि रह गई हो या हीनाधिक होगया हो तो उदारबुद्धि विद्वज्जन क्षमा करनेकी कृपा करें और जो त्रुटियां ज्ञात हों, वे कारण सहित सूचित करें, जिससे भविष्यमें यह ग्रंथ सर्वथा निर्दोष हो जाय।

इन्दौर
ज्येष्ठ शुक्ला ४
विक्रम सं० १९७०
वीर निर्वाण सं० २४३९.

विनीत,
दरयावसिंह सोधिया

ग्रन्थमालाके संरक्षक और सहायक

सेठ लालचन्द्रजी बीड़ी वाले, सदर बाजार देहली	२०००)
ला० राजकृष्ण जी, २३ दरयागंज देहली	१००२)
मातेश्वरी ला० अजितप्रसाद जी कटरा खुशहालराय देहली	१०००)
ला० त्रिलोकचन्द्रजी, सदर बाजार देहली	१०००)
ला० विश्वम्भरदास अजितप्रसाद जी सदर बाजार देहली	१०००)
मातेश्वरी ला० शीतलप्रसादजी, किचनरोड नई देहली	१०००)
ला० मुन्शीलाल सुमतिप्रसादजी धर्मपुरा देहली	५०१)
ला० रतनलालजी मादीपुरिया देहली	१०००)
श्री सुशीलादेवी ध. प. रा. ब ला. सुलतान सिंह जी काश्मीरी गेट देहली	५००)
ला० पन्नालाल दुर्गाप्रसाद जी सर्राफ नयागंज कानपुर	५०१)
श्रीमती विद्यादेवी देवी ध० प० ला० नट्टूमलजी धर्मपुरा देहली	५००)
श्रीमती विद्यावती देवी ध० प० ला० शम्भूनाथ जी कागजी धर्मपुरा देहली	५००)
ला० फिरोजीलाल जी ७ दरियागंज देहली	३०३)
ला० मनोहरलाल जी इंजीनियर ७ दरियागंज देहली	२५०)
ला० छुट्टनलालजी मेंदावाले देहली	२५१)
ला० हुक्मचन्द्रजी जैन धर्मपुरा देहली	२११)
रा० सा० ला० उलफतराय जी ७/३३ दरियागंज	२०१)
ला० हरिश्चन्द्रजी २३ दरयागंज देहली	२०१)
धर्म पत्नी ला० बाबूराम जी, बिजली वाले देहली	१५१)
श्रीमती केवलीबाईजी ध० प० ला० चन्दूलालजी सहारनपुर	१२५)

———

विषय-सूची

*ॐ *

श्रावक-धर्म-संग्रह

—:*:—

मंगलाचरण

दोहा—शिवसुखदा शिवसुखमई, मंगल परम प्रधान ।
वीतराग-विज्ञानता, नमों ताहि हित मान ॥१॥
वृषकर्त्ता युग आदि में, ऋषिपति श्री ऋषभेश ।
वृषभचिह्न चरणन लसे, वंदूं आदि जिनेश ॥२॥
सन्मतिप्रद सन्मति करन, सन्मति-सुख-दातार ।
सुखवांछक सब जगत जन, तातें सन्मति धार ॥३॥
मुक्तिमार्गसाधक द्विपद, विकल सकल हितकार ।
तामें श्रावक पद प्रथम, वरणों प्रतिमासार ॥४॥
प्रतिमा चढ़ि यति पद धरै, साधै आत्मस्वरूप ।
सिद्ध स्वात्मरसरसिक ह्वै, सद्गुणनिधि सुखभूप ॥५॥

मैं ग्रन्थके आदिमें मंगल निमित्त वीतरागता-विज्ञानतारूप परम शक्तिको हृदयमें धारण करनेकी इच्छा करके इसे नमस्कार करता हूं, तथा इस शक्तिके धारक अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधुसमूहको नमस्कार करता हूं, जिनके चरण-प्रसादसे गृहस्थधर्मको दर्पणवत् स्पष्ट दर्शाने वाला यह "श्रावक धर्मसंग्रह" नामक ग्रन्थ निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त हो ।

[धर्मकी आवश्यकता]

इस अनंतानंत आकाशके बीचों बीच अनादि-निधन ३४३ राजू प्रमाण घनाकार लोक स्थित है। उसमें भरे हुए अक्षयानन्त जीव अनादिकालसे ही देखने-जानने मात्र अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शन गुणको भूलकर, शरीर सम्बन्धके कारण केवल इन्द्रिय-जनित सुखोंको प्राप्त करनेके लिये आकुल-व्याकुल होते हुए नाना प्रकारकी अशुभ प्रवृत्तियां कर रहे हैं जिससे वे उनके फलस्वरूप नाना प्रकारके दुःखोंको प्राप्त होते हैं। इनको अपने आत्मीक-पारमार्थिक शान्ति-सुखकी खबरभी नहीं है। अज्ञानतावश, दुःखोंकी मन्दता अथवा किसी एक दुःखकी किंचित्काल उपशांतिको ही ये भोले जीव सुख माना करते हैं और इसी निमित्त इन्द्रियजनित विषयोंके जुटानेका सदा प्रयत्न करते रहते हैं। इन दुःखोंके मूल कारण जो उनके पूर्वकृत दुष्कर्म हैं उनको तो पहिचानते नहीं, केवल बाह्यनिमित्त कारणोंको दुःखदायक जान, संकल्प विकल्प करते हुए उनके दूर करनेका प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार झूठे उपायोंसे जब दुःख दूर न होकर उल्टा बढ़ता है तब निरुपाय होकर कहने लगते हैं—"हमारे भाग्य में ऐसा ही लिखा था" भगवानको ऐसाही करना था अथवा अमुक देवी देवताका हम पर कोप है" इत्यादि। इस तरह और भी अनेक बिना सिरपैर की कल्पनायें करते हैं और लाचार होकर

सहायताकी इच्छासे लोकरूढ़िके अनुसार अनेक विषयी-कषायी देवोंकी पूजा मानता करते, भेषी संसारासक्त कुगुरुओंकी सेवा करते और संसारवर्द्धक (जन्ममरणकी पद्धतिबढ़ानेवाले) उपदेश युक्त शास्त्रोंकी आज्ञाओंका पालन कर हिंसादि पाप करनेमें ज़रा भी नहीं डरते हैं। तिस पर भी चाहते क्या हैं? यह कि तृष्णा रूपी दाहज्वरको बढ़ानेवाली और आकुल-व्याकुल करनेवाली इन्द्रियजनित सांसारिक सुख-सम्पदा प्राप्त हो। इसप्रकार उपर्युक्त विपरीत कर्तव्योंका परिणाम यह होता है कि ये जीव उल्टे सांसारिक चौरासी लक्ष योनियोंमें जन्म-मरणकरनेके चक्करमें पड़कर सदा दुखी रहते हैं।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इन्द्रिय-जनित विषय-सुख, सच्चे सुख नहीं किन्तु सुखाभास हैं। क्योंकि ये अ-स्थिर, अन्तमें विरस, पराधीन, वर्तमानमें दुःखमय और भविष्यत्में दुःखोंके उत्पादक हैं। अतएव सच्चे सुखके वांछक पुरुषोंको चिरस्थायी आत्मीक स्वाधीन सुखकी खोज करना चाहिये और उसके स्वरूपको समझकर उसीकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिये।

वास्तवमें देखा जाय तो आकुलता-व्याकुलता रहित आत्मा का शान्तिभाव ही सच्चा सुख है, जिस शान्तिभावकी प्राप्ति केलिये बड़े-बड़े योगी-यति संसारके झगड़ोंसे जुदा होकर और कामिनी-कांचनको छोड़कर वनवास करते हैं। वही शांति

भाव आत्माका स्वाधीन सुख है, जिसे आत्माका धर्म कहते हैं। उस आत्मधर्मके मर्मको जाने विना "कांखमें लड़का गांव में टेर" की कहावतके अनुसार यहां-वहां धर्मकी ढूंढ-खोज करना अथवा आत्मधर्मके साधक निमित्तमात्र कारणोंको ही धर्म मान बैठना और उसके लिये कपोल-कल्पित नाना-प्रकार की असत् क्रियायें करना व्यर्थ है; क्योंकि मूल विना शाखा कहां ? इसका खुलासा यह है कि आत्माका स्वभाव (धर्म) रागद्वेष रहित चेतना मात्र है जिसको देखना-जानना भी कहते हैं। इसके विशेष भेद उत्तम क्षमा; मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र(रत्न-त्रय धर्म) या जीवदया (अहिंसाधर्म) हैं। यह आत्मधर्म अनादि कर्म सम्बन्धके कारण विपरीत हो रहा है, इसलिये कर्मजनित विभावों और आत्मीक स्वभावोंके यथार्थ स्वरूप जाने विना ये जीव संसाररोगकी उल्टी औषधि करते और सुखके बदले दुःख पाते हैं।

यदि एक बार भी जीवको अपने स्वाभाविक स्वरूप शुद्ध ज्ञान-दर्शनकी तथा अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मजनित इन नाना-प्रकारके स्वांगोंकी परख हो जाती, तो जन्म-मरणके दारुण दुःख इसे कदापि न भोगने पड़ते और यह सदाके लिए इनसे छुटकारा पा जाता। परन्तु करे क्या ? संसारमें अनेक मार्ग

ऐसे बन रहे हैं जो धर्मके नामसे जीवोंकी आँखोंमें धूल डाल उल्टे विषय कषायोंके गड्ढेमें पटक उन्हें अन्धे और अपाहिज (पुरुषार्थ हीन) कर देते हैं जिससे उनका फिर सुमार्गके निकट आना कठिन हो जाता है। भावार्थ—जिन पंचेन्द्रिय जनित विषय-सुखोंमें जीव अज्ञानता वश भूल रहे हैं उन्हींको विषय सुखोंकी मदिरा पिलाकर वे उन्हें बार-बार मोहमें अचेत कर देते हैं जिससे उनको यह बोध नहीं होने पाता कि हम कौन हैं ? कहाँसे आये हैं और कहां जाना पड़ेगा ? वर्तमानमें जो यह सुख-दुःखकी सामग्री हमें प्राप्त हो रही है इसका कारण क्या है ? आत्मा तथा शरीर अलग-अलग पदार्थ हैं या एक ही हैं ? आत्माका स्वभाव क्या है ? और कर्मजनित रागद्वेषरूप विकार भाव क्या हैं ? तथा हमारा सच्चा सुख क्या और कैसे प्राप्त हो सकता है ? इत्यादि इत्यादि ।

इस प्रकार संसारी जीवोंकी अचेत एवं दुःखमय दशा देखकर परमोपकारी परमपूज्य तीर्थंकर भगवान्‌ने असार संसार से विरक्त हो शुभाशुभ कर्मोंको जीत ('कर्मारातीन् जयजीति जिनः' अर्थात् जो कर्मशत्रुओंको जीत शुद्धात्मस्वरूपको प्राप्त हो सो जिन है) अपनी पूर्वकृत दर्शनविशुद्धि (सम्यग्दृष्टि-की सब जीवोंको मोक्षमार्गमें लगानेकी उत्कट वांछा) भावना के द्वारा बांधे हुए तीर्थंकर प्रकृति नामकर्मके उदयवश श्री अर्हत्स्वरूपको प्राप्त होकर संसारी जीवोंको मोक्षमार्गका उप-

देश दिया जिसमें मोक्ष और मोक्षके कारणों तथा संसार और संसारके कारणोंका स्वरूप भलीभांति दर्शाया। मोक्ष प्राप्तिके लिये आत्माके स्वभाव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानको भलीभांति सिद्ध करनेके पीछे कर्म-जनित विभावोंको छोड़ स्वभावमें प्राप्त होनेके लिये सम्यक्चारित्र धारण करनेका उपाय बताया तथा इस अनादि रोगको एकदम दूर करनेकी शक्ति सर्वसाधारण जीवोंमें नहीं है, इसलिये जैसे बड़े भारी व्यसनीका एकदमव्यसन छूटना अशक्य जान क्रम-क्रमसे छोड़नेकी परिपाटी बताई जाती है उसी प्रकार उन जिनेश्वरदेवने निरक्षर दिव्यध्वनिद्वारा विषय-कषायग्रसित [दुर्व्यसनी] संसारी जीवोंको इस संसार रोगसे छूटनेके लिये श्रावक और मुनि-धर्म-रूप दो श्रेणियोंका उपदेश दिया।

१ श्रावक धर्म—जिसमें गृहस्थ अवस्थामें रहकर कषायों के मन्द करने और इन्द्रियोंके विषय जीतनेको अणुव्रतादि साधन बताये गये हैं।

२ मुनिधर्म—जिसमें गृहस्थापना त्याग, सर्वथा आरम्भ-परिग्रह तथा विषय-कषाय रहित हो, निज शुद्धात्मस्वरूपकी सिद्धिके अर्थ महाव्रत, तप, ध्यानादि साधन बताये गये हैं, जिससे आत्मा अपने स्वाभाविक वीतराग-विज्ञानभाव (शुद्ध चैतन्यभाव) को प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाय।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आत्माका स्वाभा-

विक धर्म है। यह कर्मजनित उपाधिके कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप विपरीत या उल्टा हो रहा है। इसलिये आगे इस ग्रन्थमें क्रमशः इन तीनोंका स्वरूप वर्णन किया जायगा।

[सम्यग्दर्शन प्रकरण]

दोहा—आतम अनुभव नियत[1] नय, व्यवहारे तत्वार्थ।
देव-धर्म-गुरु-मान्यता, सम्यग्दर्शन सार्थ ॥ १ ॥

सबसे प्रथम आत्माके स्वभाव (धर्म) का सम्यक्श्रद्धान होना आवश्यक है। क्योंकि इस सम्यग्दर्शन[2]को सत्पुरुषों ने ज्ञान तथा चारित्रका मूल माना है। सम्यक्त्व यम (महाव्रत) प्रशम (विशुद्ध भाव) का जीवन है और तप, स्वाध्यायका आश्रय है। इसके विना ज्ञान तथा चारित्र मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित रहते हैं। इसी कारण प्रथम ही सम्यक्त्व होनेके उपायका संक्षिप्त रूपसे वर्णन किया जाता है।

[लोकस्वरूप]

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्योंका समूह लोक कहलाता है। यह लोक (सृष्टि) अनादि काल (सदा) से है और अनन्तकाल तक बना रहेगा अर्थात् इन द्रव्योंको किसीने बनाया नहीं और न कभी ये नाश होंगे। क्योंकि द्रव्य उसे कहते हैं जो अपने गुणोंकर सदा

---

१ निश्चय, २ सम्यग्दर्शनको सम्यक्त्व या श्रद्धान भी कहते हैं।

ध्रौव्य और पर्यायोंकरके उत्पाद-व्यय रूप रहता है। सूत्र-कारने भी कहा है—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इसी कारण इन द्रव्योंका समूहरूप लोक अनादि-निधन है।

ये छहों द्रव्य यद्यपि अपने-अपने गुणोंसे युक्त सदा सत् रूप (मौजूद) रहते हैं। तथापि पर्याय परिणमानेकी शक्ति रूप उपादान कारण तथा पर्याय परिणमनेरूप निमित्त कारण होनेसे इनकी पर्याय पलटती रहती है। इनमें से जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें सूक्ष्म[१] और स्थूल[१] दोनों प्रकारकी पर्यायें होती हैं और शेष[४] धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन चार द्रव्यों में केवल सूक्ष्म पर्याय ही होती है।

वहां जीवोंके तो अनादिसम्बन्धरूप पौद्गलिक कर्म-संतति संयोगके निमित्तसे और पुद्गलकी जीव अथवा पुद्गल

---

१ स्थूल पर्याय—जैसे जीवका मनुष्यसे पशुपर्यायरूप आकार हो जाना, पुद्गलका घटसे कपालपर्यायरूप आकार हो जाना। सूक्ष्म-पर्याय-जीव में ज्ञानादि गुणोंके पुद्गलमें स्पर्शादि गुणोंके, धर्म द्रव्यमें गतिसहकारित्व गुणके, अधर्म द्रव्यमें-स्थिति सहकारित्व गुणके, कालद्रव्यमें वर्तना-गुणके और आकाशमें अवकाशदानगुणके अविभागप्रतिच्छेदोंमें अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धिरूप षट्स्थान, पतितवृद्धि वा हानिरूप परिणमन होना। इसका विशेष खुलासा श्रीगोम्मट्टसारजी से जानना।

४ धर्म, अधर्म का अभिप्राय यहां पुण्य पाप न समझना किन्तु ये द्रव्य हैं। इनका वर्णन आगे विस्तारपूर्वक किया जायगा।

के निमित्तसे पर्यायें पलटती हैं। इस प्रकार जीवके परसंयोग-जनित और पुद्‌गलके स्वपरजनित स्थूलविकार (परिणमन) स्थूलबुद्धि जीवोंको रातदिन दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु इन पल्टनोंके कारण सूक्ष्म अर्थात् विशेषज्ञानके विषयहोनेसे अल्पज्ञोंको ज्ञात नहीं होते और चमत्कार-सा भासता है। भावार्थ-पुद्‌गलोंमें स्वाभाविक रीतिसे और जीवोंमें उनके शुभाशुभ परिणाम द्वारा बन्ध किये हुए सूक्ष्म कर्मपरमाणुओंके उदयवश जो परिणमन होते हैं उन सबके कारण सूक्ष्म और अदृष्ट होने से लोक-रूढ़िके अनुसार ईश्वरको ही हर कोई इनका कर्त्ता ठहराता है यहां तक कि लोग जीवोंके सुख-दुःखका कर्त्ता "इस हाथ दे उस हाथ ले" की कहावत प्रसिद्ध होते हुए भी ईश्वर हीको मानते हैं। यही कारण है कि जीव आप तो अनेक प्रकारके पाप करते हैं और उनके फलस्वरूप दुःखोंसे बचनेके लिये उन दुष्कर्मोंको न छोड़कर अज्ञानतावश देव-देवियों या ईश्वरको कर्त्ता समझ उनकी नाना-प्रकार से पूजा-मानता करते हैं जिससे और भी अधिक पापकर्मों से लिप्त होकर दुःखों के स्थान बनते हैं।

संसारी जीव यद्यपि लोकरूढ़िके अनुसार सद्‌गुरुके उपदेशके अभावसे ईश्वरको सृष्टिका या सुख-दुःखका कर्त्ता तो मान लेते हैं, परन्तु यह नहीं विचारते कि ईश्वरका कर्त्ता-पना सम्भव है या असम्भव? सदोष है या निर्दोष?

यदि इस विषयमें सद्गुरुके उपदेशपूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात हो जाय कि सृष्टिका तथा प्रत्येक जीवके सुख-दुःख का कर्त्ता ईश्वरको मानना भ्रमपूर्ण है। हां, इतना अवश्य है कि ईश्वरने मोक्ष होनेके पहले जीवन्मुक्त (सशरीर परमात्म) अवस्थामें करुणाबुद्धिके उदयवश जीवोंके उद्धारार्थ सुख-दुःख, संसार-मोक्षका स्वरूप तथा मोक्षका मार्ग निरूपण कर दिया है और उपदेश दिया है कि जीव ही संसार का कर्त्ता और जीव ही मुक्तिका कर्त्ता है; विष-अमृत दोनों के लड्डू इसके हाथमें हैं चाहे जिसको ग्रहण करे। भावार्थ-जीवको सुख-दुःखकी प्राप्ति होना उसीके किये हुये सत्कर्म एवं कुकर्मके आधीन है। जीव ही संसार (अपने जन्म-मरण) का कर्त्ता ब्रह्मा, पोषक विष्णु और नाशक महेश है। खुदा या ईश्वर आदि किसीको संसारका उत्पादक, पोषक और नाशक मानना युक्ति-विरुद्ध है, तथा ऐसा माननेसे कई दोष भी उत्पन्न होते हैं। यहां पर उसीका संक्षिप्त-रूपसे वर्णन किया जाता है :—

[सृष्टिका अनादिनिधनत्व]

यदि ऐसा माना जाय कि विना कर्त्ताके कोई कार्य होता नहीं दिखता, इसी हेतुसे सृष्टिको ईश्वर या खुदा आदि किसी ने बनाया है। तो यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि सृष्टि बननेके पूर्व कुछ था या नहीं? इसका उत्तर यही होगा कि

ईश्वरके सिवाय और कुछ भी नहीं था; क्योंकि जो ईश्वरके सिवाय पृथ्वी जल आदि होना माना जाय तो फिर ईश्वरने बनाना ही क्या ? अतएव अकेला ईश्वर ही था। यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब विना कर्त्ताके कोई भी कार्य न होने का नियम है तो ईश्वर भी तो एक कार्य (वस्तु) है, इसका कर्त्ता होना भी जरूरी है। यहाँ कोई कहे कि ईश्वर अनादि है इसलिए उसका कर्त्ता कोई नहीं। भला जब अनादि ईश्वर केलिये कर्त्ताकी आवश्यकता नहीं तो उपर्युक्त षट्द्रव्य युक्त अनादि सृष्टिका कर्त्ता माननेकी भी क्या जरूरत है ? और यदि ऐसा माना भी जावे कि पहले ईश्वर अकेला था और पीछे उसने सृष्टि रची तो सृष्टि रचनेके लिए उपादान सामग्री क्या थी और वह कहांसे आई ? अथवा जो ऐसा ही मान लिया जाय कि ईश्वर तथा सृष्टि बननेकी उपादान सामग्री दोनों अनादिसे थीं, तो प्रश्न होता है कि निरीह (इच्छारहित, कृत-कृत्य) ईश्वरको सृष्टि रचनेकी आवश्यकता क्यों हुई ? क्योंकि विना प्रयोजनके कोई भी जीव कोई भी कार्य नहीं करता। यहां कोई कहे कि ईश्वरने अपनी प्रसन्नताकेलिए सृष्टि रचनेका कौतूहल किया, तो ज्ञात होता है कि सृष्टिके विना अकेले ईश्वरको बुरा (दुःख) लगता होगा ? इसीलिए जब तक उस ने सृष्टिकी रचना नहीं कर पाई तब तक वह दुखी रहा होगा। सो ईश्वरको दुखी और अकृतकृत्य मानना सर्वथा ईश्वरकी

निन्दा करना है। फिर भी जो कोई कुछ भी कार्य करता है वह इष्ट-रूप सुहावना ही करता है, सो सृष्टिमें सुखी तो बहुत थोड़े और दुखी बहुत जीव दिखाई देते हैं, इसी प्रकार सुहावनी वस्तुएँ तो थोड़ी और कुरूप, भयावनी, घिनावनी बहुत देखनेमें आती हैं जो कर्त्ताकी अज्ञानताकी सूचक हैं। इस प्रकार ईश्वरको सृष्टि कर्त्ता माननेमें और भी अनेक दोष आते हैं। फिर सभी कर्त्तावादी बहुधा ईश्वरको न्यायी और दयालु कहते हैं। सो जब ईश्वर ऐसा है तो क्या कारण है कि उस ने सब जीवोंको एकसा रूप, सुख, दुखादि, न दिया, किसीको मनुष्य, किसीको कीड़ा, किसीको कुरूप, किसीको सुरूप, किसी को धनवान, किसीको निर्धन आदि अलग२ प्रकारका बनाया? उसको किसीसे रागद्वेष तो था ही नहीं। यहां कोई कहे कि ईश्वर सब जीवोंको उनके शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार फल देता है। भला जब ऐसा है कि फलकी प्राप्तिके कर्त्ता जीव ही हैं तो ईश्वरको सृष्टिका या जीवोंके सुख-दुःखका कर्त्ता मानना निर्मूल ठहरा। अथवा यदि यह कहो कि जैसे जज न्याय करके जीवोंको उनके अपराधके अनुसार दण्ड देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी जीवोंके पूर्व शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार उन्हें सुख-दुख देता है, विना दिये सुख-दुख कैसे मिल सकता है? इसका समाधान यह है कि यदि ईश्वर अल्पज्ञ और निर्बल होता तो उसे दण्ड देकर दूसरोंको यहबात दिखलानेकी आव-

श्यकता पड़ती कि जो अमुक अपराध करेगा उसको अमुक दण्ड दिया जायगा। परन्तु उसे तो बहुधा सभी मतावलम्बी सर्वज्ञ; सर्वशक्तिमान और परमदयालु मानते हैं। यदि ऐसे ईश्वरको सुख-दुख देनेके झगड़ेमें पड़ना पड़ता या पाप मेटने और पुण्य प्रचार करनेका विकल्प करना पड़ता, तो वह सर्वज्ञ और शक्तिमान ईश्वर अपनी इच्छा मात्रसे ही सब जीवों को अपराध करनेसे रोक सकता था। परन्तु ऐसा न करके वह सांसारिक न्यायधीशोंकी पदवीको धारण करना चाहता है और वह जानते हुए दयालु होते हुए शक्ति रखते हुए भी जीवों से अपराध कराता और फिर उन्हें दण्ड देता है सो इससे तो उसके उत्तमगुणोंमें दोष लगता है, अतएव ईश्वरको फलदाता कहना व्यर्थ है। सब जीव जैसे परिणाम करते हैं वैसे ही सूक्ष्म कार्माण वर्गणा उनकी आत्मासे एक क्षेत्रावगाह रूप बन्धको प्राप्त होकर उदय अवस्थामें जीवोंको सुख-दुखका कारण होती है यथा—

"कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करै सो तस फल चाखा॥"

यहां कोई संदेह करे कि जैनमत ईश्वरको सृष्टिका कर्त्ता न माननेसे नास्तिक ठहरता है, तो इसका समाधान इतना ही बस होगा कि ईश्वरको सृष्टिका कर्त्ता माननेसे आस्तिक और न माननेसे नास्तिककी सिद्धि नहीं है। किन्तु आत्मा परमात्मा

का अस्तित्व माननेवाले आस्तिक और अस्तित्व न माननेवाले नास्तिक कहलाते हैं, सो जैनमत आत्माको अनादि, स्वयंसिद्ध तथा परमात्माको सर्वज्ञ, वीतराग, परमशांतरूप पूर्णसुखी मानता है, इसलिए जैनमतको नास्तिक कहना अतिभ्रमयुक्त है।

इत्यादि बातोंपर (जिनका उल्लेख श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थमें विस्तारपूर्वक और अतिसरलतासे किया गया है) जब प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण द्वारा सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो यही सिद्ध होता है कि ईश्वर (परमात्मा, खुदा या गॉड) तो कृत-कृत्य और निष्कर्म अवस्थाको प्राप्त होकर आत्मानन्दमें मग्न रहते हैं। उनको सृष्टिके करने, धरने, बिगाड़नेसे क्या प्रयोजन? लोकमें जो जीव-पुद्गलका परिण-मन हो रहा है वह उन द्रव्योंके शक्तिरूप उपादान तथा अन्य बाह्य निमित्त कारणोंसे ही होता है।

अब यहांपर सृष्टि-सम्बन्धी द्रव्योंका संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है:—

[षटद्रव्यों का वर्णन]

इस लोकमें चैतन्य और जड़ दो प्रकारके पदार्थ हैं। इनमें चैतन्य एक जीव-द्रव्य ही है, शेष पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश, और काल ये पांचों द्रव्य जड़ हैं इनमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल ये ५ द्रव्य अनन्त-आकाशके मध्य ३४३

घन *राजू-मात्र क्षेत्रमें भरे हुए हैं। भावार्थ—यह लोक आकाश सहित षट द्रव्यमय है अर्थात् जितने आकाशमें जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य (और छटा आकाश द्रव्य आधाररूप हैही) हैं वह लोकाकाश कहाता है, शेष लोकसे परे अनन्त अलोकाकाश है। यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि आकाशके ठीक बीचोंबीच लोक है यह कैसे निश्चय हो ? इसका समाधान यह है कि जब लोकसे परे सब तरफ अनन्त आकाश है अर्थात् सब तरफ अनन्त की गणना लिये एक बराबर आकाश है तो सिद्ध हुआ कि आकाशके अति मध्यभागमें ही लोक है।

इन छहों द्रव्योंमें जीव द्रव्य की संख्या (गणना) अक्ष-

* राजूका प्रमाण—इस मध्य लोक में (जिसे लोग पृथ्वी कहते है) पच्चीस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्यके जितने समय होते हैं उतने द्वीप समुद्र एक दूसरेको वलयाकार घेरे हुए हैं। सबके बीचमें जम्बूद्वीप १ लाख योजन व्यास लिये गोलाकार है। इसको घेरे हुए लवण समुद्र २—लाखयोजन चौड़ा है इस प्रकार दूनी २ चौड़ाई लिए सब द्वीप समुद्र हैं जितना लंबा क्षेत्र सब द्वीप समुद्रोंका दोनों तरफका हो वही राजूका प्रमाण है; क्योंकि मध्यलोक १ राजू (पूर्व पश्चिम) है। इसीको दूसरी तरहसे ऐसा भी कह सकते हैं कि कोई देव पहिले समय १ लाख योजन दूसरे समय २ लाख योजन गमन करे इसप्रकार प्रति समय दुगुना २ गमन करता हुआ अढाई सागर अर्थात् २५ कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्यके जितने समय हैं उतने समय तक बराबर चला जाय तब आधा राजू हो, इसे दूना करनेसे जो क्षेत्र हो वही १ राजू प्रमाण है ॥

यानन्त है । पुद्गलद्रव्यकी परमाणु संख्या जीवोंसे अनंतानंतगुणी है । धर्म-द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य एक-एक ही हैं । कालके कालाणु असंख्यात हैं । यह तो इनकी संख्या कही, अब इनका संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है :—

[जीवद्रव्य वर्णन]

प्रत्येक जीव चैतन्य अर्थात् ज्ञान दर्शन लक्षणयुक्त असंख्यात प्रदेशी है । यद्यपि इसका स्वभाव शुद्ध चैतन्य (देखने जानने) मात्र है, तथापि अनादि पुद्गल (द्रव्यकर्म) संयोगसे रागद्वेषरूप परिणमन करता हुआ विभावरूप हो रहा है । जिससे इसमेंस्वभाव विभावरूप ९ प्रकार परणतियां पाई जाती हैं :-

इन नवों प्रकारोंका वर्णन इस प्रकार है :—

(१) जीवत्त्व—जीवमें अपने तथा परपदार्थोंके जानने की शक्ति है । इसलिए यथार्थमें (निश्चयनयमे) इसके एक "चेतना" प्राण है । परन्तु व्यवहार नयसे (सांसारिक अशुद्ध अवस्था में) इंद्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास ४ प्राण हैं । इन चार प्राणोंके विशेष भेद १० होते हैं । यथा-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये ५ इन्द्रिय प्राण । मनबल, वचनबल, कायबल ये तीन बल प्राण । १ आयु और १ श्वासोच्छ्वास । इन प्राणों करके यह जीव अनादि कालसे जीता है ।

(२) उपयोगत्व—निश्चयनयसे जीव चैतन्यमात्र है

जिसके व्यवहारनयसे ज्ञान-दर्शन दो भेद हैं। तथा विशेष भेद १२ (८ प्रकार ज्ञान और ४ प्रकार दर्शन) हैं। तथा कुमति कुश्रुत, कुअवधि, सुमति, सुश्रुत, सुअवधि, मनः पर्यय और केवल ज्ञान। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, और केवल दर्शन।

(३) अमूर्तत्व—निश्चयनयसे जीव अमूर्तीक अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित है। परन्तु संसारअवस्थामें कर्म-नोकर्म अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल शरीर सहित होनेसे मूर्तीक है।

(४) कर्तृत्व—शुद्धनिश्चयनयसे अपने शुद्धचैतन्य परिणामका, अशुद्धनिश्चयनयसे अशुद्धचेतन परिणामका अर्थात् रागादि भावोंका और व्यवहारनयसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय चार घाति कर्मोंका तथा आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार अघाति कर्मों एवं अष्ट कर्मोंका कर्त्ता है।

(५) भोक्तृत्व—शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध चैतन्य परिणामका अशुद्ध निश्चयनयसे अशुद्ध चैतन्य परिणाम अर्थात् रागादि भावोंका और व्यवहारनयसे अपने शुभाशुभ परिणामोंद्वारा बांधे हुए अष्टप्रकार ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मोंके फलका तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण-शब्द रूप जो इन्द्रियोंके विषय हैं उनका और धन, स्त्री आदिका भोक्ता है।

(६) स्वदेहपरिमाणत्व—प्रत्येक जीव शुद्ध निश्चयनयसे

लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् लोकाकाशके प्रदेश गणनामें जितने हैं, ठीक उतने-उतने ही प्रदेश प्रत्येक जीवके हैं। परन्तु व्यवहारनयसे जैसा छोटा, बड़ा शरीर धारण करता है। उसीके आकार उसके आत्मप्रदेश संकोच विस्तार रूप हो जाते हैं। सिर्फ समुद्घात* अवस्थामें आत्मप्रदेश शरीरके बाहर भी निकलते हैं और सिद्ध अवस्थामें चरम अर्थात् अंतिम शरीरसे किंचित् न्यून आकार प्रमाण आत्म-प्रदेश रह जाते हैं।

(७) संसारत्व—जब तक जीव कर्ममल युक्त रहता है, तब तक ससारी है। संसारी जीवोंके मुख्य दो भेद हैं:—स्थावर और त्रस। स्थावर ५ प्रकारके हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। त्रस चार प्रकारके हैं:—दोइन्द्री—लट, शंख आदि। तेइन्द्री—चिउंटी, खटमल बिच्छू आदि। चौइन्द्री—मक्खी, भौंरा मच्छर आदि। पञ्चेन्द्री—पक्षी, पशु, मनुष्य, नारकी, देव आदि। इनके विशेष भेद ८४ लाख योनि तथा एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख कोड़ि कुल हैं।

(८) सिद्धत्व—यदि सामान्य रीतिसे देखा जाय तो अष्ट कर्मोंके नाश होनेसे जीवके एक आत्मीक, निराकुल,

*समुद्घात—जिन कारणोंसे आत्म प्रदेश शरीरसे बाहर भी निकलें, वे ७ हैं। यथा—कषाय, वेदना, मारणान्तिक, आहारक, वैक्रियिक, तैजस और केवल।

स्वाधीन सुखकी प्राप्ति होती है उस समय शुद्ध चैतन्य गुण-युक्त आत्मा अंतिम शरीरसे किंचित् न्यून आकारसे लोक शिखर के अन्त (लोकाग्र) में जा तिष्ठता है और अनंत काल तक इसी सुख अवस्थामें रहता है । ऐसी सिद्धि होजानेपर जीव सिद्ध कहाता है । यदि विशेषरूपसे कहा जाय तो अष्ट कर्मोंके अभावसे उन अष्टगुणोंकी प्राप्ति होती है जो अनादि कालसे कर्मों से आच्छादित हो रहे थे। यथा—ज्ञानावरणके अभावसे अनंत ज्ञान, दर्शनावरणके अभावसे अनंत दर्शन, मोहनीयके अभाव-से क्षायिकसम्यक्त्व, अंतरायके अभावसे अनंतवीर्य (शक्ति), आयुकर्मके अभावसे अवगाहनत्व, नामकर्मके अभावसे सूक्ष्मत्व, गोत्र कर्मके अभावसे अगुरुलघुत्व, और वेदनीयके अभावसे अव्याबाधत्व गुण उत्पन्न होता है ।

(६) उर्ध्वगतित्व—जीव जब कर्मबंधसे सर्वथा रहित हो जाता है तब उर्ध्वगमन कर एक ही समयमें सीधा लोकाग्र (मोक्षस्थान) में जा पहुँचता है । जब तक कर्मसहित रहता है तब तक मरनेपर (स्थूल शरीर छोड़नेपर) दूसरा शरीर धारण करनेके लिए आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान चारों विदिशाओंके सिवाय पूर्व; दक्षिण, पश्चिम, उत्तर चारों दिशा-ओंमें तथा उर्ध्व-अधो (ऊपर-नीचे) श्रेणीबद्ध (सीधा) गमन करता और पहिले, दूसरे, तीसरे या चौथे समयमें जन्म (नया स्थूल शरीर) धारण कर लेता है, अन्तरालमें तीन समयसे

अधिक नहीं रहता।

सारांश उपर्युक्त नवों प्रकारका यह है कि आत्माका स्वाभाविक आकार सिद्ध समान और गुण शुद्धचैतन्य केवलज्ञान है। जबतक यह स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त नहीं होता तबतक वह अनादिकर्मसंयोगसे अनेक शरीर-रूप और मति, श्रुतादि, विकल ज्ञान-रूप रहता है।

पुद्गलद्रव्य वर्णन

यह पुद्गल द्रव्य जड़ (अचैतन्य) है। स्पर्श* रस, गंध, वर्ण, गुणों वाला है तथा इसमें शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, द्विकोण, त्रिकोण गोल आदि संस्थान (आकार,) खंड, अंधकार, छाया, प्रकाश, आतप आदि पर्यायें होती रहती हैं। पुद्गलकी स्वभावपर्याय परमाणु और स्वभावगुण दो अविरुद्ध स्पर्श, एक रस, एक गंध, एक वर्ण ये ५ हैं, जो परमाणु—में होते हैं। विभावपर्याय स्कंध और विभावगुण स्पर्शसे स्पर्शान्तर, रससे रसान्तर आदि २० हैं।

पुद्गलके अणुसे लेकर महास्कंधवर्गणा तक कर्माण

---

* **स्पर्श ८ प्रकार**—शीत-उष्ण, रूक्ष-चिक्कण, हलका-भारी और नरम-कठोर। **रस ५ प्रकार**—खारा, मीठा, चिरपिरा, कडुवा और कषायला। गंध २ **प्रकार**—सुगन्ध और दुर्गन्ध। वर्ण ५ **प्रकार**—श्वेत, पीला, हरित, लाल और काला।

वर्गणा, तैजसवर्गणा, आहारकवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा आदि २३ भेद हैं। हर प्रकारकी वर्गणाओंसे जुदे-जुदे प्रकारके कार्य होते हैं। जैसे कार्माणवर्गणासे ज्ञानावरणादि कर्म, आहारकवर्गणासे औदारिक-वैक्रियक-आहारक शरीर, भाषावर्गणासे भाषा, मनोवर्गणासे मन और महास्कंध वर्गणासे यह अविनाशी, अनादि-अनंत लोक बना हुआ है।

पुद्गल परमाणुओंकी संख्या जो जीवोंसे अनन्तानन्त-गुणी है वह इस प्रकार है कि कितने ही पुद्गल तो खुले हुए परमाणुरूप और कितने ही संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणुओंसे मिलकर स्कंधरूप लोकमें भरे हुए हैं। सिवाय इसके प्रत्येक जीवके साथ अनन्त-अनन्त पुद्गल नोकर्म शरीर (स्थूल शरीर) तथा कर्म शरीर (सूक्ष्म शरीर) की दशामें बंधे हुए हैं। इस तरह जीवोंकी अक्षयानन्त संख्यासे पुद्गल परमाणुओंकी संख्या अनन्तानन्तगुणी है।

धर्म द्रव्य वर्णन

यह धर्मद्रव्य पुद्गल और जीवोंको गमन करनेमें उदासीन रूपसे गति-सहकारी है अर्थात् चलते हुए जीव पुद्गलोंको चलन-सहाई है, किन्तु जो स्थिर हों उन्हें धर्मद्रव्य हठात् (जबर्दस्ती) नहीं चलाता। जैसे पानी मछलियोंके चलनेमें सहायक होता है किन्तु प्रेरक नहीं होता। यह द्रव्य असंख्यात प्रदेशी, जड़, अरूपी और एक है। लोकाकाशके

बराबर है, इसमें केवल स्वभाव पर्याय होती है, विभाव नहीं होती।

अधर्म द्रव्य वर्णन

यह अधर्मद्रव्य पुद्गल और जीवोंको स्थित होते (ठहरते) हुए उदासीन रूपसे स्थिति में सहाई है अर्थात् जो पदार्थ ठहरे, उसे ठहरनेमें सहायता देता है। किन्तु चलते हुए पदार्थको हठात् नहीं ठहराता। जैसे पथिकको ठहरनेके लिये वृक्षकी छाया स्थिति-सहाई है किन्तु प्रेरक होकर नहीं ठहराती। यह द्रव्य असंख्यात प्रदेशी जड़, अरूपी और एक है। लोकाकाशके बराबर है। इसमें स्वभावपर्याय होती है, विभावपर्याय नहीं होती।

काल द्रव्य वर्णन

यह काल द्रव्य वर्तना-लक्षण युक्त है। प्रत्येक द्रव्यके वर्तने अर्थात् पर्यायसे पर्यायान्तर होनेमें सहकारी—उदासीन कारण है। व्यवहारनयसे इसकी पर्याय समय, घटिका (घड़ी) दिन आदि हैं, क्योंकि कालद्रव्यके निमित्तसे ही द्रव्योंमें समय समय सूक्ष्म पर्यायें होती हैं। आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक परमाणुके मन्दगतिसे गमन करनेमें जितना काल लगता है, वही काल द्रव्यकी समय नामक सबसे छोटी पर्याय है। इसीसे आवली, मुहूर्त, दिन, वर्ष कल्प काल आदिका प्रमाण होता है। यह द्रव्य जड़ अरूपी है इसके अणु (जिन्हें

कालाणु कहते हैं) गिनतीमें असंख्यात जुदे २ हैं। यह धर्म, अधर्मद्रव्यके समान कायरूप एक नहीं है। किन्तु लोकाकाश, धर्म, अधर्म तथा एक जीवद्रव्यके बराबर ही असंख्यात कालाणु, इसके अलग २ हैं अर्थात् लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश-पर एक एक कालाणु स्थित है। इसमें स्वभावपर्याय होती है, विभावपर्याय नहीं होती।

आकाश द्रव्य वर्णन

यह आकाश द्रव्य, जीव पुद्गलादि पाँचों द्रव्योंको रहनेके लिये अवकाश देता है, इसमें अवगाहनत्व गुण है। यह जड़, अरूपी, अनन्त प्रदेशी एक द्रव्य है। इसमें स्वभावपर्याय होती है, विभावपर्याय नहीं होती। इसके मध्यभागके जिन असं-ख्यात प्रदेशों (जितने क्षेत्र) में जीव, पुद्गलादि पांच द्रव्य भरे हुए (स्थित) हैं—उसे लोकाकाश कहते हैं; शेष अनन्त अलोकाकाश कहाता है।

उपर्युक्त छह द्रव्योंमें ४ द्रव्य उदासीन, सहकारी स्वभाव रूप और स्थिर हैं। केवल जीव-पुद्गलमें ही लोकभरमें भ्रमण करनेकी शक्ति है, इससे इन दोनोंको क्रियावान् कहते हैं शेष ४ द्रव्य निष्क्रिय हैं, पुद्गल जड़ है इसलिए चाहे स्वभाव अवस्था में रहो, चाहे विभाव अवस्थामें रहो, उसे कुछ सुख-दुख नहीं होता, केवल एक जीव द्रव्य ही ऐसा है जिसे स्वभाव अवस्थामें सुख-शांति और विभाव अवस्थामें दुख होता है क्योंकि यह

चैतन्य है।

जीवात्मा अनादि कालसे पुद्गल कर्म के संबन्धसे राग-द्वेष रूप परिणमता, चतुर्गतिमें भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार दुखी हो रहा है। जब पूर्ववद्ध (पहिलेका बांधा हुआ) कर्म उदय कालमें *सुख-दुख रूप फल देता है तब जीव उस फलके अनुसार पुनः रागी-द्वेषी होकर, अपने मन, वचन, कायको शुभ अथवा अशुभ रूप प्रवर्ताकर नये पुद्गल कर्मोंका बंध करता है। इसप्रकार जीवके प्राचीन कर्म उदयमें आकर खिरते जाते और फिर नये कर्म बंधते जाते हैं, जिससे कर्म बंधकी संतान नहीं टूटती और जीवको दही बिलोनेकी मथानीकी नांई सांसारिक जन्म-मरणके चक्कर खाने पड़ते हैं, छुटकारा नहीं होता। जिस प्रकार मथानीमें लिपटी हुई रस्सीका एक छोर खींचा जाय और दूसरा छोड़ दिया जाय तो वह चक्कर रहित हो सकती है। यदि उसी तरह जीव अपने पूर्वबद्ध कर्मोंके उदय आनेपर शांत भाव धारण करे और रागी-द्वेषी न हो तो प्राचीन कर्म अल्प रस देकर या सत्तामें ही रस-रहित

* साता वेदनीयके उदय होनेपर जीवकी इच्छानुकूल अन्य पदार्थोंका परिणमन सुख कहलाता है, यथार्थमें यह भी सच्चा सुख नहीं, सुखाभास मात्र है, क्योंकि यह स्वाधीन, नित्य, आत्मजनित नहीं है, पराधीन, क्षण-भंगुर और पर-जनित है। असाता वेदनीयके उदय होनेपर जीवकी इच्छाके प्रतिकूल अन्य पदार्थोंका परिणमन दुःख कहलाता है।

होकर बिना रस दिये हुए उदयमें आकर झड़ जाये और नवीन कर्मोंका बंध न होवे। ऐसा होनेसे क्रमशः कर्मोंका अभाव होकर जीव निष्कर्म (शुद्ध) अवस्थाको प्राप्त हो सकता है।

जब परीक्षा तथा स्वसंवेदन ज्ञानद्वारा अनुभव किया जाता है तो निश्चय होता है कि आत्माका असली स्वभाव ज्ञान-दर्शन मात्र है, इसमें राग द्वेषकी लहरें मोह (ममत्व भाव वश पुद्गलमें अपनापन माननेके कारण उठती हैं, और यही मोह कर्मबंधका मूल है, जैसे खानिमें अनादि कालसे स्वर्ण किट्टिका (पाषाण) युक्त अशुद्ध हो रहा है, तैसे ही जीव मोह-के निमित्तसे पुद्गल कर्म मिश्रित संसार अवस्थाको अनादि कालसे धारण कर रहा है* अपने स्वरूपको भूल, मनुष्य, पशु, देव, नारकी, गोरा, काला आदि कर्म जनित पर्यायोंको

---

*इसी बातको प्रकारान्तरसे अन्यमतावलम्बी भी कहते हैं। कोई तो कहते हैं कि ब्रह्म, मायाके वश संसारमें सगुण (सशरीर अशुद्ध) अवस्थामें रहता है और मायाके अभाव होनेपर निर्गुण (शुद्ध) ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। कोई कहते हैं कि पुरुषसे जब तक प्रकृति (कर्म) का संयोग रहता है तब तक वह संसारी रहता है प्रकृतिके दूर होनेसे शुद्ध हो जाता है। कोई कहते हैं कि आत्माके पीछे जब ~~तक~~ शैतान लगा हुआ है तब तक दुनियामें रहता है, शैतानके दूर होनेपर रूह रूहमें मिल जाती है। इस प्रकार इन सबके कहनेका भाव जैनमतके उपर्युक्त विवरणसे बहुधा मिलता-जुलता-सा ही है।

ही अपना आत्मस्वरूप निश्चय करता (मानता) हुआ बहि-रात्मा हो रहा है। जिससे ज्ञानका पुंज होते हुए भी किंचित् मति—श्रुत ज्ञानी, पूर्ण सुखका पुंज होते हुए भी अति दुखी और आत्मीक शुद्ध (सिद्ध) अवस्थाका पात्र होते हुए भी एकेन्द्री, दोइन्द्री, तेइन्द्री, आदि तुच्छ जीव हो रहा है। यदि यह जीव परीक्षा पूर्वक इन सब बातोंपर विचार करे और अपने स्वभाव-विभावका बोध प्राप्तकर, उसपर दृढ़, विश्वास लावे तो अपने स्वरूपका ज्ञाता—अन्तरात्मा हो सकता है। और फिर राग द्वेषको दूर कर शुभाशुभ कर्म करना छोड़ साम्यभाव धारण करे तो निष्कर्म हो अपने शुद्ध स्वभावको पाकर कृत-कृत्य परमात्मा हो सकता है।

सम्पूर्ण संसारी जीवोंके भव्यत्व, अभव्यत्व उपादान शक्तियोंके कारण भव्य, अभव्य दो भेद हैं। ये शक्तियां जीवों-में स्वयं हैं, किसीकी बनाई हुई नहीं हैं, जैसे मूंग या चने कोई तो सीझनेवाले और कोई घोरडू अर्थात् न सीझनेवाले स्वयं ही होते हैं।

भव्य—जिनमें मोक्षप्राप्ति होने (सीझने) की शक्ति होती है। ये तीन भेदरूप हैं—(१) निकट भव्य—जिनको सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयसे, बाह्य कारण मिलकर अल्पकालमें ही मोक्ष हो जाता है। (२) दूरभव्य—जिनको उपर्युक्त प्रकार-से दीर्घ कालमें मोक्ष होता है। (३) दूरातिदूर (दूरानदूर)

भव्य—जिनको बाह्य कारण सम्यग्दर्शनादिके अनन्त काल तक नहीं मिलते और न मोक्ष होता है, तथापि इनमें भव्यत्व शक्ति है।

अभव्य—जिनमें मोक्ष प्राप्त करनेकी उपादान शक्ति ही नहीं, इनको सम्यग्दर्शनादि प्राप्तिके बाह्य कारण मिलनेपर भी मोक्ष नहीं होता।

निकट भव्य तथा दूर भव्य, पुत्र होनेकी उपादान शक्तियुक्त सधवा स्त्रीके समान, दूरातिदूर भव्य पुत्र होनेकी शक्तियुक्त विधवा स्त्रीके समान और अभव्य बांझ स्त्रीके समान मोक्षप्राप्तिके विषयमें जानो।

जीवोंकी मोक्ष होने न होनेकी अन्तरंग उपादान शक्तियां हम तुम अल्पज्ञ पुरुष यथार्थ रूपसे नहीं जान सकते। इसलिये सदा पुरुषार्थपूर्वक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके कारण मिलाना चाहिये। भावार्थ—जिन कारणोंसे आत्मबोध हो उन कारणोंके मिलानेका सदा पूर्ण प्रयत्न करते रहना हरएक मनुष्यका कार्य है, जिससे मोक्षकी प्राप्ति होजाय।

सप्त तत्त्व वर्णन

जैन दर्शनमें जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व माने गये हैं। इनमें जीव, अजीव इन दोके अतिरिक्त शेष पांच तत्वोंकी उत्पत्ति "जीवाजीवविशेषाः।" अर्थात् जीव और अजीव (पुद्गल) के संयोग तथा वियोग-

की विशेषतासे है। जीव पुद्गलका संयोग रहना संसार, और जीव-पुद्गलका वियोग होजाना मोक्ष है। इसी कारण मोक्ष प्रकरणमें ये सप्ततत्व अति ही कार्यकारी हैं ये आत्माके स्व-भाव विभाव बतलानेके लिए दर्पणके समान हैं। इनके ज्ञान-श्रद्धानबिना जीव अपनी असली स्वाभाविक सुख अवस्थाको नहीं पासकता, अतएव इनका स्वरूप भली भांति जानना अत्यावश्यक है।

सबसे प्रथम इन जीवादि तत्वोंका विशेष स्वरूप जानना चाहिये; क्योंकि इनको विशेष रूपसे जानेबिना दृढ़ विश्वास नहीं हो सकता और दृढ़ निश्चय हुएबिना कर्तव्याकर्तव्यकी यथार्थ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इन सप्ततत्वोंके जाननेका मुख्य उद्देश्य यही है कि जिससे आत्माके स्वभाव-विभावका श्रद्धान ऐसा हो जाय कि जीवसे पुद्गल (कर्माण वर्गणा) के सम्बन्ध होनेके कारण आश्रव और बंध हैं तथा जीवसे पुद्गलके (कर्म वर्गणाके अलग होनेके कारण संवर, निर्जरा है इसलिये संसारके मूलभूत आस्रव, बंधके कारणोंको दूर करने और संवर, निर्जराके कारणोंको मिलानेसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार विशेष रूपसे आत्म श्रद्धानका होना सम्यग्दर्शन है। सो यह बात सात तत्वोंके जानेबिना होना असंभव है! इसी कारण स्पष्ट रूपसे आत्मश्रद्धान करानेवाले असाधारण कारण "तत्वश्रद्धान" को सूत्रकारोंने

सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है । और इन सप्त तत्वोंके बोध करानेके निमित्त कारण देव, शास्त्र, और गुरु हैं, इसीलिये आरंभिक दशामें देव, शास्त्र, गुरुके श्रद्धानको शास्त्रकारोंने सम्यग्दर्शन कहा है; क्योंकि सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरुके निमित्त-बिना इन जीवादि सप्ततत्वोंका उपदेश मिलना या बोध होना असंभव है । इस प्रकार उत्तरोत्तर कारणोंसे जब यथार्थ आत्म श्रद्धान हो जाता है तब ये सम्यक्त्वके सभी लक्षण अनुभव-में एकसे आने लगते हैं । तब यहां सप्त तत्वोंका विशेष वर्णन किया जाता है ।

जीव, अजीव (पुद्गल आदि पंच जड़ पदार्थ) दो तत्वोंका वर्णन तो द्रव्योंके प्रकरणमें हो चुका है, शेष ५ तत्वोंका वर्णन इस प्रकार है:—

आस्रव तत्त्व वर्णन

जीवोंकी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि भावोंसे युक्त-मन, वचन कायकी प्रवृत्ति होनेसे अथवा उनके अभावमें पूर्व-बद्ध कर्मोंके उदय होनेसे केवल योगोंद्वारा आत्मप्रदेशोंमें चंचलता होती है जिससे पुद्गल परमाणु आत्मासे बद्ध होनेके सन्मुख होते हैं यही द्रव्यास्रव है और जिन परिणामों या भावोंसे पुद्गल परमाणु (कार्माण वर्गणा) बन्धके सन्मुख होते हैं उन भावोंको भावास्रव कहते हैं । इस भावास्रवके विशेष भेद ५७ हैं, जो नीचे लिखे अनुसार हैं:—

मिथ्यात्व—अतत्त्व श्रद्धानको कहते हैं; अर्थात् यथार्थ तत्वों तथा उनके यथार्थ स्वरूपसे उल्टे, अयथार्थ तत्वोंपर तथा उनके अयथार्थ स्वरूपपर विश्वास करना मिथ्यात्व है। इसके ५ भेद हैं यथा—[१] एकान्त मिथ्यात्व—पदार्थोंमें अनेक धर्म हैं, उनमेंसे केवल एक ही को मानना; शेष सबका अभाव मानना सो एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे जीव-पुद्गल आदि द्रव्य अपने द्रव्यत्वकी अपेक्षा नित्य अर्थात् अनादि अनन्त हैं, न कभी ये उत्पन्न हुए हैं और न कभी नष्ट होंगे, परन्तु पर्याय अपेक्षा अनित्य भी हैं अर्थात् इनकी पर्याय पलटती रहती है, एक पर्याय नष्ट होती, और दूसरी उत्पन्न होती है। अब यदि इनमें नित्य या अनित्य एक ही धर्म मानकर दूसरे-का अभाव माना जाय, तो वस्तुका यथार्थ बोध नहीं हो सकता, न कोई क्रिया सध सकती है; क्योंकि वस्तु तो नित्य-अनित्य दोनों गुण युक्त है अतएव केवल एक गुण युक्त ही मान लेना एकान्त मिथ्यात्व है। लोकस्थित सभी पदार्थोंमें अनेकानेक धर्म पाये जाते हैं, यद्यपि वचनद्वारा एक समयमें एक ही धर्म कहा जासकता है तथापि अपेक्षापूर्वक कहनेसे अन्य धर्मोंका अभाव नहीं ठहरता, जहां एक धर्म मुख्यतासे कहा जाय वहां दूसरे धर्मोंकी गौणता समझना चाहिये। ऐसा होनेसे ही पदार्थोंमें रहनेवाले अन्य धर्मोंका भी बोध होकर यथार्थ प्रवृत्ति होती है। जैसे ग्वालिन दही बिलोते

समय रई (मथानी) की रस्सीके एक हाथसे पकड़े हुए छोर-को अपनी ओर खींचती और दूसरे हाथमें पकड़े हुए छोरको ढीला कर देती है, सर्वथा नहीं छोड़ देती, तभी दहीका सार (घृत) हाथ लगता है। यदि दूसरे हाथसे रस्सी सर्वथा छोड़ दी जाय तो कदाचित् भी घीकी प्राप्ति नहीं हो सकती इसी प्रकार अपेक्षारहित एक ही धर्मको लेकर पदार्थको सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा एक, सर्वथा अनेक, सर्वथा द्वैत, सर्वथा अद्वैत माननेसे कार्यकी सिद्धि कुछ भी नहीं हो सकती। (२) विनय मिथ्यात्व—सुगुरु-सुदेव-सुधर्म, कुगुरु-कुदेव-कुधर्म इन सबको एक सदृश मानना-पूजना या सच्चे तत्त्वोंको और झूठे तत्त्वोंको एकसा समझना, दोनोंको एक-सी महत्त्वपूर्ण दृष्टिसे देखना, मानना यह सब विनय मिथ्यात्व है। (३) विपरीत मिथ्यात्व—देव, गुरु, धर्म तथा तत्त्वोंका जिस प्रकार यथार्थ स्वरूप है, उससे उल्टा विश्वास कर लेना अर्थात् रागी-द्वेषी कुदेवोंमें*देवका, परिग्रहधारी कुगुरुओं-

* जिन देवोंके पास रागका चिन्ह स्त्री और द्वेषका चिन्ह शस्त्र हो वे कुदेव हैं। जिन गुरुओंके अन्तरंगमें राग-द्वेष और बाह्य वस्त्र, धा-न्यादिक परिग्रहसे प्रीति हो, जो गुरुपनेका अभिमान रखनेवाले और याचना करनेवाले हो वे सब कुगुरु हैं। जिन धर्म-क्रियाओंमें रागादि (भाव हिंसा) की वृद्धि तथा त्रस स्थावर हिंसा (द्रव्य हिंसा) हो, वह कुधर्म अथवा जिन शास्त्रोंमें हिंसाकी पुष्टिकी गई हो, वे कुशास्त्र हैं। इसी प्रकार

में गुरुका, हिंसामयी अधर्ममें धर्मका और संसारके कारणरूप कुतत्त्वोंमें तत्त्वोंका श्रद्धान कर लेना यह सब विपरीत मिथ्यात्व है। (४) संशयमिथ्यात्व—अनेक मतोंके देव, गुरु, शास्त्र तत्वादि देखसुनकर सत्य-असत्यके निर्णयकी इच्छा न करना और विचारना कि अनेक देव, गुरु, धर्म सब अपने-अपनेको सच्चा और दूसरोंको झूठा बतलाते हैं। अनेकमत तथा अनेक लोग अनेक तरहसे धर्मका स्वरूप वर्णन करते हैं, नहीं मालूम, इनमें कौन सत्य है और कौन असत्य है? इस प्रकार निर्णयकी इच्छासे रहित सन्देहरूप रहना सो संशय मिथ्यात्व है। (५) अज्ञान मिथ्यात्व–देव-कुदेव, धर्म-कुधर्म, वक्ता-कुवक्ता, शास्त्र, कुशास्त्र, तत्त्व-कुतत्त्व, देवमन्दिर-कुदेव-मन्दिर, वीतराग प्रतिमा-सराग प्रतिमा, सच्चे साधु-असाधु, संयम-असंयम आदि संसार तथा मोक्षके कारणोंके विषयमें विवेकरहित रहना सो अज्ञान मिथ्यात्त्व है।

अविरति—पापोंको त्याग न करना अविरति कहलाती है। इसके बारह भेद हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन इन छहों—इन्द्रियों और मनको वशमें न करना, इनके विषयोंमें लोलुपी बने रहना तथा पृथ्वीकायिक, अप-कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक इन

जिन तत्वोंके मानने और उनके अनुसार चलनेसे संसारकी परिपाटी बढ़ती हो, वे कुतत्व हैं।

छः कायके जीवोंकी रक्षा न करना, ये बारह अविरति हैं।

कषाय—जो आत्मगुणको घाते अथवा जिससे आत्मा मलिन (विभावरूप) होकर बंध अवस्थाको प्राप्त हो सो कषाय है। इसके २५ भेद हैं। ४ अनंतानुबन्धी-क्रोध मान माया, लोभ-यह कषाय अनन्त संसारके कारणस्वरूप मिथ्यात्वमें तथा अन्यायरूप क्रियाओंमें प्रवृत्ति करानेवाली है। इसके उदयवश जीव सप्त व्यसनादि पापोंको निरर्गल हो सेवन करता है। (भावदीपक)। ४ अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध, मान, माया, लोभ-इसके उदयमें श्रावकके व्रत रंच-मात्र भी नहीं होते, तथापि अनन्तानुबन्धीके अभाव और सम्यक्त्वके प्रभावसे अन्यायरूप विषयों (सप्तव्यसन सेवन) में प्रवृत्ति नहीं होती। इस कषायके उदयसे न्यायपूर्वक विषयोंमें अति-लोलुपता रहती है। ४ प्रत्याख्यानावरण--क्रोध, मान, माया, लोभ- यह कषाय यद्यपि मन्द है तथापि इसके उदय होते हुए महाव्रत (मुनिव्रत या सकलसंयम) नहीं हो सकता, इसके क्षयोपशमके अनुसार देशसंयम (श्रावकव्रत) हो सकता है। ४ संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ—यह कषाय अति मन्द है, मुनिव्रतके साथ-साथ इस कषायका उदय होते हुए भी यह संयमको बिगाड़ नहीं सकती, केवल इसके उदयमें यथाख्यातचारित्र नहीं हो सकता। ६ हास्यादिक—१ हास्य जिसके उदयसे हँसी उत्पन्न हो। २ रति-जिसके उदयसे

पदार्थोंमें प्रीति उत्पन्न हो। ३ अरति--जिसके उदयसे पदार्थों-में अप्रीति उत्पन्न हो। ४ शोक-- जिसके उदयसे चित्तमें खेद-रूप उद्वेग उत्पन्न हो। ५ भय--जिसके उदयसे डर लगे। ६ जुगुप्सा--जिसके उदयसे पदार्थोंमें घृणा उत्पन्न हो। ३ वेद--१ पुरुषवेद-जिसके उदयसे स्त्रीसे रमनेकी इच्छा हो। २ स्त्रीवेद--जिसके उदयसे पुरुषसे रमनेकी इच्छा हो। ३ नपुंसकवेद--जिसके उदयसे स्त्री-पुरुष दोनोंसे रमनेकी इच्छा हो।

योग--मन-वचन-कायद्वारा आत्म-प्रदेशोंके कम्पायमान होनेको योग कहते हैं। ये १५ प्रकारके हैं। ४ मनोयोग--मनकी सत्यरूप प्रवृत्ति सो सत्यमनोयोग है। मनकी असत्यरूप प्रवृत्ति सो असत्य मनोयोग है। मनकी सत्य-असत्य दोनों मिश्र-रूप प्रवृत्ति सो उभयमनोयोग है। मनकी सत्य-असत्य कल्पना-रहित प्रवृत्ति सो अनुभयमनोयोग है। ४ वचनयोग-- वचनकी सत्यरूप प्रवृत्ति सो सत्यवचनयोग है। वचनकी असत्यरूप प्रवृत्ति सो असत्यवचनयोग है। सत्य-असत्य मिश्ररूप वचन-की प्रवृत्ति सो उभयवचनयोग है। सत्य-असत्यकल्पनारहित वचनकी प्रवृत्ति सो अनुभय वचनयोग है। ७ काययोग--औदारिकशरीरकी प्रवृत्ति सो औदारिक काययोग है। औदा-रिक मिश्र कायकी प्रवृत्ति सो औदारिक मिश्र काययोग है। वैक्रियिकशरीरकी प्रवृत्ति सो वैक्रियिक काययोग है। वैक्रियिक-

मिश्रकायकी प्रवृत्ति सो वैक्रियिक मिश्रकाय योग है। आहारक कायकी प्रवृत्ति सो आहारक काययोग है। आहारकमिश्रकायकी प्रवृत्ति सो आहारक मिश्र काययोग है। कार्माणशरीरकी प्रवृत्ति सो कार्माण काययोग है।*

जब मन वचन कायके योग तीव्र कषायरूप होते हैं तब पापास्रव होता है और जब मन्द कषायरूप होते हैं तब पुण्यास्रव होता है। जब कषाययुक्त योगोंकी प्रवृत्ति होती है तब सांपरायिक आस्रव होता है और जब कषायरहित पूर्व-बद्ध कर्मानुसार योग चलते हैं, तब ईर्यापथ आस्रव होता है। सांपरायिक आस्रवमें प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध चारों प्रकारका बन्ध होता है परन्तु ईर्यापथ आस्रवमें केवल प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध दो ही प्रकारका बन्ध होता है।

[४ बंधतत्त्व-वर्णन]

जीवके रागादिरूप अशुद्ध भावोंके निमित्तसे पौद्गलिक

*औदारिक काययोगकी प्रवृत्ति पर्याप्त मनुष्य तिर्यंच और औदारिक मिश्रयोगकी अपर्याप्त मनुष्य तिर्यंचके, वैक्रियिककाययोगकी प्रवृत्ति पर्याप्त देव-नारकीके और वैक्रियिकमिश्रयोगकी अपर्याप्त देव नारकीके, आहारक काय योगकी प्रवृत्ति छठे गुणस्थानमें पर्याप्तआहारक पुतलाके और आहारक मिश्रयोगकी अपर्याप्त आहारकपुतलेके, कार्माणकाय योगकी प्रवृत्ति अनाहारक अवस्थामें तथा केवलि समुद्घातके मध्यके ३ समयोंमें होती है।

कार्माणवर्गणाओंका आत्माके प्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाहरूप होना सो बन्ध कहलाता है। तहां पूर्व-बद्ध द्रव्यकर्मके उदय-से आत्माके चैतन्य परिणामोंका राग-द्वेषरूप परिणत होना सो भावबन्ध और आत्माके राग-द्वेषरूप होनेसे नूतन कार्माण-वर्गणाओंका आत्मासे एकक्षेत्रवगाहरूप होना सो द्रव्यबंध है। सो द्रव्यबन्ध चार प्रकार है—प्रदेशबन्ध, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध। (१) प्रदेशबन्ध—जीवके मन, वचन, कायकी हीनाधिक प्रवृत्तिके अनुसार कर्मवर्गणाओंका आत्म-प्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाहरूप होना सो प्रदेशबन्ध है। सर्व संसारी जीवोंके कार्माणवर्गणाओंका बन्ध प्रत्येक समयमें अभव्यराशिसे अनन्तगुणा और सिद्धराशिके अनन्तवें भाग ऐसे मध्य अनन्तानन्तके प्रमाणको लिए हुए होता है। इन समयप्रबद्ध वर्गणाओंमें ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोंका अलग-अलग हीनाधिक विभाग या बंटवारा इस प्रकार है, सबसे अधिक वेदनीयका। उससे कुछ कम मोहनीयका उससे कुछ कम ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय तीनोंका बरा-बर-बराबर। इनसे कुछ कम नाम, गोत्र—दोनोंका बराबर-बराबर और सबसे कम आयुकर्मका विभाग होता है। प्रतिसमय बंधी हुई कार्माणवर्गणाओंमें केवल आयुबन्धके योग्य त्रिभागके अन्तमुहूर्त कालको छोड़ शेष समयोंमें सात कर्मरूप ही बंटवारा होता है, और आयु बंधके योग्य त्रिभाग

के अंतर्मुहूर्त कालमें* ८ कर्मरूप बंटवारा होता है (२) प्रकृति बन्ध—कर्मके प्रत्येक बंटवारेमें आई हुई वर्गणाओंमें आत्मगुणके घातनेकी पृथक्-पृथक् शक्तियोंका उत्पन्न होना सो प्रकृतिबन्ध है, जैसे ज्ञानावरणीमें ज्ञानको आच्छादनेकी शक्ति, दर्शनावरणमें दर्शनको आच्छादनेकी शक्ति, मोहनीयमें आत्मज्ञानके होने देनेमें असावधानी करानेकी शक्ति, अन्तराय-में वीर्य अर्थात् आत्मबलको उत्पन्न न होने देनेकी शक्ति, आयुकर्ममें आत्माको शरीरमें स्थित रखनेकी शक्ति, नाम कर्ममें अनेक प्रकारके शरीर रचनेकी शक्ति, गोत्र कर्ममें नीच ऊंच गोत्रमें उत्पन्न करानेकी शक्ति, वेदनीय कर्ममें और सांसारिक सुख-दुःख अनुभव करानेकी शक्ति होती है। यह अष्ट कर्मोंके सामान्य प्रकृतिबंधका संक्षिप्त स्वरूप कहा। विशेष तथा उत्तरप्रकृतियोंके बंधका स्वरूप श्रीगोम्मटसारजीके कर्म-

---

*वर्तमान आयुके दो भाग बीत जानेपर तीसरे भागके आरम्भके अंतर्मुहूर्तमें आयु बन्ध होनेकी योग्यता होती है। यदि वहां बंध न हो तो उस शेष एक भागके दो तिहाई काल बीत जानेपर शेष तीसरे भागके आरम्भके अंतर्मुहूर्तमे आयुबंधकी योग्यता होती है, इस प्रकार आठ त्रिभागोंमें आयुबन्धकी योग्यता होती है। यदि इन आठोंमें बंध न हो—तो आवलीका असंख्यातवां भागमात्र समय मरनेमें शेष रहे उसके पूर्व अंतर्मुहूर्तमें अवश्य ही आयुका बंध होता है। प्रकट रहे कि जिस त्रिभागमें आयुका बन्ध हो जाता है उसमें तथा उसके पीछेके त्रिभागोंके आरम्भिक अंतर्मुहूर्त कालमें आठ कर्मरूप बँटवारा अवश्य होता है।

काण्डसे जानना चाहिये।

(३) स्थितिबन्ध—कषायकी तीव्रता-मन्दताके अनुसार उन कर्मवर्गणाओंमें आत्मासे बंधरूप रहनेके कालकी मर्यादा का पड़ जाना स्थितिबंध है। इसमें उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी-अंतराय और वेदनीयकी ३० कोड़ाकोड़ी सागरकी, नाम-गोत्रकी २० कोड़ाकोड़ी सागरकी, मोहनीयकी ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी (चारित्रमोहनीयकी ४० कोड़ाकोड़ी सागरकी, और दर्शनमोहनीयकी ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी) तथा आयुकी ३३ सागरकी पड़ सकती है। जघन्यस्थिति ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय और आयुकी अंतमुहूर्त, नाम-गोत्रकी ८ मुहूर्त और वेदनीयकी १२ मुहूर्तकी पड़ सकती है। (४) 'अनुभागबन्ध—कषायोंकी तीव्रता मन्दताके अनुसार उन कर्म-वर्गणाओंमें तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर रस (फल) देनेकी शक्तिका पड़ना अनुभाग बंध कहलाता है। यह रस-शक्ति घातिया कर्मोंमें शैल-अस्थि-दारु-लतारूप, अघातिया कर्मोंकी पापप्रकृतियोंमें हालाहल-विष-कांजी-नीमरूप और पुण्य प्रकृतियोंमें अमृत-शर्करा-खांड-गुड़रूप इस तरह चार-चार प्रकारकी होती है।

योगकी प्रवृत्तिसे प्रदेश-प्रकृति बंध और कषायोंकी प्रवृत्तिसे स्थिति-अनुभाग बंध होता है। इसलिए जब कषाययुक्त योगकी प्रवृत्ति होती है तब प्रकृति-प्रदेश स्थिति-अनुभाग चारों प्रकार

का बंध होता है। यह चारों प्रकारका बंध दशवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक होता है। ऊपरके गुणस्थानोंमें कषायोंका अभाव होनेसे केवल योगोंकी ही प्रवृत्ति होती है तब प्रदेश-प्रकृतिरूप दो ही प्रकारका बंध होता है। इन योग-कषायोंकी विशेषतासे अष्ट कर्मोंके बंधमें जो विशेषता होती है उसका सारांश इस प्रकार है—योगोंके अधिक चलनेसे अधिक कार्माण वर्गणाओंका प्रदेशबंध होता है और कम चलनेसे कम होता है। कषायोंकी तीव्रतासे पापरूप १०० प्रकृतियोंमें अनुभाग अधिक और ६८* पुण्यप्रकृतियोंमें अनुभाग कम तथा कषायों-की मन्दतासे ६८ पुण्यप्रकृतियोंमें अनुभाग अधिक और १९० पाप प्रकृतियोंमें अनुभाग कम पड़ता है। इसी प्रकार तीव्र कषाय-से मनुष्य; तिर्यंच, देव इन तीनों आयुकी स्थिति कम और शेष सर्व कर्म-प्रकृतियोंकी स्थिति अधिक पड़ती है और मंद कषाय होनेसे इन तीनों आयुकी स्थिति अधिक और शेष कर्म-

---

*चारों घातिया कर्मोंकी ४७ प्रकृतियां तो पापरूप ही हैं, अघातियों-में शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र तथा सातावेदनीय आदि ६८ पुण्य प्रकृतियां और अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र तथा आसाता वेदनीय आदि ५३ प्रकृतियां पापरूप हैं। इस प्रकार ८ कर्मोंकी १०० प्रकृतियां पापरूप और ६८ पुण्यरूप हैं। यद्यपि अष्टकर्मोंकी कुल प्रकृतियां १४८ ही हैं तथापि वर्ण रसादिकी २० प्रकृतियां पाप-पुण्य दोनोंरूप ही होती हैं। इन सबके नाम स्वरूप, बन्धके विशेष भेदादि श्रीगोम्मटसारजीसे जानना।

प्रकृतियोंकी स्थिति कम पड़ती है।

यहां यदि कोई सन्देह करे कि जड़ कर्मोंमें यह क्रिया आप ही आप कैसे हो जाती है ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे एक कालमें ग्रहण किया हुआ अन्न पेटमें पहुँचकर वायु, पित्त कफ, रस, रुधिरादि धातु-उपधातुरूप परिणमता और उसमें पचनेके कालकी स्थिति तथा वायु, पित्त, कफादिरूप मंद-तेज रसशक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार जीवके शुभाशुभ भावोंका निमित्त पाकर कार्माण वर्गणायें आत्मासे एक क्षेत्रावगाह होकर ज्ञानावरणादि अष्टप्रकार कर्मरूप परिणमतीं और उनमें स्थिति-अनुभाग आदिका विशेष हो जाता है।

[५ संवरतत्त्ववर्णन]

जिन मिथ्यात्वादि भावोंके होनेसे कर्मास्रव होकर बन्ध होता है, उन भावोंका रुकना सो भावसंवर और कर्मवर्गणाओंके आगमनका रुकना सो 'द्रव्यसंवर' है।

इस जीवके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगोंद्वारा आस्रव होकर बन्ध होता है जो संसारभ्रमणका कारण है। अतएव आस्रव रोकनेके लिए सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे मिथ्यात्वका, देशविरति और महाविरतिके धारनेसे अविरतिका, यथाख्यातचारित्रकी प्राप्तिसे कषायोंका और योगप्रवृत्ति रोककर योगोंका संवर करना प्रत्येक मोक्षाभिलाषी पुरुषका कर्तव्य है। इस प्रकार आस्रवोंके रोकनेकी अपेक्षा संवरके ५७ भेद वर्णन

किए गए हैं । यथा—दशलक्षणधर्म-प्राप्ति, द्वादशअनुप्रेक्षा-चिंतवन, बाईस परीषह-जय, पंच आचार, पंच समिति और तीन गुप्तिका पालन करना ।

दशलक्षण धर्म—नीचे लिखे दश धर्म आत्माके स्वभाव हैं । इन लक्षणोंसे आत्माके स्वभावकी पहिचान होती है । प्रत्येक धर्ममें जो उत्तम विशेषण लगा हुआ है वह ख्याति, लाभ, पूजा आदि प्राप्तिकी इच्छानिवृत्तिके हेतु है अथवा (सम्यग्ज्ञानपूर्वक) होनेके लिए है। १ उत्तम क्षमा – सम्यग्ज्ञान-पूर्वक दूसरोंके अपराधको अपने तईं दंड देनेकी शक्ति होते हुए भी क्षमा करना, क्रोधित न होना । २ उत्तममार्दव—सम्यग्ज्ञान पूर्वक अपने तईं ज्ञान, धन, बल, ऐश्वर्यादि अभिमानके कारण होते हुए भी अभिमान न करना, विनयरूप रहना । ३ उत्तम आर्जव—सम्यग्ज्ञानपूर्वक मन-वचनकायकी कुटिलताको 'त्यागना—सरलरूप रहना । ४ उत्तम सत्य—पदार्थोंका स्वरूप ज्योंका त्यों वर्णन करना और प्रशस्त वार्तालाप करना अर्थात् धर्मानुकूल वचन बोलना, धर्मको हानि या कलंक लगाने वाला बचन न बोलना । ५—'उत्तम शौच'—सम्यग्ज्ञान पूर्वक आत्माको कषायों द्वारा मलिन न होने देना, सदा निर्मल रखना तथा लोभको त्यागना और सन्तोषरूप रहना । ६ 'उत्तम संयम'—सम्यग्ज्ञान पूर्वक इंद्रियों-और मनको विषयोंसे रोकना और षट् कायके जीवोंकी रक्षा

करना । ७ उत्तम तप—सांसारिक विषयोंमें इच्छारहित होकर अनशन (उपवास), ऊनोदर (अल्पआहार), वृत्तिपरिसंख्यान (अटपटी आखड़ी लेना), रसपरित्याग (दूध, दही, नमक, तेल, घी, मिष्ट इन रसोंमें से एक दो आदि रसोंका छोड़ना), विविक्तशय्यासन (एकान्त स्थानमें सोना-बैठना), कायक्लेश (शरीरसे उष्ण, शीतादि परीषह सहना) ये षट् बाह्य तप और प्रायश्चित विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (शरीरसे ममत्व छोड़ना) और ध्यान ये छह अंतरंग तप, ऐसे बारह प्रकार तप करना अर्थात् इनके द्वारा आत्माको तपा कर निर्मल करना, कर्मरहित करना । ८ उत्तम त्याग—अपने न्यायपूर्वक उपार्जन किए हुए धनको मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविकाके निमित्त औषधिदान, शास्त्रदान, आहारदान और अभयदानमें तथा उपकरणादि सप्त क्षेत्रोंमें* व्यय करना सो व्यवहारत्याग और रागद्वेषको छोड़ना सो अंतरंग त्याग है । ९ उत्तम आकिंचन्य—बाह्य दश प्रकार (खेत, मकान, चाँदी, सोना, पशु, अनाज दासी, दास, वस्त्र, वर्तन) और अंतरंग १४ प्रकार (क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, मिथ्यात्व, राग, द्वेष)

* १ जहाँ जिनमंदिर न हो वहाँ जिनमंदिर बनवाना २ जिनप्रतिमा विराजमान कराना ३ तीर्थयात्रा करना ४ शास्त्र लिखाकर दान करना ५ पूजन करना ६ प्रतिष्ठा करना ७ औषधि आहारादि ४ प्रकार दान देना ।

परिग्रहसे ममत्वका सर्वथा त्याग करना। १० 'उत्तम ब्रह्म-चर्य—बाह्य—व्यवहार ब्रह्मचर्य तो स्त्री-विषयका त्याग और अंतरंग (निश्चय) ब्रह्मचर्य व्रत अपने आत्मस्वरूपमें उपयोगको स्थिर करना है ॥

द्वादश अनुप्रेक्षा—जो वैराग्य उत्पन्न करनेको माता-समान और बारम्बार चिंतवन करने योग्य हों, सो अनुप्रेक्षा या भावना कहलाती हैं, ये १२ हैं। यथा:—(१) अस्थिर-भावना—सांसारिक सर्व पदार्थोंका संयोग, जो जीवनमे होरहा है उसे अथिर चिंतवन करके उनसे रागभाव तजना। (२) अशरण भावना—जीवको इसके शुभाशुभ कर्म ही शरण अर्थात् सुख-दुख देने वाले हैं, अथवा मोक्ष-मार्गके सहकारी निमित्त कारण पंच परमेष्ठीका इसे शरण है अथवा यह आत्मा अपने-को आप ही शरणरूप है अन्य किसीका शरण नहीं है। उदय-में आये हुए कर्मोंके रोकनेमें कोई समर्थ नहीं है। तथा मरण-कालमें जीवको रोकनेमें कोई शरण नहीं है। इस तरह निर-न्तर चिंतवन करके अपने आत्महितमें रुचि करना। (३) संसार-भावना—यह संसार जन्म, जरा, मरणरूप है। इस-में कोई भी सुखी नहीं है। प्रत्येक जीवको कोई-न-कोई दुख लगा हुआ है। इस प्रकार संसारको दुख-स्वरूप चिंतवन करके उसमें रुचि नहीं करना, विरक्तिरूप रहना। (४) एकत्व भावना—यह जीव अकेला आप ही जन्म, जरा, मरण, सुख,

दुख, संसार मोक्षका, भोक्ता है, दूसरा कोई भी इसका साथी नहीं है। ऐसा विचार कर किसीके आश्रयकी इच्छा न करना, स्वयं आत्महितमें पुरुषार्थ करना। (५) अन्यत्व भावना—इस आत्मासे अन्य सर्व पदार्थ वा जीव अलग हैं ऐसा चिंतवन करते हुए इनसे सम्बन्ध नहीं चाहना। (६) 'अशुचित्व-भावना'—यह शरीर हाड़, मांस, रक्त, कफ; मल, मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओंका घर है ऐसा विचारते हुए इनसे रागभाव घटाना और सदा आत्माके शुद्ध करनेका विचार करना। (७) आस्रवभावना—जब मन, वचन, कायरूप योगोंकी प्रवृत्ति कषाय-रूप होती है तब कर्मोंका आस्रव होता है और उससे कर्म बंध होकर जीवको सुख-दुखकी प्राप्ति तथा सांसारिक चतुर्गतिका भ्रमण होता है। इस तरह विचार करते हुए आस्रवके मुख्य कारण कषायोंको रोकना चाहिए। (८) संवरभावना—कषायोंकी मन्दता तथा मन, वचन, काय (योगों)की निवृत्ति जितनी-जितनी होती जाती है उतना-उतना ही कर्मोंका आश्रव होना भी घटता जाता है इसीको संवर कहते हैं। संवर होनेसे कर्मा-श्रव रुक कर बंधका अभाव होता है। बंधके अभावसे संसारका अभाव और मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसा चिन्तवन करना। (९) निर्जरा भावना—शुभाशुभ कर्मोंके उदयानुसार सुख-दुखकी सामग्रीके समागम होनेपर समताभाव धारण करनेसे सत्तास्थित कर्मोंका स्थिति-अनुभाग घटता है और विना रस दिये ही कर्म-

वर्गणाएं, कर्मत्वशक्ति-रहित होकर निर्जरती हैं। इस प्रकार संवर पूर्वक एक देश (कुछ २) कर्मका अभाव निर्जरा और सर्वदेश (सम्पूर्ण) कर्मका अभाव मोक्ष कहलाता है। ऐसा चिंतवन करके निर्जराके कारणभूत तपमें ख्याति, लाभ, पूजादिकी वांछारहित होकर प्रवृत्ति करना। (१०) लोक भावना—यह लोक ३४३ राजू घनाकार है, जिसके ऊर्ध्व-लोक, मध्यलोक, अधोलोक तीन भेद हैं, जिसमें संसारी जीव अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके वश चतुर्गतिमें भ्रमण कर रहे हैं, जीवोंके सिवाय पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच द्रव्य और भी इस लोकमें स्थित हैं; इन सबको अपनी आत्मासे अलग चिंतवन करके सबसे राग-द्वेष छोड़ आत्मस्वभावमें लीन होना ही जीवका मुख्य कर्तव्य है। ऐसा सोचना। (११) बोधिदुर्लभ भावना—अपनी वस्तुका पाना सुलभ तथा संभव है और पर वस्तुकी प्राप्ति दुर्लभ तथा असंभव है। जो पर वस्तुकी इच्छा करता है वह बंध अवस्थाको प्राप्त होकर दुखी होता है सो यह जीव इस संसारमें अनादि कालसे अपने आत्म-स्वरूपको भूलकर शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादिपर वस्तुओंको अपनाता हुआ दुखी हो रहा है। परन्तु ये पर पदार्थ कभी भी उसके नहीं हो सकते; क्योंकि निजात्माके सिवाय अन्य सर्व पदार्थ इससे पृथक् हैं। अतएव इन सर्व

पर पदार्थों में अपनात्व छोड़ निजात्म-ज्ञानकी प्राप्ति करना संभव सुलभ और सुखदाई है। यद्यपि अनादि कालसे कर्मोंसे आच्छादित होनेके कारण आत्मज्ञानकी प्राप्ति दुर्लभ हो रही है तथापि यह उत्तम मनुष्य पर्याय, उच्चकुल, दीर्घायु, इन्द्रियोंकी परिपूर्णता, आत्मज्ञान होने योग्य क्षयोपशम, पवित्र जिन-धर्मकी प्राप्ति, साधर्मियोंका सत्संग आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ समागम प्राप्त हुआ है। इसलिये जैसे बने तैसे आत्मज्ञानकी उत्पत्तिमें यत्न करना चाहिये ऐसा चिंतवन करना। (१२) धर्म भावना—दशलक्षणरूप, दयारूप अथवा शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र—रत्नत्रयस्वरूप धर्म, जो जिनदेवने कहा है उसकी प्राप्तिके बिना जीव अनादि कालसे संसारमें भ्रमण कर रहा है उसके प्राप्त होनेसे ही यह सांसारिक अभ्युदयको भोगता हुआ मोक्षको प्राप्त हो सकता है। ऐसा चिंतवन करना इस प्रकार चिंतवन करनेसे जीवका धर्ममें सदा अनुराग रहता है।

बाईस परीषहजय—असाता वेदनीय आदि कर्मजनित अनेक दुःखोंके कारण प्राप्त होनेपर भी खिन्न न होना तथा उन्हें पूर्व संचित कर्मोंका फल जान निर्जराके निमित्त समता (शांति) भाव पूर्वक सहना सो परीषहजय है। ये बाईस भेदरूप है। यथा—(१) 'क्षुधा परिषह'—भूखकी वेदनाको शांति पूर्वक खेद-रहित सहन करना। (२) 'तृषा

परीषह'—प्यासकी वेदनाको शांतिपूर्वक खेद-रहित सहना। (३) 'शीत परीषह' शीतकी वेदनाको शांतिपूर्वक खेदरहित सहना। (४) 'उष्ण परीषह'—गर्मीकी बाधाको शांतिपूर्वक खेदरहित सहना। (५) 'दंशमशक परीषह'—डांस (दंश) मच्छर (मशक) आदि अनेक जीव-जन्तुओंजनित दुःखोंको शांति पूर्वक, खेदरहित सहना। (६) 'नग्न परीषह'—उपस्थ (काम) इन्द्रियको वश करना और वस्त्रके सर्वथा त्याग करनेसे उत्पन्न हुई नग्नरूप लोक-लाजको जीतना। (७) 'अरति परीषह'—द्वेषके कारण आनेपर खेदरहित शान्तचित रहना। (८) 'स्त्री परीषह'—स्त्रियोंमें वा काम-विकारमें चित्त नहीं जाने देना। (९) 'चर्यापरीषह'—ईर्यापथ शोधते अर्थात् चार हाथप्रमाण भूमिको निर्जन्तु देखते हुए पांव पैदल चलते खेद न मानना। (१०) 'निषद्यापरीषह'—उपसर्गके कारण आनेपर खेद न मानना तथा उपसर्गके* दूर न होने तक वहांसे नहीं हटना, वहीं संयमरूप स्थिर रहना। (११) 'शयन परीषह'—रात्रिको कठोर, कंकरीली भूमिपर खेद न मानते हुए एक आसनसे अल्प निद्रा लेना। (१२) 'आक्रोश परीषह'—क्रोधके कारण आनेपर या वचन सुननेपर क्षमा तथा शान्ति ग्रहण करना। (१३) 'बध-बंधन परीषह'—कोई आपको मारे अथवा बंधे तो खेद न मानते हुए

*सिंह, बाघ, चोर, दुष्ट, वैरीकृत आक्रमण या बाधा होना।

शान्ति पूर्वक सहन करना। (१४) 'याचना परीषह'—औषधि, भोजन, पान आदि किसीसे नहीं माँगना। (१५) 'अलाभपरीषह'—भोजनादिकका अलाभ होते हुए उससे कर्मकी निर्जरा होती जान शांत भाव धारण करना, खेद न मानना। (१६) 'रोगपरीषह'—शरीरमें किसी भी प्रकारका रोग आनेपर कायर न होना, खेद न मानना, शांत भाव पूर्वक सहना। (१७) 'तृणस्पर्श परीषह'—पांवमें कठिन कंकरों या नुकीले तृणोंके चुभनेपर भी उसकी वेदनाको खेदरहित, शांत भाव सहित सहना तथा पांवमें काँटा या शरीरके किसी अंगमें फांस आदि लग जाय तो अपने हाथसे न निकालना, और तज्जनित वेदनाको शांत भावपूर्वक सहन करना; यदि कोई अपनी बिना प्रेरणाके निकाल डाले तो हर्ष नहीं मानना। (१८) 'मलपरीषह'—शरीरपर धूल आदि लगनेसे उत्पन्न हुआ जो ग्लानिका कारण मल, पसेव आदि, उसे दूर करनेको स्नानादि संस्कार नहीं करना, धूल नहीं छुड़ाना, शरीर नहीं पोंछना' न उसके कारण चित्तमें खेदित होना (यहांपर मल-त्याग सम्बन्धी अपवित्रता दूर करनेका निषेध न जानना)। (१९) 'सत्कार पुरस्कार परीषह'—आप आदर सत्कारके योग्य होते हुए भी कोई आदर सत्कार न करे तथा निन्दा करे तो मनमें खिन्न न होना। (२०) 'प्रज्ञा परीषह'—विशेष ज्ञान होते हुए भी उसका अभिमान न करना। (२१)

अज्ञानपरीषह—बहुत तपश्चरणादि करते हुए भी आपको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, तथा अन्यको थोड़े तपश्चरणादिसे ज्ञानकी प्राप्ति होती देख, खेद नहीं करना। (२२) अदर्शन परीषह—ऐसा सुना है तथा शास्त्रोंमें भी कहा हुआ है कि तप बलसे अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं, मुझे दीर्घ काल कठिन कठिन तप करते हो गया परन्तु अभीतक कोई ऋद्धि उत्पन्न नहीं हुई सो यह उपर्युक्त वार्ता कदाचित् असत्य तो नहीं है ? ऐसा संशय न करना।

तेरह प्रकार चारित्र–पहले, पंचाचार–यथा—(१) दर्शनाचार—तत्त्वार्थमें परमार्थरूप श्रद्धानकी प्रवृत्ति करना। (२) ज्ञानाचार—ज्ञानका प्रकाश करना, अर्थात् ज्ञान बढ़ानेके लिये शास्त्रोंका अध्ययन करना। (३) चारित्राचार—पाप क्रियाओंकी निवृत्ति अर्थात् प्राणिवधका परिहार करना। (४) तपाचार—कर्मोंके नाश करनेवाले काय-क्लेश, प्रायश्चित्तादि तप करना। (५) वीर्याचार—अपनी शक्तिको न छिपाते हुए शुभ तथा शुद्ध क्रियाओंमें शक्ति भर उत्साह पूर्वक प्रवृत्ति करना*। दूसरे पंचसमिति—यथा—(१) ईर्यासमिति चार हाथ प्रमाण निर्जन्तु पृथ्वी निरखते हुए तथा इधर-उधर न देखते हुए गमन करना। (२) भाषासमिति—अपने तथा दूसरोंके प्रति हितरूप तथा मितरूप वचन बोलना।

*किसी किसी ग्रन्थमें पंचाचारकी जगह पंच महाव्रत कहे गए हैं।

(३) एषणासमिति—४६ दोष बत्तीस अन्तराय, १४ मल दोष टाल कर शुद्ध आहार लेना। (४) आदाननिक्षेपण-समिति—शास्त्र, पीछी, कमंडलादि धर्मोपकरणोंको देख-शोधकर उठाना, रखना। (५) प्रतिष्ठापनासमिति—मल, मूत्र, कफादि शरीरके मल प्राशुक एवं शुद्ध भूमिमें क्षेपण करना। तीसरे त्रिगुप्ति—यथा—मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको रोकना सो क्रमशः मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त आस्रवके ५७ कारणोंको, संवरके ५७ कारणोंद्वारा रोकनेसे शुभाशुभ कर्मोंका आना नहीं होता।

[६—निर्जरा तत्त्व-वर्णन]

पूर्वसंचित कर्मोंका एकदेश (कुछ अंश) क्षय होना निर्जरा—कहलाती है। यह दो प्रकारकी है। (१) सविपाक-निर्जरा—जिससे कर्म उदय कालमें रस (फल) देकर नष्ट हों, ऐसी निर्जरा सम्पूर्ण संसारी जीवोंके सदा काल होती रहती है। यह मोक्षमार्गमें कार्यकारी नहीं होती, क्योंकि इससे नवीन कर्मबंध होता है। (२) अविपाकनिर्जरा—परिणामोंकी निर्मलतासे अर्थात् इच्छाओंको रोक चित्तको रागद्वेषरहित करके ध्यान करनेसे व तप करनेसे पूर्वसंचित (सत्तास्थित) (क्षय) हो जाना। यह अविपाक निर्जरा है, यह मोक्षमार्गमें कार्य-कारी है, क्योंकि यह संवरपूर्वक होती है अर्थात् इसमें नवीन कर्मोंका बंध नहीं होता।

[७ मोक्ष-तत्व वर्णन]

सर्वकर्मोंके सर्वथा नाश होनेसे आत्माके स्वभाव-भावका प्रकट हो जाना अर्थात् भावकर्म (रागद्वेष) द्रव्य कर्म (ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों) तथा नोकर्म (औदारिक आदि शरीरों) से रहित होकर अपने अनन्तज्ञान-अनन्तदर्शनादि आत्मीक गुणोंको प्राप्त होना और सदाके लिये जन्म-जरा मृत्युरहित निर्वन्ध अवस्थाको प्राप्तहो जाना सो मोक्ष है।

इन उपर्युक्त सप्त तत्वोंको नीचे लिखे अनुसार चिंतवन करनेसे मिथ्यात्व मन्द पड़ता है और सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी संभावना हो जाती है। यथा—(१) जीवतत्व—जो दर्शन-ज्ञानमय चेतनास्वरूप है सो मैं आत्माराम हूँ, मेरा स्वभाव देखना-जाननामात्र है, परन्तु अनादिकालसे कर्मसम्बन्धके कारण रागद्वेषमय, आत्मीक तुच्छ शक्तियोंसे युक्त मनुष्य पर्यायरूप हो रहा हूँ। (२) अजीवतत्व—सामान्यरूपसे पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल अचेतन—जड़ हैं, मैं आत्मा अजीव नहीं हूं, मेरा स्वभाव ठीक इनसे विपरीत—चैतन्यरूप है। (३) आस्रवतत्व—यह तत्व जीव-पुद्गल संयोगजन्य है उसमें राग, द्वेष, मोहरूप जीवके भाव भावास्रव हैं तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंके योग्य पुद्गलवर्गणाओंका आना सो द्रव्य आस्रव है, ये दोनों मेरे चैतन्य स्वरूपसे पृथक त्यागने योग्य हैं। (४) बंधतत्व—मैं जो रागद्वेष-मोहभावरूप परणमता

हूं सो मेरा चेतन-आत्मा इनसे बंधता है यह भावबंध है और ज्ञानावरणादि आठ प्रकार पुद्गल-कर्मोंका प्रकृति, प्रदेश, अनुभागयुक्त आत्मासे एकक्षेत्रावगाहरूप होना सो द्रव्य बंध है। यह बंधतत्त्व आत्माका विभाव, संसार—चतुर्गतिभ्रमणका कारण त्यागने योग्य है। (५) संवरतत्व—आत्माका राग द्वेष-मोह भावरूप न होना, ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्य भावमें स्थिर रहना सो संवर, आत्माका भाव है, उपादेय है, इससे नूतन कर्मोंका आस्रव-बंध रुक जाता है जिससे आगामी कर्मपरिपाटीका उच्छेद हो जाता है। (६) निर्जरातत्व-- पूर्वसंचित कर्मोंके उदय या उदीरणासे जो सुख-दुख वर्तमानमें उपस्थित होते हैं उन्हें जो साम्यभावपूर्वक सहन करनेसे राग-द्वेष भावरूपपरिणति मन्द पड़ें तथा प्राचीन कर्म रस-रहित होकर झड़ते जायें, आत्मा निर्मल होती जाय, यह निर्जरा तत्त्व है, उपादेय है। (७) मोक्षतत्त्व—घाति-कर्मोंका अभाव होकर आत्माका-अनन्त चतुष्टय–स्वाभाव प्राप्त होना सो भाव-मोक्ष और आत्माकी निष्कर्म निर्मल अवस्था होजाना सो द्रव्यमोक्ष है। यह मोक्ष-तत्त्व आत्माका स्वभाव है। भावार्थ—आत्माके स्वभाव विभावोंका चिन्तवन करनेसे संवर-निर्जरापूर्वक मोक्ष होता है।

इसी प्रकार अन्य पदार्थ जो दृष्टिगोचर हों, उनमें इस प्रकार तत्त्वोंका चिन्तवन करे। यथा स्त्री दिखाई दे, तब ऐसा

विचारे, यह स्त्री जीवनामक तत्त्वकी विभावपर्याय है। इसका शरीर पुद्गलका पिण्ड है। यह जो हाव-भाव चेष्टा करती सो आस्रव तत्व है। इसकी आत्माकी मलिनता इसके आस्रव तथा बंधका कारण है। यदि इसको देख मेरे विकार भाव हों तो मेरे भी कर्मोंका आस्रव बंध हो। यदि दोनोंके भाव निर्मल रहें और सर्व पदार्थोंमें रागद्वेषरहित प्रवृत्ति हों, आत्मस्वरूपमें स्थिरता हो, तो संवर-निर्जरापूर्वक मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है।

प्रगट रहे कि जहाँ तहाँ शास्त्रोंमें उपर्युक्त सप्त तत्त्वोंके साथ पुण्य-पापको मिलाकर नव पदार्थोंका वर्णन किया गया है। यद्यपि पुण्य-पाप, आस्रवके ही भेद हैं, अर्थात् शुभास्रव पुण्यरूप और अशुभास्रव पापरूप है, तथापि आचार्योंने व्यवहारी-मन्दबुद्धि जीवोंको स्पष्टरूपसे समझानेके लिए पुण्य-पापको पृथक्रीतिसे वर्णन किया है। यहांपर जो आस्रवके ५७ भेद कहे गये हैं, उनमें ५मिथ्यात्व और १२ अविरति तो पापास्रवके ही कारण हैं और कषाय तथा योगों-की जब शुभरूप प्रवृत्ति होती है तब पुण्यास्रव होता है और अशुभ रूप प्रवृत्ति होती है तब पापास्रव होता है।

[सम्यक्त्वका स्वरूप]

इस प्रकार ऊपर कहे हुए द्रव्यों तथा तत्त्वोंका स्वरूप भली भांति जानकर उनपर दृढ़ विश्वास करना ही सम्यग्दर्शन,

सम्यक्त्व या श्रद्धान कहाता है। यह श्रद्धान धर्मरूप वृक्षकी जड़, यथार्थमें तत्त्वज्ञानपूर्वक आत्मधर्ममें श्रद्धा-रुचि, प्रतीति-रूप है। आप्त, आगम, पदार्थादिका श्रद्धान निश्चय सम्यक्त्व-का कारण है इसलिए व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है और आत्मश्रद्धान कार्यरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है जो आत्माका स्व-भाव है। इसके उत्पन्न होनेपर उपाधिरहित शुद्धजीवकी साक्षात् अनुभूति (स्वानुभवगोचरता) होती है। यह अनु-भव अनादिकालसे मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) कर्मके उदयसे विपरीत रहता है। प्रकट रहे कि अनादि मिथ्यादृष्टि* जीवके दर्शन मोहकी एक मिथ्यात्व प्रकृतिकी ही सत्ता होती है। जब जीवका पहिले ही पहिल तत्त्व श्रद्धान होनेसे उपशमसम्यक्त्व होता है तो उस समय मिथ्यात्वकी उदयरहित अवस्थामें पार-णामोंकी निर्मलतासे उस सत्तास्थित मिथ्यात्व प्रकृतिका द्रव्य शक्तिहीन होकर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्या-त्व इन तीनरूप हो जाता है। इसके सिवाय अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभकी चार प्रकृतियाँ भी इस मिथ्यादर्शनकी सहकारिणी हैं। इसी कारण अनादिमिथ्यादृष्टिके ४ अनन्ता-नुबंधी १ मिथ्यात्व और सादिमिथ्यादृष्टि* के ४ अनन्तानु-

*जिस जीवको अनादिकालसे कभी सम्यक्त्व (आत्माके स्वभाव विभावोंका श्रद्धान) नहीं हुआ उसे अनादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। और सम्यक्त्वी होकर पुनः आत्मश्रद्धानसे च्युत होकर मिथ्यात्वी हो जाता है उसे सादिमिथ्यादृष्टि कहते हैं।

बन्धी ३ मिथ्यात्वकी सत्ता होती है और इन्हीं पांच या सात प्रकृतियोंके उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें उपादानकारण परिणाम और बाह्यकारण सामान्यरूपसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी योग्यताका मिलना है। वहाँ द्रव्योंमें प्रधान द्रव्य तो साक्षात् तीर्थंकरके दर्शन-उपदेशादि हैं। क्षेत्रमें समवसरण, सिद्धक्षेत्रादि हैं। कालमें अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल संसार परिभ्रमणका शेष रहना है। भावमें अधःप्रवृत्तआदि करण (भाव) हैं। तथा विशेषकर अनेक हैं। यथा—किसीके अरहंतके बिम्बका दर्शन करना है, किसीके तीर्थ करके जन्मकल्याणआदिकी महिमा-का देखना है, किसीके जातिस्मरण (पूर्व जन्मकी बातोंकी स्मृति) है, किसीके वेदना (दुःख) का अनुभव है, किसी के धर्मश्रवण और किसीके देवादिककी ऋद्धिका देखना है। इत्यादि सहकारी अनेक कारण हैं। भव्य जीवको जब इन-में से कोई बाह्य कारण मिलता है तब सम्यक्त्वकी बाधक उपर्युक्त ५ या ७ प्रकृतियोंका उपशम (अंतर्मुहूर्त तक उदय आकर रस देनेके अयोग्य) होनेसे उपशम सम्यक्त्व हो जाता है। इस सम्यक्त्वकी जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। पश्चात् नीचे लिखी चार अवस्थाओंमेंसे कोई एक अवस्था अवश्य हो जाती है। अर्थात्—जो मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय आ जाय तो मिथ्यात्वी, अनन्तानुबन्धी किसी कषायका

उदय हो जाय तो सासादनसम्यग्दृष्टि, और जो मिश्रमोहनीय-का उदय हो जाय तो मिश्रसम्यक्त्वी हो जाता है, अर्थात् उसके सम्यक्त्व और मिथ्यात्वसे विलक्षण मिश्ररूप परिणाम हो जाते हैं, जैसे गुड़मिश्रित दहीका खट्टा-मीठारूप मिश्रित स्वाद होता है। कदाचित् किसी जीवके सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व-का उदय हो जाय तो क्षयोपशम या वेदक* सम्यक्त्व हो हो जाता है। इसकी जघन्यस्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति साधिक ६६ सागर है। यद्यपि क्षयोपशम सम्यक्त्वमें सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वके उदयसे किंचित् मल-दोष सम्यक्त्वके घातक न होनेसे सम्यक्त्व नहीं छूटता। जब जीवके सम्य-क्त्वकी विरोधिनी उपर्युक्त ७ प्रकृतियोंकी सत्ताका सर्वथा अभाव हो जाता है तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है इसकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति साधिक (कुछ अधिक) तेतीस सागर है। इस प्रकार उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकके भेदसे सम्यक्त्व ३ प्रकार है।

'पंचाध्यायी'में सम्यक्त्वको परमावधि, सर्वावधि तथा मनःपर्यय ज्ञानका विषय कहा है, सो दर्शनमोहकी कर्म

---

* सम्यक्त्वकी घातक सर्वघातिया (४ अनन्तानुबन्धी, मिथ्यात्व और मिश्र मिथ्यात्व), प्रकृतियोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा क्षयोपशम-सम्यक्त्व और सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्वके उदयकी अपेक्षा वेदक सम्यक्त्व कहलाता है।

प्रकृतिके उपशम, क्षयोपशम या क्षय (को जानने) की अपेक्षा जान पड़ता है। अन्य ग्रन्थोंमें यह भी कहा है कि सम्यक्त्व-के परिणाम (भाव) केवलज्ञानगम्य हैं सो सम्यक्त्व होनेपर आत्मामें जो निर्बलता उत्पन्न होती है उस भावकी अपेक्षा कहा हुआ जान पड़ता है। छद्मस्थ (अल्प-ज्ञानी)के प्रकट-रूपसे ज्ञानमें आनेके लिए परिणामोंके प्रकट होने योग्य चिह्नों-की परीक्षा करके सम्यक्त्वके जाननेका व्यवहार है यदि ऐसा न हो तो छद्मस्थ—व्यवहारी जीवके सम्यक्त्वसे होनेका निश्चय न होनेसे आस्तिक्यका अभाव ठहरे और व्यवहारका सर्वथा लोप हो जायगा। इसी कारण आप्त (सच्चे देव) के कहे हुए बाह्य चिह्नोंकी आगम (शास्त्र), अनुमान तथा स्वानुभवसे परीक्षा करके निश्चय करना योग्य है।

[सम्यक्त्वके चिह्न]

सम्यक्त्वका मुख्य चिह्न तो उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य स्व-रूप आत्माकी अनुभूति है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञानका विशेष है तथापि सम्यक्त्व होनेपर इस अनुभूतिसे स्वसंवेदन ज्ञानद्वारा इस प्रकार आस्वाद एवं अनुभव होता है—"यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूं तथा जो विकार है सो कर्मजनित भाव है मेरा स्वरूप नहीं।" इस प्रकार भेद ज्ञानपूर्वक ज्ञानका आस्वाद, ज्ञानकी तथा आत्माकी अनुभूति कहलाती है यह अनुभूति शुद्धनयका विषय, स्वानुभवगोचर और वचनअगोचर

है। यह अनुभूति ही सम्यक्त्वका मुख्य चिह्न है जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके अभावसे उत्पन्न होता है। इसके होनेसे प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्यादि गुण प्रकट होते हैं, इन गुणोंके आश्रयसे ही सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके जानने-का व्यवहार है। इस विषयमें अपनी परीक्षा तो अपने स्वसं-वेदन ज्ञान से होती है और दूसरोंकी उनके मन, वचन, काय-की चेष्टा एवं क्रियाद्वारा की जाती है।

जिस सम्यक्त्वके साथ प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य-युक्त राग-भाव होता है उसे सराग सम्यक्त्व कहते हैं। और जिसमें केवल चैतन्यमात्र आत्मस्वरूपकी विशुद्धता होती है उसे वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं। यद्यपि कषायोंकी मन्दता, संसारसे उदासीनता, धर्मानुराग, अहिंसारूप भाव, और तत्व-श्रद्धानकी दोनों सम्यक्त्वोंमें समानता है तथापि अहिंसामें जैसे वीतरागभाव और दयामें जैसे सरागभाव होते हैं वैसे ही सराग वीतराग सम्यक्त्वके भावोंमें अन्तर जानना। भावार्थ—वीतराग सम्यक्त्वमें आत्माश्रद्धान वीतरागता लिये उदासीनतारूप और सराग सम्यक्त्वमें रागभावादियुक्त अनुकम्पादिरूप होता है। ये सराग-वीतराग विशेषण सम्य-क्त्व चौथे गुणस्थानसे छठे गुणस्थान तक शुभोपयोगकी मुख्यता लिये होता है और वीतराग सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान-में शुद्धोपयोगकी मुख्यता लिये होता है। अब यहां इन चारों

चिन्होंका स्पष्ट स्वरूप कहते हैं।

प्रशम — मिथ्यादृष्टियोंमें तथा उनके वाह्यभेषोंमें सत्य-श्रद्धानका अभिमान, आत्माके अतिरिक्त शरीरादि पर्यायोंमें आत्मबुद्धिका अभिमान वा प्रीति, कुदेवादिकमें भक्ति, और अन्यायरूप विषय (सप्तव्यसनादि) सेवनमें रुचि ये सब बातें अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे होती हैं, परन्तु जिस जीवके प्रशमभाव उत्पन्न हुआ हो उसके ऐसे भाव नहीं होते अथवा जिस प्रकार अपना बुरा करनेवालोंके घात करनेका विचार मिथ्यादृष्टि करता है वैसा निन्द्यभाव सम्यग्दृष्टि नहीं करता। वह विचारता है कि मेरा भला बुरा जो कुछ हुआ है वह वास्तवमें मेरे शुभाशुभ परिणामोंद्वारा बंधेहुए पूर्वसंचित कर्मोंका फल है। ये अन्य पुरुष तो निमित्तमात्र हैं। ऐसे यथार्थ विचारोंके उत्पन्न होनेसे उस प्रशमवान् जीवकी कषाय मन्द रहती है अथवा अप्रत्याख्यानावरण कषायके उद-यवश न्यायपूर्वक विषयोंमें लोलुपता तथा गृहस्थीके आरम्भा-दिकमें प्रवृत्ति होती है सो भी बहुत विचारपूर्वक होती है। वह विवश इन कार्योंको करते हुए भी भला नहीं समझता, अपनी निन्दा-गर्हा करता रहता है। वह विचारता है कि कौन समय हो, जब इन जंजालोंसे दूर होकर इष्ट-सिद्धिके सन्मुख होऊं। ऐसी कषायोंकी मन्दताको प्रशम करते हैं। भावार्थ-जहां अनंतानुबंधी कषायकी चौकड़ी सम्बन्धी रागद्वेषका अभाव हो

जाता है, सो प्रशम है।

संवेग—धर्म तथा धर्मके फलमें अनुराग एवं परम उत्साहका उत्पन्न होना संवेग कहलाता है। इसको अभिलाषा या वांछा नहीं कह सकते, क्योंकि अभिलाषा या वांछा इन्द्रिय-विषयोंकी चाहको कहते हैं, सो वह यहां है नहीं, यहां तो केवल आत्म-हितरूप शुभ वांछा है। इसीमें संसार-शरीर भोगोंसे विरक्तिरूप निर्वेद भी गर्भित है, क्योंकि जब पंचपरि-वर्तनरूप संसारसे भयभीतपना होकर अपने आत्मस्वरूप धर्मकी प्राप्तिमें अनुराग होता है तभी अन्य सांसारिक विषयाभिलाषा-ओंसे तथा परद्रव्योंसे सच्ची विरागता होती है यही निर्वेद कहलाता है।

अनुकम्पा—अन्य प्राणियोंको दुखी देखकर दयावश दुखी होना, उनके दुख दूर करनेका शक्तिभर उपाय करना, न चले तो पश्चात्ताप करना और अपना बड़ा दुर्भाग्य मानना। इसप्रकार अनुकम्पा करनेसे अपने ताईं पुण्यकर्मका बन्ध होनेके कारण तथा कुछ अंशोंमें पापकर्मके बंधसे बचनेके कारण अपनी आत्मापर भी अनुकम्पा होती है।

आस्तिक्य—लोकमें (संसारमें) जो जीवादि पदार्थ हैं उनका भलीभांति बोध दो प्रकारसे होता है। एक तो हेतुवाद—नय-प्रमाणद्वारा। दूसरे सूक्ष्म (इन्द्रियोंके अगोचर जैसे—परमाणु) अन्तरित (कालसे अन्तरवाले जैसे—राम-रावण)

दूरवर्ती (देशकी अपेक्षा जैसे—मेरु) पदार्थोंका आगम प्रमाणसे। अतएव अपनी बुद्धिपूर्वक की हुई श्रद्धाको अथवा सर्वज्ञ वीतराग देव (केवली) ने सूक्ष्मादि पदार्थोंका जैसा निरूपण किया है यथार्थमें पदार्थोंका स्वरूप वैसा ही है, अन्यथा प्रकार नहीं, इसप्रकारकी श्रद्धाको आस्तिक्य कहते हैं।

कई ग्रन्थोंमें सम्यक्त्वके संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा इन ८ गुणोंका उत्पन्न होना कहा है। सो ये आठों गुण उपर्युक्त चारों-भावनाओंमें ही गर्भित हो जाते हैं। यथा—प्रशममें निन्दा-गर्हा, संवेगमें निर्वेद, वात्सल्य और भक्ति गर्भित हैं।

[सम्यक्त्वके अष्ट अङ्ग]

सम्यक्त्वके ८ अङ्ग होते हैं यथा—निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि; उपगूहन या उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। इनका स्पष्ट वर्णन लिखा जाता है :—

(१) निश्शंकित अंग—शङ्का नाम संशय तथा भयका है। इस लोकमें धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, पुद्गल परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, द्वीप, समुद्र, मेरु पर्वतादि अन्तरित पदार्थ हैं। इनका वर्णन जैसा सर्वज्ञ-वीतरागभाषित आगममें कहा गया है सो सत्य है या नहीं ? अथवा सर्वज्ञ देवने वस्तुका स्वरूप (अनेकान्तात्मक अनन्तधर्मसहित) कहा है सो

सत्य है कि असत्य ? ऐसी शङ्का उत्पन्न न होना सो निश्शङ्कित है, क्योंकि ऐसी शङ्का तो मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होती है।

पुनः मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे पर पदार्थोंमें आत्मबुद्धि उत्पन्न होती है। इसीको पर्यायबुद्धि कहते हैं अर्थात् कर्मोदयसे मिली हुई शरीरादि सामग्रीको ही जीव अपना स्वरूप समझ लेता है। इस अन्यथा बुद्धिसे ही सप्त प्रकारके भय उत्पन्न होते हैं। यथा—इहलोकभय, परलोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय और अकस्मात्भय। जब इनमेंसे किसी प्रकारका भय हो तो जानना चाहिये कि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे हुआ है। यहाँपर कोई शङ्का करे कि भय तो श्रावकों तथा मुनियोंके भी होता है, क्योंकि भयप्रकृतिका उदय अष्टम गुणस्थान तक है तो भयका अभाव सम्यक्त्वीके कैसे सम्भव हो सकता है।

उसका समाधान—सम्यग्दृष्टिके कर्मके उदयका स्वामीपना नहीं है और न वह पर द्रव्यद्वारा अपने द्रव्यत्वभावका नाश मानता है, पर्यायका स्वभाव विनाशीक जानता है। इसलिये चारित्रमोह सम्बन्धी भय होते हुए भी दर्शनमोह सम्बन्धी भयका तथा तत्त्वार्थश्रद्धानमें शङ्काका अभाव होनेसे वह निःशङ्क और निर्भय ही है। यद्यपि वर्तमान पीड़ा सहनेमें अशक्त होनेके कारण भयसे भागना आदि इलाज भी करता है तथापि तत्त्वार्थ

(यह मैटर ६३ पेज की ऊपर की ३ लाईनों के बाद पढ़ें।)

(२) निःकांक्षित अङ्ग—विषय-भोगोंकी अभिलाषाका नाम कांक्षा या वांछा है यह भोगाभिलाष मिथ्यात्वकर्मके उदय से होता है, इसके चिह्न ये हैं—पहिले भोगे हुए भोगोंकी वांछा, उन भोगों की मुख्य क्रियाकी वांछा, कर्म और कर्मके फलकी वांछा, मिथ्यादृष्टियोंको भोगोंकी प्राप्ति देखकर उनको अपने मनमें भले जानना अथवा इन्द्रियोंकी रुचिके विरुद्ध भोगोंमें उद्वेगरूप होना ये सब सांसारिक वांछाएँ हैं। जिस पुरुष के ये न हों सो निःकांक्षित अङ्ग-युक्त है। सम्यग्दृष्टि यद्यपि कर्मके उदयकी जबर्दस्तीसे इन्द्रियोंको वश करनेमें असमर्थ है इसलिए पंचइन्द्रियोंके विषय सेवन करता है तो भी उसको उनसे रुचि नहीं है। ज्ञानी पुरुष व्रतादि शुभाचरण करता हुआ भी उनके उदयजनित शुभ फलोंकी वांछा नहीं करता, यहाँ तक कि व्रतादि शुभाचरणोंको आत्म-स्वरूपके साधक जान आचरण करते हुए भी हेय जानता है।

(३) निर्विचिकित्सा अङ्ग—अपनेको उत्तम गुणयुक्त समझकर अपने ताईं श्रेष्ठ माननेसे दूसरेके प्रति जो तिरस्कार करनेकी बुद्धि उत्पन्न होती है उसे विचिकित्सा या ग्लानि कहते हैं। यह दोष मिथ्यात्वके उदयसे होता है। इसके बाह्य चिह्न ये हैं—जो कोई पुरुष पापके उदयसे दुःखी हो वा असाताके उदयसे ग्लान-शरीरयुक्त हो, उसमें ऐसी ग्लानि रूप बुद्धि करना कि "मैं सुन्दर रूपवान्, संपत्तिवान्,

बुद्धिमान् हूं, यह रंक-दीन, कुरूप मेरी बराबरीका नहीं।"
सम्यग्दृष्टिके ऐसे भाव कदापि नहीं होते, वह विचार करता है कि शुभाशुभ कर्मोंके उदयसे जीवोंकी अनेक—प्रकार विचित्र दशा होती है। कदाचित् मेरा भी अशुभ उदय आ जाय तो मेरी भी ऐसी ही दुर्दशा होना कोई असंभव नहीं है। इसलिये वह दूसरोंको हीन-बुद्धि से या ग्लान-दृष्टिसे नहीं देखता।

(४) अमूढ़दृष्टिअङ्ग—अतत्त्वमें तत्त्व श्रद्धान करनेकी बुद्धिको मूढदृष्टि कहते हैं। वह मिथ्यात्वके उदयसे होती है। जिनके यह मूढदृष्टि नहीं; वे अमूढदृष्टि अंग-युक्त सम्यग्दृष्टि हैं। इसके बाह्य चिह्न ये हैं—मिथ्यादृष्टियोंने पूर्वापर विवेक विना, गुण-दोषके विचार रहित अनेक पदार्थोंको धर्मरूप वर्णन किया हैं और उनके पूजनेसे लौकिक और पारमार्थिक कार्योंकी सिद्धि बताई है। अमूढदृष्टिका धारक इन सबको असत्य जानता और उनमें धर्मरूप बुद्धि नहीं करता तथा अनेक प्रकारकी लौकिक मूढताओंको निस्सार तथा खोटे फलों-की उत्पादक जानकर व्यर्थ समझता है, कुदेव, या अदेवमें देव बुद्धि, कुगुरु या अगुरु में गुरुबुद्धि, तथा इनके निमित्त हिंसा करनेमें धर्म मानना आदि मूढदृष्टिपनेको मिथ्यात्व समझ दूर ही से तजता है, यही सम्यक्त्वीका अमूढदृष्टिपना है।

यहां प्रसंग पाकर देव, गुरु, शास्त्र व पंचमरमेष्ठीका संक्षिप्त स्वरूप वर्णन किया जाता है—

श्रद्धानसे चिगनेरूप दर्शनमोह सम्बन्धी भयका लेश भी उसे उत्पन्न नहीं होता। अपने आत्मज्ञान-श्रद्धानमें निश्शङ्क रहता है।

[देव, गुरु, शास्त्र तथा पंचपरमेष्ठीका वर्णन]

देव—जिस किसी भी आत्मासे रागादि दोष और ज्ञानावरणादि आवरण सर्वथा नष्ट हो जाते हैं वह देव कहलाता है। यहाँ देव शब्दसे देवगति सम्बन्धी चार प्रकारके देव नहीं, किन्तु परमात्मा समझना चाहिये। देव सामान्य अपेक्षासे तो एक ही प्रकार है, परन्तु विशेष अपेक्षा अर्हत्, सिद्ध दो प्रकार हैं तथा गुणोंकी मुख्यता, गौणताकी अपेक्षा तथा नामादि भेदसे अनेक प्रकार हैं तो भी अर्हत्, सिद्ध ये प्रसिद्ध हैं। इनका स्वरूप इसप्रकार है—'अर्हत्' या अर्हत—जिस आत्माने गृहस्थावस्थाको छोड़कर मुनिपद धारणकर लिया हो और शुक्ल ध्यानके बलसे चार घातियाकर्मोंका नाश करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य (अनन्तचतुष्टय) की प्राप्ति कर ली हो और जो परम औदारिक शरीरमें रहकर भव्य-जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देता हो, उसे अर्हत् कहते हैं। अर्हत्में आन्तरिक अनन्तचतुष्टय गुणोंके सिवाय वाह्य ३४ अतिशय, अष्टप्रातिहार्य और भी होते हैं इस तरह वाह्य-आभ्यन्तर सब मिलकर ४६ गुण होते हैं। (२) सिद्ध—जो पौद्गलिक देहरहित परमात्मा लोकके शिखर

(अन्त) में स्थित हैं, अष्ट कर्मके अभावसे आत्मिक सम्यक्त्वादि अष्टगुणमण्डित हैं, जन्म, जरा, मरणसे रहित हैं, और अनन्त, अविनाशी आत्मिक सुखमें मग्न हैं वे सिद्ध कहलाते हैं। इन ही अर्हत् सिद्ध-परमात्माके गुणोंकी अपेक्षा अनेक नाम हैं यथा—अर्हंत—जिन, सिद्ध, परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, हरि, बुद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग, शंकर, त्रिलोकज्ञ आदि।

गुरु—जो सांसारिक विषय-कषायोंसे विरक्त होकर आरंभ परिग्रहको त्याग मोक्षसाधनमें तत्पर हों और स्वपर-कल्याणमें कटिबद्ध हों, वे गुरु कहलाते हैं। वास्तवमें ऐसे परम गुरु तो अर्हन्त देव ही हैं; क्योंकि उक्त सब गुण इनमें ही पूर्णताको प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त इनकी परिपाटीमें चलने वाले, छद्मस्थ, क्षायोपशमिक ज्ञानके धारक, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्राधारी भी गुरु हैं। क्योंकि इनके भी एकदेश रागादि दोषोंकी हीनता और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी शुद्धता पाई जाती है। यही शुद्धता, संवर-निर्जरा-मोक्षका कारण है। ये ही गुरु मोक्षमार्गके उपदेशक हैं। इस प्रकार सामान्यरीतिसे गुरु एक प्रकार है और विशेष रीतिसे पदके अनुसार आचार्य, उपाध्याय और साधु तीन भेदरूप हैं। इन तीनोंमें मुनिपनकी क्रिया, बाह्य निर्ग्रन्थ लिङ्ग, पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्तिका साधन, शक्तिअनुसार तप, साम्यभाव, मूलगुण

उत्तरगुण धारण, परीषह उपसर्ग सहन, आहार-विहार निहार की विधि, चर्या-आसन-शयनकी रीति, मोक्षमार्गके मुख्य, साधक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्रकी प्रवृत्ति, ध्यान,—ध्याता—ध्येयपना, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेयपना, चरित्र—आराधनाका आराधन, क्रोधादि कषायोंका जीतना आदि सामान्यरीत्या मुनियोंके आचरणकी समानतासे अभिन्नता है। केवल विशेषता यह है—(आचार्य) जो अवपीड़क, अवपरिश्रावी आदि अष्टमूलगुणयुक्त हों, स्वयं पंचाचार पालें और अपने संघके मुनि-समूहको पंचाचार (ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार, वीर्याचार) अंगीकार करावें। लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित दें और धर्मोपदेश—शिक्षा—दीक्षा दें। इस प्रकार साधुके २८ मूलगुणोंके सिवाय उत्तम क्षमादि दश धर्म, अनशनादि बारह तप दर्शनाचारादि पंचाचार, समता, वंदनादि षट् आवश्यक कर्म तथा त्रिगुप्ति-सहित ३६ गुण और भी आचार्योंमें होते हैं। (उपाध्याय) जो (वादित्व) (वादमें जीतनेकी शक्ति) (वाग्मित्व) (उपदेश देनेमें कुशलता) (कवित्व) (कविता करनेकी शक्ति) (गमकत्व) (टीका करनेकी शक्ति) इन चार गुणोंमें प्रवीण हों और द्वादशांगके पाठी हों। इनमें शास्त्राभ्यास करना, कराना, पढ़ना, पढ़ाना मुख्य है। इसलिये साधुओंके २८ मूलगुणोंके सिवाय ११ अंग १४ पूर्वका पाठीपना इस इस प्रकार २५ गुण और भी उपाध्यायमें होते हैं। (साधु-

रत्नत्रयात्मक आत्मस्वरूप साधनमें सदा तत्पर रहते और बाह्यमें शास्त्रोक्त दिगम्बर वेषधारी २८ मूलगुणोंके धारक होते हैं। ये तीनों प्रकारके साधु दयाके उपकरण पीछी, शौच के उपकरण कमंडलु और ज्ञानके उपकरण शास्त्रयुक्त होते हैं, और आगमोक्त ४६ दोष ३२ अन्तराय १४ मलदोष बचा कर शुद्ध आहार लेते हैं। ये ही मोक्षमार्गके साधक सच्चे साधु हैं और ये ही गुरु कहलाते हैं।

शास्त्र—जो सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी आप्त (अर्हंत) द्वारा कहे गये है, अर्थात् अर्हंत देवकी दिव्य-ध्वनिसे उत्पन्न हुए हों, जिनका वादी प्रतिवादियोंद्वारा खंडन न हो सके, जो प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंसे विरोध रहित हों; तत्वोपदेशके करनेवाले, सबके हितैषी और मिथ्या अंधकारके दूर करनेवाले हों, वे ही सच्चे शास्त्र (आगम) हैं। ऐसा नहीं, कि यह प्राकृतभाषामय हैं या संस्कृतभाषामय हैं अथवा बड़े आचार्योंके नामसे वेष्टित हैं इसलिये ये हमारे मान्य हैं, हम इन्हींके वाक्योंको मानेंगे; किन्तु वस्तुस्वरूपके निर्णय करनेमें अनेक आगमोंका अवलोकन, युक्तिका अवलंबन परम्परा या उपदेशक गुरु और स्वानुभव इन चारका भी आश्रय लेना चाहिये। इस प्रकार निर्णय करनेसे जो वस्तुस्वरूप निश्चित हो वही श्रद्धान करने योग्य है। क्योंकि इस घोर पंचमकालमें कषायभावसे कई पाखंडियोंमें शास्त्रोंमें महान २

आचार्योंसरीखे नामोंको रचयिताके स्थानपर लिखकर अन्यथा धर्म-विरुद्ध, विषय कषायपोषक रचनाएँ भी कर डाली हैं। इस प्रकार देव, गुरु, शास्त्रके वर्णनके भीतर पंचपरमेष्ठीका संक्षिप्त स्वरूप कहा गया है।

(५) उपगूहन अंग—इसको उपबृंहण भी कहते हैं। पवित्र जिनधर्ममें अज्ञानता अथवा अशक्ततासे उत्पन्न हुई निन्दाको योग्य रीतिसे दूर करना तथा अपने गुणोंको वा दूसरोंके दोषोंको ढांकना सो उपगूहन है, पुनः अपनी तथा अन्य जीवोंकी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-शक्तिका बढ़ाना, सो उपबृंहण है।

(६) स्थितिकरण अंग—आप स्वयं या अन्य पुरुष-कर्मके उदयवश ज्ञान, श्रद्धान, चारित्रसे डिगते या छूटते हों, तो अपनेको व उन्हें दृढ़ तथा स्थिर करना सो स्थितिकरण अंग है।

(७) वात्सल्य अंग—अर्हंत, सिद्ध, सिद्धांत, उनके बिम्ब, चैत्यालय, चतुर्विध संघ तथा शास्त्रोंमें अन्तःकरणसे अनुराग करना—भक्ति-सेवा करना, सो वात्सल्यअंग है। यह वात्सल्य वैसा ही होना चाहिये, जैसे स्वामीमें सेवककी अनुराग-पूर्वक भक्ति होती है या गायका बछड़ेमें उत्कट अनुराग होता है। यदि इनपर किसी प्रकारके उपसर्ग या संकट आदि आवें, तो अपनी शक्तिभर मेटनेका यत्न करना चाहिए, शक्ति

नहीं छिपाना चाहिए।

(८) **प्रभावना अंग**—जिस तरहसे बन सके, उस तरहसे अज्ञान अंधकारको दूर करके जिन शासनके महात्म्यको प्रकट करना प्रभावना है अथवा अपने आत्म-गुणोंको उद्योतरूप करना अर्थात् रत्नत्रयके तेजसे अपनी आत्माका प्रभाव बढ़ाना और पवित्र मोक्षदायक जिनधर्मको दान-तप विद्या आदिका अतिशय प्रगट करके तन, मन, धनद्वारा (जैसी अपनी योग्यता हो सब लोकमें प्रकाशित करना सो प्रभावना है इस प्रकार ऊपर कहे हुए आठ अंग जिस पुरुषके २५ मल दोषरहित प्रगट हों वह सम्यग्दृष्टि है।

[२५ मल-दोषोंका वर्णन]

अष्ट दोष—उपर्युक्त अष्ट अंगोंसे उल्टे (विरुद्ध) शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना ये अष्ट दोष मिथ्यात्वके उदयसे होते हैं। इसलिये सम्यक्त्वके अष्ट अंगोंका जो स्वरूप ऊपर कहा गया है उससे उल्टा दोषोंका स्वरूप जानना चाहिये। इन दोषोंको मन-वचन-कायसे त्यागनेसे सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है। यद्यपि जहाँ तहाँ इनको अतीचाररूप कहा है तथापि ये त्यागने ही योग्य है, क्योंकि जैसे अक्षरन्यून मंत्र कभी विषकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार अंगरहित सम्यक्त्व संसारभ्रमणको नहीं मिटा सकता। पुनः इनके होनेसे तीन मूढ़ता, षट्

अनायतन, अष्ट मद ये दोष उत्पन्न होते हैं और सम्यक्त्वको दूषित करके नष्ट कर देते हैं, अतएव ये अष्ट दोष त्यागने योग्य हैं।

तीन मूढ़ता (१) देव मूढ़ता—किसी प्रकारके वर (सांसारिक भोगों या पदार्थोंकी इच्छाकी पूर्ति)की वांक्षा करके रागी-द्वेपी देवोंकी उपासना करना, उन्हें पाषाणादिमें स्थापित करना, उनकी पूजनआदि करना देव मूढ़ता है। (२) गुरु मूढ़ता—परिग्रह, आरम्भ और हिंसादिदोषयुक्त पाखंडी-भोगियोंका आदर-सत्कार-पुरस्कार करना गुरुमूढ़ता है। (३) लोक मूढ़ता—जिस क्रियामें धर्म नहीं, उसमें अन्यमतियोंके उपदेश-से तथा स्वयमेव विना विचारे देखादेखी प्रवृत्ति करके धर्म मानना सो लोकमूढ़ता है। यथा सूर्यको अर्घ देना, गंगास्नान करना, देहली पूजना, सती (मृतक पतिके साथ चितापर जल जाना) होना आदि।

षट् अनायतन—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म (कुशास्त्र) तथा इनके सेवकोंको धर्मके स्थान समझ कर उनकी स्तुति-प्रशंसा करना सो षट् अनायतन है। क्योंकि ये छहों सर्वथा धर्मके ठिकाने नहीं हैं।

आठ मद—पूजा, (बढ़प्पन), कुल (पितापक्ष) जाति (मातापक्ष), बल, ऋद्धि (धन-सम्पत्ति) तप ज्ञान तथा अपने शरीरकी सुन्दरताका-रूपका मद करना और इनके अभिमान वश

धर्म-अधर्मका हित अहितका, कुछ भी विचार न करना आत्म-धर्म तथा आत्महितको भूल जाना। जिस तरह मद्य पीनेवाला मद्य पीकर बेसुध हो जाता है, उसी तरह इन आठ तरहके मदोंमें भूला हुआ आया धर्मकी ओरसे बेसुधहो जाता है।

इस प्रकार सम्यक्त्वकी निर्मलताके लिये उपयुक्त २५ मल दोषोंको सर्वथा त्याग करना ही योग्य है।

[पंचलब्धियोंका वर्णन]

सम्यक्त्व प्राप्तिके लिए नीचे लिखी हुई पांच बातोंकी प्राप्ति (लब्धि) होना आवश्यक है:—

(१) जीवको इस संसारमें भ्रमण करते हुए जब कभी पापकर्मका उदय मन्द तथा पुण्य प्रकृतियोंका उदय तीव्र होता है तब वह पंचेन्द्रियपना, मनुष्यपर्याय, उत्तम कुल, शारीरिक नीरोगता, दीर्घायु, इन्द्रियोंकी पूर्णता, कुटुम्बकी अनुकूलता, आजीविकाकी योग्यता आदि सामग्री पाकर कुछ सुखी और धर्मके सन्मुख होने योग्य हो सकता है। इस प्रकार की सामग्रीके प्राप्त होनेको 'क्षयोपशम' लब्धि कहते हैं।

(२) क्षयोपशम लब्धिद्वारा साता प्राप्त होनेपर जब कुछ मोह तथा कषाय मन्द होती है, तब वह जीव न्याय मार्ग तथा शुभकर्मोंमें रुचि करता हुआ धर्मको हितकारी जान उस की खोज करता है, सो विशुद्धिलब्धि' है।

(३) तत्वोंकी खोजमें प्रयत्नशील होनेपर पूर्ण भाग्योदय-

वश वीतराग-विज्ञानी-हितोपदेशी देव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा उनके द्वारा कथित शास्त्रोंका व उनके मार्गके श्रद्धानी सदाचारी विद्वानोंका समागम मिलना, पुनः उनके द्वारा धर्मका स्वरूप और सांसारिक दशाका सत्य स्वरूप प्रकट होना तथा उनके द्वारा प्राप्त हुए उपदेशके धारण करनेकी शक्तिका होना सो देशना लब्धि कहलाती है। इतना होनेपर वह जीव मनमें विचारने लगता है कि यथार्थमें ये ही देव, धर्म, गुरु और इनके मार्गमें प्रवर्तनेवाले अन्य सत्पुरुष हमको सुमार्ग बतलानेवाले-हमारे हितैषी हैं ये स्वयं संसारसागरसे पार होते हुए दूसरोंको भी पार करनेवाले हैं और जो रागी-द्वेषी देव, गुरु, धर्म, हैं वे पत्थरकी नावके समान स्वयं संसारमें डूबनेवाले और अपने आश्रित-जनोंको डुबोनेवाले हैं, वह इसका प्रत्यक्ष भी अनुभव करता है, कि हर एक मतमें जब नाममात्रके तत्वज्ञानी तथा संसारसे विरक्त पुरुष माने जाते हैं तो जो पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) और संसारसे अत्यन्त विरक्त एवं विरक्ति उत्पन्न करने (वीतरागी) देव, गुरु, धर्म हैं, वे सर्वोपरि आत्मकल्याणकारी और पूज्य क्यों न हों? तथा उनके कहे हुए तत्व हितकारी क्यों न हों? अवश्य ही हों। क्योंकि जिस तत्वोपदेशवार्तामें सर्वज्ञता-वीतरागता अर्थात् रागद्वेष रहितपना (क्रोध-मान-माया-लोभादि कषाय तथा इन्द्रियोंका विषय वासनासे राहित्य) होगा, वही उपदेष्टा सच्चा आप्त हो सकता है। उसीके वचन हितकारी

तथा मानने योग्य हैं। क्योंकि जो स्वतः जिस मार्गपर चल कर परम उत्कृष्ट स्थान (परमेष्ठीपने) को प्राप्त हुआ है, वही संसारी जीवोंको उस पवित्र मार्गका उपदेश देकर मुक्तिके सन्मुख कर सकता है। जिसमें उपर्युक्त गुण नहीं, किंतु राग-द्वेष और अल्पज्ञता है उसके वचन कदापि हितकारी आदरणीय नहीं हो सकते। सो यथार्थमें देखा जाय तो उपर्युक्त पूर्ण गुण भगवान् अर्हंतमें ही पाये जाते हैं, या एक देश उनके अनुयायी दिगम्बर आचार्यादिकोंमें होते हैं। जब ऐसा दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब वह विचारने लगता है कि मैं कौन हूं ? पुद्गल शरीरादिसे मेरा क्या सम्बन्ध है ? संसार (जन्ममरण) का कारण क्या है ? इसके छूटनेका क्या उपाय है ? कर्मबंधनसे छूटनेपर आत्मा किस हालतको प्राप्त होता है ? और इसके लिए मुझे क्या कर्तव्य करना चाहिये ?

(४) जब इस प्रकार आत्महितका विचार और ऊहापोह किया जाता है और काललब्धिकी निकटता होती है तब पूर्वमें बंध किये हुए सत्ता-स्थित कर्मोंकी स्थिति घटकर अंतः-कोटाकोटी सागर* की रह जाती है और नवीन बंधनेवाले कर्म भी ऐसी ही मध्यम स्थितिको लेकर बंधते हैं। ऐसी दशामें शुभ

---

* कोट (करोड़) सागरसे ऊपर कोटाकोटी (करोड़ × करोड़) सागरसे नीचे अर्थात् इन दोनोंके मध्यवर्ती कालको अंतः कोटाकोटी सागर कहते हैं।

(पुण्य) प्रकृतियोंका रस (अनुभाग) बढ़ने लगता है और पाप प्रकृतियोंका रस घटने लगता है। इस प्रकारकी योग्यता-की प्राप्ति 'प्रायोग्य लब्धि' कहलाती है।

(५) इन उपर्युक्त चार लब्धियोंके प्राप्त होनेपर जब जीव तत्वविचारमें संलग्न होता है और उसके परिणामोंमें अंतर्मुहूर्तके अनंतगुणी विशुद्धता होती है। तब इस विशुद्धता-रूप करणलब्धिके बलसे सम्यक्त्वकी घातक मिथ्यात्वप्रकृति अनंतानुबंधी चौकड़ी इन पांचों प्रकृतियोंका (अनादि मिथ्या-दृष्टिके पांच और सादि मिथ्यादृष्टिके सात) अंतर्मुहूर्तके लिये अंतःकरण पूर्वक उपशम (उदय न होना, सत्तामें स्थित रहना) हो जानेसे उपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। इस उपशम सम्यक्त्वके कालमें परिणामोंकी निर्मलताके कारण मिथ्यात्व प्रकृतिके द्रव्यका अनुभाग क्षीण होकर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व इन तीन रूप परि-णम जाता है। सम्यक्त्व होनेके पूर्व जो मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषाय अपनी तीव्र दशामें इस जीवको आत्म-हित करनेवाले तत्वोंके विचारोंके निकटवर्ती नहीं होने देते तथा मोक्षमार्गसे विमुख विचारोंमें उद्यम करते थे, उन्हींके उदयके अभावसे जीवका सम्यग्दर्शन गुण प्रकट हो जाता है, जिससे सच्चे देव, धर्म, गुरुपर, सात तत्वोंपर तथा आत्मतत्वपर पुरुषार्थी मुमुक्षुओंकी अटूट भक्ति तथा दृढ़ श्रद्धा

हो जाती है । प्रगट रहे कि जीवको प्रथम उपशम सम्यक्त्व ही होता है । पश्चात् उपशम सम्यक्त्वका काल (अंतर्मुहूर्त) पूर्ण होनेपर सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वके उदय होनेसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हो जाता है । पुनः जो जीव क्षयोपशम सम्यक्त्वकी दशामें ४ अनंतानुबंधी तथा तीन मिथ्यात्व इन सातोंका क्षय कर देता है उसके क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है, इनका विशेष वर्णन श्रीगोमदसारजीसे जानना ।

किसी जीवके तो पूर्व जन्मके तत्वविचारकी वासनासे वर्तमान में परोपदेशके बिना निसर्गज सम्यक्त्व (स्वतः) ही उत्पन्न होता है तथा किसीके वर्तमान पर्यायमें उपदेश पाकर तत्व-विचार करनेसे अधिगमज सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । पहिले कह ही चुके हैं कि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिको बाह्य कारण देव, गुरु, शास्त्रका समागम, उपदेशकी प्राप्ति, विभवका देखना, वेदना—तकलीफका अनुभव आदि है । तहां नरकमें यद्यपि देव; गुरु, शास्त्रका समागम नहीं हैं, तो भी तीसरे नरक तक तो स्वर्गवासी देव जाकर, उपदेश देकर सम्यक्त्व ग्रहण करा सकते हैं, तथा नीचेके नरकोंमें वेदनाजनित दुःखोंके अनुभव-से सम्यक्त्व हो सकता है । देवोंमें देवदर्शन, गुरु उपदेशादि बन ही रहा है । मनुष्यों, तिर्यंचोंमें देव, गुरु, शास्त्रका समागम तथा पूर्वभवस्मरण भी सम्यक्त्वका कारण होता है । इससे स्पष्ट होता है कि चारों गतिके सैनी पर्याप्त भव्यजीवोंको जागृत

अवस्थामें सम्यक्त्व हो सकता है। तिसपर भी मुख्यतया मनुष्य पर्यायमें जितनी अधिक योग्यता सम्यक्त्व तथा चारित्र प्राप्तिकी है—उतनी और पर्यायोंमें नहीं। मनुष्य पर्याय ही एक ऐसी अमूल्य नौका है जिसपर चढ़कर जीव संसार सागर-से पार हो मुक्तिपुरीमें पहुँच सकता है। फिर भी अन्य पर्यायों-में जो थोड़ा सा कारण पाकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है सो भी पूर्वकालमें मनुष्य पर्यायमें तत्वोंकी भलीभाँति ऊहापोह (छानबीन) करनेका फल है। इस प्रकार दृढ़ विश्वास (सम्यक्त्व) के प्राप्त होनेपर ही चारित्रका धारण करना कार्यकारी हो सकता है। अन्यथा बिना उद्देश्योंके समझे-बूझे व्रतादि धारण करना अंधेकी दौड़के समान व्यर्थ अथवा अल्प (निरतिशय) पुण्यबंधका कारण होता है। देखो सम्यक्त्वकी महिमा, जिसके प्रभावसे सम्यग्दृष्टि गृहस्थको द्रव्यलिंगी मुनिसे भी श्रेष्ठ कहा है, क्योंकि यद्यपि द्रव्यलिंगी मुनि चारित्र पालन करता है तो भी सम्यक्त्वरहित होनेसे मोक्षमार्गी नहीं है और गृहस्थ चारित्ररहित है तो भी सम्य-क्त्वसहित होनेसे मोक्षमार्गी है। सम्यक्त्व होनेपर देवायुके सिवाय नरक, तिर्यंच मनुष्य आयुका बंध नहीं होता, यदि सम्यक्त्व होनेके पूर्व नरकायुका बंध हो गया हो, तो सम्यक्त्व-सहित प्रथम नरक तक अथवा सम्यक्त्व छूटकर तीसरे नरक तक जाता है, नीचे नहीं जाता। यदि तिर्यंच या मनुष्यायुका

बंध हो गया हो तो सम्यक्त्व होनेपर भोग-भूमिका मनुष्य या तिर्यंच होता है। सम्यक्त्वी जीव भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषीदेव, स्त्रीपर्याय, स्थावर, विकलत्रय तथा पशुपर्यायमें नहीं जाता; किन्तु सम्यक्त्वके प्रभावसे जब तक निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति न हो, तबतक इन्द्र, चक्रवर्ती, मंडलीक राजा, तीर्थंकर आदि महान् अभ्युदययुक्त पद पाता हुआ अल्पकालमें ही मोक्ष जाता है।

उपसंहार—इस क्षेत्रमें इस घोर पंचमकालमें साक्षात् पंच परमेष्ठीका समागम मिलना दुर्लभ है। इससे उनके रचित जैनागम तथा उस पवित्र मार्गके अनुसार प्रवर्तनेवाले सम्यक्त्वी वा एकदेशचारित्रके धारक विद्वानोंके समागमद्वारा तत्वार्थश्रद्धानपूर्वक आत्मश्रद्धान करना तथा इससे शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा—इन पांच अतीचारोंको त्याग सम्यक्त्वको निर्दोष करना चाहिये; क्योंकि सम्यक्त्वरूपी दृढ़ नींवके बिना चारित्ररूपी महल नहीं बनसकता, इसी कारण आचार्योंने कहा है कि "सम्मं धम्मो मूलो" सम्यक्त्व धर्मकी जड़ है। इसके प्राप्त होते ही कुज्ञान, सुज्ञान और कुचारित्र सुचारित्र हो जाता है। भावार्थ–सम्यक्त्व होनेसे ही कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान होकर आत्महितके मार्गमें यथार्थ प्रवृत्ति होती है। सम्यक्त्व होनेपर ही चारित्रमोहके अभावके लिये संयम धारण करनेसे आत्मस्वभाव (धर्म) की उत्पत्ति

अर्थात् कषायादि विभाव भावोंका अभाव होकर शुद्ध चैतन्य भाव प्रकट होता है।

[सम्यक्ज्ञान-प्रकरण]

दोहा—निश्चय आत्मज्ञान पुनि, साधन आगम-शोध।
सम्यग्दर्शन पूर्व जिहि, सम्यग्ज्ञान विशोध ॥१॥

आत्मामें अनंत स्वभाव तथा शक्तियां हैं। पर सबमें ज्ञान मुख्य है; क्योंकि इसी प्रसिद्ध लक्षणद्वारा आत्माका बोध होता है तथा आत्मा इसीके द्वारा प्रवृत्ति करता है। यद्यपि संसारी अशुद्ध आत्माका ज्ञान अनादिकालसे ज्ञानावरण कर्मसे आवृत्त (ढँका) हो रहा है तो भी सर्वथा ढँका नहीं गया, थोड़ा बहुत सदा खुला ही रहता है; क्योंकि गुणका सर्वथा अभाव कभी होता नहीं। जैसा २ ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम घटता बढ़ता, वैसा २ ज्ञान घटता बढ़ता रहता है। जब तक दर्शन मोहनीय कर्मका उदय रहता है, तबतक ज्ञान कुज्ञानरूप परिणमता है। जब आत्मा तथा पुद्गलकर्मका भेद-विज्ञान हो जाता और मोहके उदयका अभाव होने या मंद पड़नेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है तब वही ज्ञान सुज्ञान हो जाता है। प्रगट रहे कि यद्यपि आत्माका यह ज्ञान गुण अखंडित चैतन्यरूप एक ही प्रकार है, तथापि अनादिकालसे ज्ञानावरण कर्मकी मतिज्ञानावरणी, श्रुतज्ञानावरणी, अवधि-ज्ञानावरणी, मनःपर्ययज्ञानावरणी, केवलज्ञानावरणी इन पांच

प्रकार कर्म प्रकृतियोंसे आवृत होनेके कारण यह ज्ञान खंड-खंड रूप हो रहा है इसी कारण ज्ञानके सामान्यतः ५ भेद हैं। मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें केवलज्ञान सिवाय शेष ४ ज्ञान तो अपने-अपने आवरणके हीनाधिक क्षयोपशमके अनुसार कम बढ़ होते हैं। सिर्फ केवल ज्ञान—केवलज्ञानावरणीके सर्वथा क्षय होनेपर ही उत्पन्न होता है। इन पांचों ज्ञानोंमेंसे मति-श्रुति-अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यारूप रहते हैं और तब मिथ्याज्ञान कहलाते हैं, सम्यक्त्व होनेपर सम्यक्रूप रहते हैं, उस समय सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं। विशेष यह भी है कि परमा विधि और सर्वा विधि ज्ञान सम्यक् ही होते हैं मिथ्या नहीं होते। इसी प्रकार मनः-पर्यय तथा केवलज्ञान भी सम्यक् ही होते हैं; क्योंकि इनकी उत्पत्ति सम्यग्दृष्टिके ही होती है। इन पांचों ज्ञानोंमें यद्यपि मति-श्रुत दोनों ज्ञान परोक्ष हैं, तथापि इन्द्रिय प्रत्यक्ष होनेसे मतिज्ञान सांव्यवहारिक—प्रत्यक्ष कहलाता है। अवधि, मनःपर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष होता है। प्रत्येक जीवके कम-से-कम मति-श्रुति ये दो ज्ञान प्रत्येक दशामें अवश्य ही रहते हैं।

अब इन पांचों ज्ञानोंका स्वरूप कहते हैं मतिज्ञान—मति-ज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके अनुसार इन्द्रियों और मनके द्वारा जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान कहाता है जैसे—

स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्शका जानना, रसना इन्द्रियसे रसका जानना, नासिका इन्द्रियसे गंधका बोध होना, चक्षु इन्द्रियसे रूपका बोध करना श्रोत्र इन्द्रियसे शब्द-श्रवणका अनुभव करना तथा मनकी सहायतासे किसी विषयकी स्मरण करना ये सब मतिज्ञानके रूप हैं। प्रत्यभिज्ञान, तर्क तथा अनुमान ये भी मतिज्ञान ही है। इस मतिज्ञानके पांचों इंद्रियों छठे मनके द्वारा बहु बहु-विधि आदि शेष पदार्थोंके अर्थावग्रह, व्यंजनावग्रह, ईहा; अवाय, धारणा होनेसे ३३६ भेद होते हैं।

श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके अनुसार मतिज्ञानद्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थोंके अवलम्बन-मे पदार्थोंसे पदार्थान्तरका जानना सो श्रुतज्ञान है। यह अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक दो प्रकारका होता है। जैसे स्पर्शनेन्द्रियद्वारा ठण्डा ज्ञान होनेपर 'ये मुझे अहितकारी है' ऐसा अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान होता है, इसकी प्रवृत्ति सैनी पंचेन्द्रियको मनकी सहायतासे स्पष्ट और एकेन्द्रियसे असैनी पंचेन्द्रिय तक मनके बिना आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाओं तथा मतिज्ञानकी सहायतापूर्वक यत्किंचित् सामान्य आभास मात्र होता है। पुनः 'घोड़ा' ये दो अक्षर पढ़कर या सुनकर घोड़ा पदार्थका जानना ऐसा अक्षरात्मक श्रुतज्ञान केवल सैनी पंचेन्द्रियोंके ही होता है। इसी कारण 'श्रुतिमनिन्द्रियस्य' ऐसा तत्वार्थशास्त्रमें कहा हुआ है। दोनो ज्ञानोंमें अक्षरात्मक श्रुत-

ज्ञान ही मुख्य है; क्योंकि सांसारिक लेन-देन, तथा पारमार्थिक मोक्षमार्ग सम्बन्धी संपूर्ण व्यवहार इसीके द्वारा होता है। यह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान, जघन्य एक अक्षरसे लेकर उत्कृष्ट अंग-पूर्व-प्रकीर्णकरूप जितना केवलज्ञानीकी दिव्यध्वनिके अनुसार श्रीगणधर देवने निरूपण किया है उतना है। इस श्रुतज्ञान का विषय केवल ज्ञानीकी नांई अमर्यादारूप है। अवधि मनः-र्ययज्ञानकी नाई मर्यादारूप नहीं है। रूपी-अरूपी सभी पदार्थ इसके विषय हैं। अन्तर यह है कि केवलज्ञान विशद् प्रत्यक्ष और श्रुतज्ञान अविशद्-परोक्ष है।

अवधिज्ञान—अवधि ज्ञानावरण, वीर्यान्तरायके क्षयोप-शमसे होता है; द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी मर्यादाको लिये हुये रूपी पदार्थोंको (इन्द्रिय-मनकी सहायताविना ही) आत्मा जिस ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष जाने, वह अवधिज्ञान कहलाता है। यह दो प्रकारका होता है। (१) 'भवप्रत्यय' जो देव, नारकी, छद्मस्थतीर्थंकरके सर्व आत्मप्रदेशोंमें अवधिज्ञानावरण, वीर्या-न्तरायके क्षयोपशमसे होता है, इन जीवोंके अवधिज्ञानका मुख्य कारण भव ही है और यह देशावधिरूप ही होता है। (२) गुणप्रत्यय—पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचके सम्यग्दर्शन तथा तप गुणसे नाभिसे ऊपर किसी अंगमें शंख-चक्र-कमल-वज्र-सांथिया-मत्स्य (मछली) कलश आदि चिन्हयुक्त आत्मप्रदेशोंमें अवधिज्ञानावरण, वीर्यान्तराय-

के क्षयोपशमसे होता है। यह देशावधि, परमावधि, सर्वावधि तीनोंरूप होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान अनुगामी-अननुगामी, अवस्थित-अनवस्थित, वर्धमान-हीयमानके भेदसे ६ प्रकारका होता है। जो अवधिज्ञान जीवके एक भवसे दूसरे भवमें साथ चला जाय सो भवानुगामी जो भवान्तरमें साथ न जाय सो भवाननुगामी है। जो अवधिज्ञान क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें जीवके साथ चला जाय सो क्षेत्रानुगामी है और जो क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें जीवके साथ न जाय सो क्षेत्राननुगामी है। जो अवधिज्ञान भव तथा क्षेत्रसे भवान्तर तथा क्षेत्रान्तरमें साथ जाय सो उभयानुगामी और जो भवान्तर तथा क्षेत्रान्तरमें साथ न जाय सो उभयाननुगामी है। जो अवधिज्ञान जैसा उपजै तैसा ही बना रहे सो अवस्थित और जो घटै-बढ़ै सो अनवस्थित। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होनेपर क्रमशः बढ़ता हुआ उत्कृष्ट हद तक चला जाय सो वर्धमान और जो क्रमशः घटकर नष्ट हो जाय सो हीयमान है।

अवधिज्ञानके सामान्यसे तीन भेद हैं। देशावधि, परमावधि, सर्वावधि। (१) देशावधि—इसका विषय तीनोंमें थोड़ा है, यह भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनोंरूप होता है तथा संयमी-असंयमी दोनोंके होता है। इसका उत्कृष्ट भेद मनुष्य-महाव्रतीके ही होता है। यह प्रतिपाती (छूट जानेवाला) व अप्रतिपाती (न छूटनेवाला) दोनों प्रकारका होता है। पर-

मावधि—मध्यम भेदरूप और सर्वावधि—एक उत्कृष्ट भेदरूप ही होता है। ये दोनों चरम-शरीरी तद्भवमोक्षगामीके ही होते हैं। देशावधि-परमावधि दोनोंके विषयभूत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके भेदोंकी अपेक्षा असंख्यात भेदरूप होते हैं और सर्वावधि केवल एक भेदरूप ही होता है।

मनःपर्ययज्ञान—मनःपर्यय ज्ञानावरण, और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे होते आंगोपाङ्ग नामकर्मके अवलम्बनसे परके मनके सम्बन्धसे, अवधिज्ञानद्वारा जानने योग्य द्रव्यके अनंतवें भाग सूक्ष्म रूपी पदार्थको, जिस ज्ञानके द्वारा आत्मा स्वतः प्रत्यक्ष जाने, सो मनःपर्ययज्ञान कहलाता है। इसका क्षयोपशम संयमी मुनियोंके ही मनके आत्म-प्रदेशोंमें (जहाँ मतिज्ञानावरण-का क्षयोपशम है) होता है। इसके दो भेद हैं।

(१) ऋजुमति—जो परके मनमें तिष्ठते, सरल मनद्वारा चिन्तवन किये हुये, सरल वचनद्वारा कहे हुये, सरल काय द्वारा किये हुये पदार्थको किसीके पूछे या विना पूछे ही जाने, जो इस पुरुषने ऐसा चितवन किया, ऐसा कहा, ऐसा काय-द्वारा किया, इस प्रकार आपके परके जीवित-मरण सुख दुःख, लाभ-अलाभको ऋजुमति मनःपर्यज्ञानी जान सकता है।

(२) विपुलमति—जो सरल वा वक्र मन, वचन, काय-द्वारा चिन्तित, अर्धचिन्तित, अचिन्तित ऐसे ही कहे हुये—किये हुये, पुनः कालान्तरमें विस्मरण हुए मनमें मौजूद पदार्थ-

को पूछे या विना पूछे ही जाने। इस प्रकार आपके वा परके जीवित मरण, सुख-दुख, लाभ-अलाभको विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानी जान सकता है।

केवलज्ञान—ज्ञानावरण, कर्मके सर्वथा क्षय होनेसे जो आत्माका स्वच्छ-स्वाभाविक ज्ञान प्रकट होता है सो केवलज्ञान है। यह आत्माके सर्व प्रदेशोंमें होता है, इसकी स्वच्छतामें लोकालोकके सम्पूर्ण रूपी-अरूपी पदार्थ अपनी भूत-भविष्यत्-वर्तमानकालिक अनंत पर्यायोंसहित युगपत् झलकते हैं। यह ज्ञान परमात्म-अवस्थामें होता है।

इन ज्ञानोंके विशेष भेद वा स्वरूपका वर्णन श्रीगोमट्टसार जीके ज्ञान-मार्गणाधिकारसे जानना चाहिए यहाँ प्रसङ्गवश दिग्दर्शनमात्र लिखा है।

सम्यग्दर्शनके विषयमें जितना कुछ कहा गया है वह ज्ञानका ही विषय है। यह सम्यग्दर्शन, जीव-अजीवादि तत्त्वार्थमें उन्मुखी बुद्धि (श्रद्धा) उनमें प्रीति (रुचि) और दृढ़ विश्वास (प्रतीति) होनेसे होता है। इस प्रकार निश्चय तत्त्वार्थ श्रद्धानके साथ ही शुद्धानुभूति होती है। सम्यग्ज्ञानमें संशय-विपर्यय अनध्यवसाय नहीं रहते, सो ही शास्त्रोंमें स्पष्ट कहा है कि 'जीवादि मोक्षमार्गके उपयोगी पदार्थोंको न्यूनता-अधिकता, विपरीतता अयथार्थता तथा सन्देहरहित—जैसाका तैसा जाननेवाला सम्यग्ज्ञान है।'

इस सम्यग्ज्ञानका मुख्य कारण श्रुतज्ञान है। विषयभेदसे इसके चार विभाग हैं, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग । इनमें आत्मज्ञानकी उत्पत्तिका कारणपना होनेसे इन्हें वेद भी कहते हैं । इन चारोंका स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) प्रथमानुयोग—इसमें मुख्यतया ६३ शालाकापुरुषोंका अर्थात् २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलभद्र, ९नारायण, ९ प्रतिनारायणका तथा इनके अंतर्गत और भी अनेक प्रधान पुरुषोंका चरित्र वर्णित है । तहां चरित्रके आश्रय पुण्य-पापरूप कार्य तथा उनके फलका वर्णन है। इसके अध्ययन करनेसे जीव पापोंसे हटकर पुण्यकी ओर झुकता और धर्मके सामान्य स्वरूपको जानकर विशेष जाननेका अभिलाषी होकर दूसरे २ अनुयोगोंका अभ्यास करता है। आरंभमें धर्मकसन्मुख करनेको उपयोगी होनेसे प्रथमानुयोग इसका सार्थक नाम है ।

(२) करणानुयोग—इसमें तीन लोकका अर्थात् ऊर्ध्वलोक (स्वर्गों) का, मध्यलोक (इस मनुष्यलोक) का, अधोलोक (नरकों) का विस्तारपूर्वक वर्णन है । तथा आत्मामें कर्मके मिश्रितपनेसे गति, लेश्या, कषाय, इन्द्रियाँ, योग वेदादिरूप कैसी २ विभाव अवस्थाएं होती और कर्मोंकी हीनाधिकतासे उनमें किस २ प्रकार अदल-बदल अथवा हानि-वृद्धि होती है, अथवा किस क्रमसे इनका अभाव होकर आत्मा निष्कर्म

अवस्थाको प्राप्त होता है ? इस तरह संवर निर्जरा और मोक्ष कर्मोंके भेद, बंध, उदय, सत्ता आदिका विस्तृत वर्णन है। इसका हरएक विषय गणितसे सम्बन्ध रखता है, इसलिये इसे करणानुयोग कहते हैं।

(३) चरणानुयोग—इसमें श्रावक (गृहस्थ) तथा मुनि (साधु) धर्मका वर्णन है। इसमें बताया गया है कि किस २ प्रकार पापोंके त्यागनेसे आत्म-परिणाम उज्ज्वल हो कर कर्मबंधका अभाव होता है और आत्मा शुद्ध अवस्थाको प्राप्त हो सकता है। आत्मामें कर्मोंके बंध होनेका कारण आत्माके मलीन भाव अर्थात् राग-द्वेप है और आत्माके कर्म-बंधसे छूटने [मुक्त होने] का कारण निर्मल भाव है, इस-लिये इस अनुयोगमें क्रमशः उज्ज्वल भाव होनेके लिये आचरण-विधि बताई गई है इसलिये इसे चरणानुयोग कहते हैं।

(४) द्रव्यानुयोग—इसमें जीवादि षट् द्रव्यों, सप्त तत्त्वों, नव पदार्थों और जीवके स्वभावों विभावोंका वर्णन है, जिससे जीवको वैभाविक-भावोंके त्यागने और स्वाभाविक भावों-को प्राप्त करनेकी रुचि उत्पन्न हो। इसमें द्रव्योंका वर्णन विशेषरूपसे होनेके कारण यह द्रव्यानुयोग कहलाता है।

सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके आठ अङ्ग हैं। [१] शब्दाचार—व्याकरणके अनुसार अक्षर-पद-वाक्योंका शुद्ध उच्चारण करना।

[२] अर्थाचार—शब्दके यथार्थ अर्थको अवधारण करना । [३] उभयाचार—शब्द और अर्थ दोनोंकी शुद्धता करना । [४] कालाचार—योग्य कालमें श्रुत-अध्ययन करना । गोसर्ग काल (दोपहरके दो घड़ी पहिले और प्रातःकालके २ घड़ी पीछे) प्रदोषकाल (दोपहर के दो घड़ी पीछे तथा संध्याके २ घड़ी पहिले अथवा संध्याके २ घड़ी पीछे और अर्धरात्रिके २ घड़ी पहिले) विरात्रि काल—(अर्ध रात्रिके २ घड़ी पीछे और प्रातःकालके २ घड़ी पहिले) इन कालोंके सिवाय दिग्दाह, उल्कापात, इन्द्रधनुप, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्पादि, उत्पातोंके समय सिद्धान्तग्रन्थों (अङ्गपूर्वों) का पठन-पाठन वर्जित है । स्तोत्र आराधना धर्म-कथादि ग्रन्थोंका पठन-पाठनवर्जित नहीं है । [५] विनयाचार—शुद्ध जलसे हस्त-पादादि प्रक्षालन कर शुद्ध स्थानमें पर्यंकासन बैठकर पूज्यबुद्धिपूर्वक नमस्कारयुक्त शास्त्र पठन-पाठन करना अथवा आप शास्त्रमर्मी होकर भी नम्ररूप रहना, उद्धतरूप न होना। [६] उपधानाचार—स्मरणसहित स्वाध्याय करना [७] बहुमानाचार—ज्ञान, पुस्तक, शिक्षक, विशेषज्ञानी इनका यथायोग्य आदर करना, ग्रन्थको लाते-लेजाते उठ खड़ा होना, पीठ नहीं देना, ग्रन्थको उच्चासनपर विराजमान करना, अध्ययन करते समय अन्य वार्तालाप न करना, अशुचि अंग, अशुचि वस्त्रादिक रहते स्पर्श न करना [८] अनिह्नवाचार—जिस

शास्त्र व जिस गुरुसे शास्त्र ज्ञान हुआ हो, उसका नाम न छिपाना, छोटे शास्त्र या अल्पज्ञानी शिक्षकका नाम लेनेसे मेरा महत्व घट जायगा, इस भयसे बड़े ग्रन्थ या बहुज्ञानी शिक्षकका नाम अपने नामके अर्थ असत्य ही न लेना; क्योंकि ऐसा करनेमें मायाचारका अति दोष होता है।

इस प्रकार भलीभांति रक्षापूर्वक सम्यग्ज्ञानके अङ्गोंके पालन करनेसे ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम विशेष होकर ज्ञान बढ़ता है। इसमें एक विशेषता यह भी है कि जितने अंशोंमें संसारकी आसक्ति घटती और चित्त स्थिर होता है, उतना ही अधिक और शीघ्र ज्ञान बढ़ता है, अतएव सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि के लिए सांसारिक स्थूल २ आकुलताओंका घटाना भी जरूरी है।

जबकि ज्ञानके बिना सांसारिक तथा पारमार्थिक कोई भी कार्य नहीं सधते, तो हरएक मनुष्यका कर्तव्य है कि सांसारिक प्रयोजनीय विद्याके साथ-साथ धर्मस्वरूप जाननेके लिये अपनी स्थितिके अनुसार धर्मशास्त्रोंका बोध होनेके योग्य संस्कृत प्राकृत तथा हिन्दी भाषा स्वयं पढ़े, अपने स्त्री, पुत्र, पुत्री आदिको पढ़ावे, धर्मशास्त्रोंके मर्म जाननेका प्रयत्न करे। अपनेसे विशेष विद्वानोंद्वारा धार्मिक तत्त्वों (गूढ़ विषयों) के स्वरूप को स्पष्ट करे; क्योंकि धर्मज्ञान के बिना आजीविका तथा कुटुम्बादि सम्बन्धी सर्व सांसारिक सुख व्यर्थ हैं; आत्महित धर्मज्ञानसे ही

होता है, अतएव हरएक स्त्री-पुरुष, पुत्र-पुत्रीको उचित है कि जिस प्रकार आजीविकाके निमित्त विद्याध्ययनमें परिश्रम करते हैं उसी प्रकार आत्मकल्याणके लिए उपर्युक्त सम्यग्ज्ञान के अष्ट अङ्गोंकी रक्षा करते हुए धार्मिक विद्या सीखें, क्योंकि नीतिका वाक्य है कि—

कला बहत्तर पुरुषकी, तामें दो सरदार।
एक जीव आजीविका, एक जीव उद्धार ॥१॥

उचित है कि इस प्रकार सामान्य तत्त्वज्ञानपूर्वक श्रद्धान होनेपर ज्ञानकी वृद्धि और परिणामोंकी निर्मलताके लिये सदा शास्त्राभ्यास करता रहे, जिससे पुण्यबन्ध होनेके साथ दिन २ पदार्थोंका विशेष बोध होता जाय।

[सम्यक्चारित्र]

निज स्वरूपमें रमणता, सम्यक्चारित धर्म।
व्यवहारै द्वै विधि कहो, श्रावक अरु मुनिधर्म ॥१॥

इस प्रकार ऊपर किये गए वर्णनके अनुसार मिथ्यात्वके अभाव होनेसे भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। साथ २ अनन्तानुबंधी कषायके अभाव-से स्वरूपाचरण चारित्रकी प्राप्ति होती है अर्थात् शुद्धात्मजनित निराकुल सच्चे सुखका अनुभव होने लगता है; परन्तु तो भी चारित्रमोहकी अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियोंके उदयसे आत्म-स्वरूपमें अमलता, अचलता नहीं होती। अतएव इसी दोषको

दूर करनेके लिए उन्हें अणुव्रतादिरूप संयम धारण करनेकी उत्कट इच्छा होती है। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि चारित्रमोहकी तीव्रतावश, अनिवार्य बाह्य कारणोंसे पराधीन हुए, चारित्र धारण नहीं कर सकते, तथापि अन्तरंगमें संसारसे विरक्त और मोक्षसे अनुरक्त रहते हैं। धर्म-मर्मी होजानेसे उन्हें पवित्र जैनधर्ममें तीव्र पक्ष हो जाता है। नियमपूर्वक एवं क्रमसे व्रत न होनेके कारण यद्यपि वे अविरत हैं तथापि उनके अनन्तानुबन्धीके साथ अप्रत्याख्यानावरणका जैसा तीव्र उदय मिथ्यात्व अवस्थामें था, वैसा तीव्र उदय अनन्तानुबंधी के अभाव होनेपर नहीं रहता, किन्तु मध्यमरूपसे रहता है जिससे अन्याय अभक्ष्यसेवनमें उनकी रुचि नहीं रहती और न वे निरर्गलपनसे हिंसामें प्रवृत्ति करते हैं। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा उत्पन्न हो जानेसे सप्तव्यसन-सेवनकी बात तो दूर ही रहे, इन्द्रियविषयजनित सुख उन्हें दुःखमय भासन लगते हैं।

भावार्थ—अंतरंगमें उन्हें आत्मसुख झलकने लगता है और विषयसुखोंसे घृणा हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि जीवको दृढ़ श्रद्धान हो जाता है कि मैं आत्मा शुद्ध चैतन्य शक्तियुक्त होता हुआ कर्मावरणके कारण क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शनरूप अनेकाकार हो रहा हूं, राग-द्वेषसे मलिन हो निजात्मस्वरूपको छोड़ अन्य पर-पदार्थोंमें रत हो रहा हूं, इसलिए कब चारित्र धारण कर राग-द्वेषका समूल

नाश करूं और निष्कर्म होकर निजस्वरूप में लीन हो शांत-दशा प्राप्त करूं। इस प्रकार स्वरूपाचरण चारित्रका अंश उत्पन्न होना ही सम्यग्दृष्टि-मोक्षमार्गीका असाधारण चिन्ह है। सो ही शास्त्रोंमें स्पष्ट कहा है—"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयकी एकता ही मोक्षमार्ग है। यदि सम्यग्दृष्टिके ये स्वरूपाचरण चारित्रका अंश उत्पन्न न हो तो वह मोक्षमार्गी नहीं ठहर सकता।

इस प्रकार संसारसे उदासीनता और आत्महितकी इच्छा उत्पन्न होते ही कोई विरल उत्तम जीव, जिनके चारित्रमोह-का मंद उदय हो, अप्रत्याख्यानावरण–प्रत्याख्यानावरण कषायकी चौकड़ीका उपशम हो गया हो, भव्यता निकट आ गई हो, जो दृढ़ संहननके धारक हों, वे एकाएक निर्ग्रंथ (मुनि) धर्म धारण कर आत्मस्वरूपका साधन करते हैं। जिन-के चारित्र मोहकी अल्प मंदता हुई हो, अप्रत्याख्यानावरणकी चौकड़ीका उपशम हुआ हो, जो हीन शक्तिके धारक हों, वे श्रावक-व्रतोंका अभ्यास करते हुए क्रमशः विषय-कषायोंको घटा कर पीछे मुनिव्रत धारण करते और मोक्षके पात्र बनते हैं, यही राजमार्ग है; क्योंकि विषय-कषाय घटाये बिना मुनिव्रत धार लेना अकार्यकारी स्वांगमात्र है। अतएव सम्यक्त्व होने-पर राग-द्वेष दूर करनेके लिये अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव-

की अनुकूलतानुसार चारित्र धारण करना चाहिये, और यह बात स्मरण रखना चाहिये कि आचार्योंने जहां-तहां चारित्र धारणका मूल-उद्देश्य विषय-कषायोंका घटाना बताया है अर्थात् जहां जिस प्रकारकी कषायके उत्पादक बाह्य हिंसादिपापोंका त्याग बताया है वहीं उसीके साथ २ उसी प्रकारकी कषायके उत्पादक और २ कारणोंका भी त्याग कराया है। अतएव प्रत्येक जिज्ञासु पुरुषको बहिरङ्ग कारणों और अन्तरङ्ग कार्यों-की ओर पूरी २ दृष्टि देकर चारित्र धारण करना चाहिये, तभी इष्ट प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है। अन्यथा केवल कुछ बाह्य कारणोंके छोड़ने और उसी प्रकारके अन्य बहुतसे कारणों-के न छोड़नेसे इष्ट साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रगट रहे कि चारित्र सकल अर्थात् महाव्रतरूप-साधु धर्म और विकल अर्थात् अणुव्रतरूप-गृहस्थधर्म दो प्रकारका होता है। यहां प्रथम ही गृहस्थधर्मका स्पष्ट और विस्तृत वर्णन किया जाता है; क्योंकि अल्पशक्तिके धारक पुरुषोंको गृहस्था-श्रममें रहकर श्रावक-व्रतोंके यथाक्रम ठीक २ रीतिसे अभ्यास करनेसे मुनिव्रत धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

यद्यपि प्रथमानुयोगके ग्रन्थोंमें सामान्य रीतिसे छोटी-मोटी प्रतिज्ञा लेनेवाले जैनी-गृहस्थको भी कई जगह श्रावक कहा है तथापि चरणानुयोगकी पद्धतिसे यथार्थमें पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक तीनोंकी ही श्रावक संज्ञा है क्योंकि श्रावकके अष्ट

मूलगुण धारण और सप्त व्यसनोंका त्याग ही हीनाधिकरूपसे इन तीनोंमें पाया जाता है। सो ही सागारधर्मामृतादि ग्रन्थोंमें स्पष्ट कहा है कि पंच उदुम्बरादि-त्यागकर पंचाणुव्रत-धारण और तीन मकारका त्याग श्रावकके अष्ट मूलगुण तथा अहिंसादि १२ व्रत उत्तरगुण हैं। इन्हीं १२ व्रतोंका विशेष श्रावक की ५३ क्रियायें हैं, इन क्रियाओंको धारण एवं पालन करने के कारण ही श्रावकोंको "त्रेपन क्रिया प्रति-पालक" विशेषण दिया जाता है। इन क्रियाओंकी शोधना क्रमशः प्रथमादि प्रतिमाओंमें होती हुई पूर्णता ग्यारहवीं प्रतिमामें होता है।

[श्रावक की ५३ क्रियाएँ]

गाथा—

गुण-वय-तव-सम-पडिमा, दाणं-जलगालणं च-अणत्थमियं ॥
दंसण-णाण-चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥१॥

अर्थ—८ मूलगुण, १२ व्रत, १२ तप, १ समता (कषायों की मन्दता) ११ प्रतिमा, ४ दान, १ जलगालन, १ रात्रिभोजन त्याग १ दर्शन, १ ज्ञान, और १ चारित्र ये श्रावककी ५३ क्रियाएं हैं।

अब पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक इन तीन प्रकारके श्रावकोंका पृथक् २ वर्णन किया जाता है।

[पाक्षिक श्रावक-वर्णन]

जिनको जैनधर्मके देव, गुरु, शास्त्रोंद्वारा आत्म-कल्याण-का स्वरूप वा मार्ग भली भांति ज्ञात तथा निश्चित होजानेसे

पवित्र जिनधर्मका तथा श्रावकधर्म (अहिंसादि) का पक्ष हो जाता, जिनके मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भावनायें दिन-दिन वृद्धिरूप होती जातीं, जो स्थूल त्रसहिंसाके त्यागी हैं, ऐसे चतुर्थ गुणस्थानी सम्यग्दृष्टि, पाक्षिकश्रावक कहलाते हैं । इन्हें व्रतादि प्रतिमाओंके धारण करनेके अभिलाषी होनेसे प्रारब्ध संज्ञा भी दी है । इनके सप्त व्यसनोंका त्याग तथा अष्ट मूलगुण-धारण, सातिचार होता है, ये जान-बूझकर अतीचार नहीं लगाते; किन्तु बचाने का प्रयत्न करते हैं, तो भी अप्रत्याख्यानावरण कषायसे उदयसे विवश अतीचार लगते हैं ।

पाक्षिक श्रावक आपत्ति आनेपर भी पंच परमेष्ठीके सिवाय चक्रेश्वरी, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि किसी देवी-देवताकी पूजा वंदना नहीं करता । रत्नकरण्डश्रावकाचारमें श्रीसमंतभद्र-स्वामीने भी सम्यग्दृष्टिको इनकी पूजन-वंदनका स्पष्टरूपसे निषेध किया है ।

(नोट) जिनधर्मके भक्त देवोंका साधारण रीतिपर साधर्मी जान यथोचित आदर-सत्कारपूर्वक यज्ञ (प्रतिष्ठा) आदि कार्योंमें उनके योग्य कार्यसंपादन करनेके लिए उनका सत्कार करनेसे सम्यक्त्वमें कोई हानि—बाधा नहीं आ सकती ।

अब यहाँ अष्ट मूलगुण और सप्त व्यसनका स्पष्ट वर्णन किया जाता है ।

[अष्ट मूलगुण]

कई ग्रन्थोंमें बड़, पीपल, गूलर (ऊमर), कठूमर, पाकर इन पंच उदुम्बर फलोंके (जिनमें प्रत्यक्ष त्रस जीव दिखाई देते हैं) तथा मद्य, मांस, मधु तीन मकारोंके (जो त्रस जीवोंके कलेवरके पिंड हैं) त्याग करनेको अष्ट मूलगुण कहा है। रत्नकरंडश्रावकाचारादि कई ग्रन्थोंमें पंचाणुव्रत-धारण तथा तीन मकारके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा है। महापुराणमें मधुकी जगह सप्तव्यसनके मूल जूआ खेलनेकी गणनाकी है। सागारधर्मामृतादि कई ग्रन्थोंमें मद्य (शराब) मांस, मधु (शहद) इन तीन मकारके त्यागके ३, उपर्युक्त पंच उदुम्बर फलोंके त्यागका १, रात्रि भोजनके त्यागका १, नित्य देववंदना करनेका १, जीवदया पालनेका १, जल छानकर पीनेका १, इस प्रकार अष्ट मूलगुण कहे हैं। इन सब ऊपर कहे हुए अष्ट मूलगुणोंपर जब सामान्यरूपसे विचार किया जाता है तो सभीका मत अभक्ष्य, अन्याय और निर्दयताके त्याग कराने और धर्ममें लगानेका एक सरीखा ज्ञात होता है। अतएव सबसे पीछे कहे हुए त्रिकाल वंदना, जीवदया-पालनादि अष्ट मूलगुणोंमें इन अभिप्रायोंकी भली भांति सिद्धि होनेके कारण यहाँ उन्हींके अनुसार वर्णन किया जाता है।

(१) **मद्यपान-त्याग**—मद्य बनानेके लिए, दाख, छुहारे आदि पदार्थ कई दिनोंतक सड़ाये जाते हैं, पीछे यन्त्रद्वारा

उनसे शराब उतारी जाती है, यह मद्दा दुर्गंधित होती है इनके बननेमें असंख्यात-अनन्त, त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है। यह मद्य मनको मोहित करती है, जिससे धर्म-कर्मकी सुध-बुध नहीं रहती तथा पंच पापोंमें निश्शंक प्रवृत्ति होती है, इसीकारण मद्यको पाँच पापोंकी जननी (माता) कहते हैं। मद्य पीनेसे मूर्च्छा, कम्पन, परिश्रम, पसीना, विपरीतपना, नेत्रोंके लाल होजाने आदि दोषोंके सिवाय मानसिक एवं शारीरिक शक्ति नष्ट होजाती है। शराबी धनहीन और अविश्वासका पात्र हो जाता है उसका शरीर प्रतिदिन अशक्त होता जाता है अनेक रोग आ घेरते हैं आयु क्षीण होकर नाना प्रकारके कष्ट भोगता हुआ मरता है। प्रत्यक्ष ही देखो ! मद्यपी मद्य पीकर उन्मत्त हुआ माता, पुत्री, बहिन आदिकी सुधि भूलकर निर्लज्ज हुआ यद्वा-तद्वा वर्ताव करताहै। इसप्रकार मद्यपी स्व-परको दुखदायी होता हुआ, जितने कुछ संसारमें दुष्कर्म करता है, उससे कोई भी व्यसन बचा नहीं रहता। ऐसी दशामें धर्मकी शुद्धि तथा उसका सेवन होना सर्वथा असम्भव है। पीनेवाला इस लोकमें निंद्य तथा दुखी रहता और मरनेपर नरकको प्राप्त होकर अति तीव्र कष्ट भोगता है। कहां उसे संडासियोंसे मुंह फाड़ २ कर गर्म तांबा सीसा पिलाया जाता है। इस प्रकार मद्य-पानको लोक परलोकको बिगाड़नेवाला जान दूरसे ही तजना योग्य है। प्रगट रहे कि चरस, चंडू,

अफीम, गांजा, तमाखू, कोकेन आदि नशीली चीजें खाना-पीना भी मदिरापानके समान धर्म-कर्म नष्ट करने वाली हैं, अतएव मद्यत्यागीको इनका त्यागना ही योग्य है।

२ मांस भक्षण त्याग—मांस त्रसजीवोंके वधसे उत्पन्न होता है। इसके स्पर्श, आकृति, नाम और दुर्गन्धिसे चित्त-में महा ग्लानि उत्पन्न होती है। यह जीवोंके मूत्र, विष्टा एवं सप्त धातु-उपधातुरूप महा अपवित्र पदार्थोंका समूह है। मांसका पिंड चाहे सूखा हुआ हो, चाहे पका हुआ हो, उसमें हर हालतमें त्रसजीवोंकी उत्पत्ति होती ही रहती है। मांस-भक्षणके लोलुपी विचारे, निरपराध दीन-मूक पशुओंका वध करते हैं। मांस भक्षियोंका स्वभाव निर्दय, कठोर, सर्वथा धर्म धारणके योग्य नहीं रहता है। मांस-भक्षणके साथ साथ मदिरापानादि व्यसन भी लगते हैं। मांसभक्षी इस लोकमें सामाजिक एवं धर्मपद्धतिमें निंद्य गिना जाता है, मरनेपर नरक के महान दुस्सह दुःख भोगता है। वहां लोहेके गर्म गोले, संडासियोंसे मुंह फाड़ २ कर खिलाये जाते तथा दूसरे दूसरे नारकी गृद्धादि मांसभक्षी पशु पक्षियोंका रूप धारण कर इसके शरीरको चोंटते और नाना प्रकारके दुःख देते हैं। अतएव मांस-भक्षणको अति निंद्य, दुर्गति एवं दुःखोंका दाता जान सर्वथा त्यागना ही योग्य है।

३ मधु भक्षण त्याग—मधु अर्थात् शहदकी मक्खियां-

नाना प्रकारके फूलोंका रस वे चूस-चूस लाती हैं और उगलकर अपने छत्तेमें एकत्र करती हैं। वे वहीं रहती हैं, उसीमें सम्मूर्छन अंडे उत्पन्न होते हैं। भील गौंड आदि निर्दयी नीच जातिके मनुष्य उन छत्तोंको तोड़ मधु मक्खियोंको नष्ट कर उन अण्डों-बच्चोंको बची खुची मक्खियोंसमेत निचोड़ कर इस मधुको तैयार करते हैं। यथार्थमें यह त्रसजीवोंके कलेवर (मांस) का पुंज अथवा सत् है। इसमें समय २ असंख्यात त्रसजीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है अन्य मतोंमें भी इसके भक्षण करनेका निषेध किया गया है मधुभक्षणके पापसे नीचगतिमें गमन और नाना प्रकारके दुःखोंकी प्राप्ति होती है अतएव इसे सर्वथा त्यागना योग्य है।

जिस प्रकार ये तीन 'मकार' अभक्ष्य एवं हिंसामय होनेसे त्यागने योग्य हैं उसी प्रकार मक्खन भी है। यह महाविकृत, मदको उत्पन्न करनेवाला और घृणारूप है। तैयार होनेपर यद्यपि इसमें अंतर्मुहूर्तके पीछे त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होना शास्त्रोंमें कहा है, तथापि विकृत होनेके कारण आचार्योंने तीन मकारके समान इसे भी अभक्ष्य और सर्वथा त्यागने योग्य कहा है।

(४) **पँच उदुम्बरफलभक्षण त्याग**—जो वृक्षके काठको फोड़कर फलें, वे उदुम्बर फल कहलाते हैं। यथाः—(१) गूलर या ऊमर, (२) वट या बड़, (३) प्लक्ष या पाकर, (४) कठूमर या अंजीर, (५) पिप्पल या पीपल। इन फलोंमें

हिलते, चलते, उड़ते सैंकड़ों जीव आंखोंसे दिखाई देते हैं। इनका भक्षण निषिद्ध, हिंसाका कारण और आत्मपरिणामको मलिन करनेवाला है। जिस प्रकार मांसभक्षीके दया नहीं, मदिरापायीके पवित्रता नहीं, उसी प्रकार पंच उदुम्बर फलके खानेवालेके अहिंसाधर्म नहीं होता, अतएव इनका भक्षण तजना योग्य है। इनके सिवाय जिन वृक्षोंसे दूध निकलता हो, ऐसे क्षीरवृक्षोंके फलोंका अथवा जिनमें त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होती हो, ऐसे सभी फलोंका सूखी, गीली आदि सभी दिशाओंमें भक्षण सर्वथा त्याज्य है। इसी प्रकार सड़ा-घुना अनाज भी अभक्ष्य है, क्योंकि इसमें भी त्रसजीव होनेसे मांसभक्षणका दोष आता है।

(५) रात्रिभोजनत्याग—दिनको भोजन करनेकी अपेक्षा रात्रिको भोजन करनेमें राग-भावकी उत्कटता, हिंसा और निर्दयता विशेष होती है। जिस प्रकार रात्रिको भोजन बनानेमें असंख्याते जीवोंकी हिंसा होती है उसी प्रकार रात्रिको भक्षण करनेमें भी असंख्याते जीवोंकी हिंसा होती है, इसी कारण शास्त्रोंमें रात्रिभोजियोंको निशाचरकी उपमा दी गई है। यहाँ कोई शंका करे, कि रात्रिको दीपकके प्रकाशमें भोजन किया जाय तो क्या दोष है? उसका समाधान—दीपकके प्रकाशके कारण बहुतसे पतङ्गादि सूक्ष्म तथा बड़े २ कीड़े उड़कर आते और भोजनमें गिरते हैं। रात्रि भोजनमें अरोक (अनिवारित)

महान् हिंसा होती है। रात्रिमें अच्छी तरह न दिखनेसे हिंसा (पाप) के सिवाय शारीरिक नीरोगतामें भी बहुत हानि होती है। मक्खी खा जानेसे वमन हो जाता है, कीड़ी खा जानेसे पेशाबमें जलन होती है, केश भक्षणसे स्वरका नाश होता है, जुआं खा जानेसे जलोदर रोग होजाता है, मकड़ी भक्षणसे कोढ़ होजाता है और विषमरा आदि भक्षणसे तो आदमी मर तक जाता है।

धर्मसंग्रह श्रावकाचारमें रात्रिभोजन-प्रकरणमें स्पष्ट कहा है कि रात्रिमें जब देवकर्म, स्नान, दान, होमकर्म नहीं किये जाते हैं (वर्जित हैं) तो फिर भोजन करना कैसे सम्भव हो सकता है? कदापि नहीं। वसुनन्दिश्रावकाचारमें कहा है कि रात्रिभोजी किसी भी प्रतिमाका धारक नहीं हो सकता। इसी कारण यह रात्रिभोजन उत्तम जाति, उत्तम धर्म, उत्तम कर्मको दूषित करने वाला, नीचगतिको ले जाने वाला है ऐसा जानकर सर्वथा त्यागने योग्य है।

(६) देव-वंदना—वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी श्री अरहंत देवके साक्षात् वा प्रतिबिम्ब रूपमें, सच्चे चित्तसे अपना पूर्व पुण्योदय समझ पुलकित—आनन्दित होते हुए दर्शन करने, गुणोंके चिंतवन करने, तथा उनको आदर्श मान अपने स्वभाव-विभावोंका चिंतवन करनेसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति हो सकती है। नित्य पूजन, दर्शन करनेसे सम्यक्त्वकी निर्मलता, धर्मकी श्रद्धा, चित्तकी शुद्धता, धर्ममें प्रीति बढ़ती है। इस देव-

वंदनाका अन्तिम फल मोक्ष है, अतएव मोक्षरूपी महानिधिको प्राप्त करानेवाली यह देववंदना अर्थात् जिनदर्शनपूजनादि प्रत्येक धर्मेच्छु पुरुषको अपने कल्याणके निमित्त योग्यतानुसार नित्य करना चाहिये। तथा शक्ति एवं योग्यताके अनुसार पूजनकी सामग्री, एक द्रव्य अथवा अष्ट द्रव्य नित्य अपने घरसे लेजाना चाहिये।

किसी २ ग्रन्थमें प्रातः, मध्याह्न और संध्या तीनों काल देववन्दना कही है सो सन्ध्यावन्दनसे कोई रात्रिपूजन न समझ लें, क्योंकि रात्रिपूजनका निषेध धर्मसंग्रहश्रावकाचार वसुनन्दिश्रावकाचारादि ग्रन्थोंमें स्पष्ट रूपसे किया है तथा प्रत्यक्ष हिंसाका कारण भी है इसलिये सन्ध्याके पूर्वकालमें यथाशक्य पूजन करना ही सन्ध्यावन्दन है। रात्रिको पूजनका आरम्भ करना अयोग्य और अहिंसामयी जिनधर्मके सर्वथा विरुद्ध है अतएव रात्रिको केवल दर्शन करना ही योग्य है।

नोट—यह बात भी विशेष ध्यानमें रखने योग्य है कि मन्दिरमें विनय-पूर्वक रहे, यद्वा-तद्वा उठना-बैठना बोलना-चालना आदि कार्य न करें, क्योंकि शास्त्रोंका वाक्य है—

अन्यस्थाने कृतं पापं, धर्मस्थाने विमुच्यते ॥
धर्मस्थाने कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति॥१॥

७ जीवदया पालन—सदा सब प्राणी अपने-अपने प्राणोंकी

रक्षा चाहते हैं। जिस प्रकार अपने प्राण अपनेको प्रिय हैं उसी प्रकार एकेन्द्रीसे लेकर पंचेन्द्रीपर्यन्त सभी प्राणियोंको अपने २ प्राण प्रिय हैं। जिस प्रकार हम जरासा भी कष्ट नहीं सह सकते उसी प्रकार वृक्ष, लट, कीड़ी, मकोड़ी मक्खी, पशु, पक्षी मनुष्यादि कोई भी प्राणी दुःख भोगनेकी इच्छा नहीं करते और न सह सकते हैं। अतएव सब जीवोंको अपने समान जान कर उनको जरा भी दुःख कभी मत दो, कष्ट मत पहुँचाओ, सदा उनपर दया करो। जो पुरुष दयावान् हैं, उनके पवित्र हृदयमें ही पवित्र धर्म ठहर सकता है, निर्दयी पुरुष धर्मके पात्र नहीं, उनके हृदयमें धर्मकी उत्पत्ति अथवा स्थिति कदापि नहीं हो सकती। ऐसा जानकर सदा सर्व जीवोंपर दया करना योग्य है। दयापालकके झूठ-चोरी कुशीलादि पंच पापोंका त्याग सहज ही हो जाता है।

८ जलगालन—प्रकट रहे कि अनछने जलकी एक बूंदमें असंख्यात छोटे २ त्रस जीव होते हैं। अतएव जीव-दयाके पालन तथा अपनी शारीरिक आरोग्यताके निमित्त जलको दोहरे छन्नेसे छानकर पीना योग्य है। छन्नेका कपड़ा स्वच्छ सफेद, साफ और गाढा हो। खुरदरा, छेददार, पतला, पुराना, मैला-फटा तथा ओढा-पहिना हुआ कपड़ा छन्नेके योग्य नहीं। पानी छानते समय छन्नेमें गुड़ी न रहे। छन्नेका प्रमाण

सामान्य रीतिसे शास्त्रोंमें ३६ अंगुल लम्बा और २४ अंगुल चौड़ा*कहा है, जो दुहरा करने से २४ अंगुल लम्बा १८ अंगुल चौड़ा होता है। यदि वर्तनका मुंह अधिक चौड़ा हो, तो वर्तन के मुंहसे तिगुना दुहरा छाना होना चाहिये। छन्नेमें रहे हुए जीव अर्थात् जीवाणी (बिलछानी) रक्षापूर्वक उसी जलस्थानमें क्षेपे, जिसका पानी भरा हो। तालाब, बावड़ी, नदी आदि जिसमें पानी भरनेवाला जल तक पहुँच सकता है, जीवाणी डालना सहज है। कुएंमें जीवाणी बहुधा ऊपरसे डाल दी जाती है सो या तो वह कुएंमें दीवालों पर गिर जाती है अथवा कदाचित् पानी तक भी पहुँच जाय, तो उसमेंके जीव इतने ऊपरसे गिरनेके कारण मर जाते हैं, जिससे जीवाणी डालनेका अभिप्राय "अहिंसाधर्म" नहीं पलता। अतएव भंवरकड़ीदार लोटेसे कुएंके जलमें जीवाणी पहुँचाना योग्य है।

पानी छानकर पीनेसे जीवदया पलनेके सिवाय शरीर भी

---

* षट्त्रिंशदंगुलं वस्त्रं चतुर्विंशतिविस्तृतं।
तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य तोयं तेन तु गालयेत् ॥१॥ (पीयूषवर्षश्रावकाचार)

* लोटेके पैंदेमें एक आंकड़ा लगवावे. आंकडे में रस्सी फंसाकर जीवाणी समेत सीधा लोटा कुएमें डालने और पानीकी सतहपर पहुँचते ही हिलाने से लोटा ओंधा हो जाता और जीवाणी पानीमें गिर जाती है। जीवाणी गिर चुकनेपर लोटा ऊपर खींच लेवे।

रोगी रहता है। वैद्य तथा डाक्टरोंका भी यही मत है । अन-छना पानी पीनेसे बहुधा मलेरिया ज्वर, नहरुआ आदि दुष्ट रोगोंकी उत्पत्ति होती है। इन उपर्युक्त हानि-लाभोंको विचार कर हरएक बुद्धिमान पुरुषका कर्त्तव्य है कि शास्त्रोक्त रीतिसे जल छानकर पीवे। छाननेके पीछे उसकी मर्यादा दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट तक होती है। इसके बाद त्रस जीव उत्पन्न हो जानेसे वह जल फिर अनछनेके समान हो जाता है।

इन अष्ट मूलगुणोंमें देवदर्शन, जलछानन और रात्रि-भोजनत्याग ये ३ गुण तो ऐसे हैं जिनसे हरएक सज्जन पुरुष जैनियोंके दया धर्मकी तथा धर्मात्मापनकी पहिचान कर सकता है। अतएव आत्महितेच्छु-धर्मात्माओंको चाहिये कि जीवमात्रपर दया करते हुए प्रामाणिकतापूर्वक बर्ताव करके इस पवित्र धर्मको सर्व जीवोंमें प्रवृत्ति करें।

[सप्तव्यसन दोष वर्णन]

जहां अन्यायरूप कार्यको बार-बार सेवन किये विना चैन नहीं पड़े, ऐसा शौक पड़ जाना व्यसन कहलाता है अथवा व्यसन नाम आपत्ति (बड़ेकष्ट) का है इसलिये जो महान् दुःखको उत्पन्न करे, अति विकलता उपजावे सो व्यसन है (मूलाचार) पुनः जिसके होनेपर उचित अनुचितके विचारसे रहित प्रवृत्ति हो (स्याद्वादमंजरी) वह व्यसन कहता है।

प्रगट रहे कि जूआ खेलना, मांसभक्षण करना, मद्यपान करना वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्री-सेवन, ये सात अति अन्यायरूप और लुभावने कार्य हैं कि एकवार सेवन करनेसे इनमें अति आसक्तिता हो जाती है जिससे इनके सेवन किये विना चैन (जक) नहीं पड़ती, रात-दिन इन्हीं में चित्त रहता है। इनमें उलझना तो सहज पर सुलझना महा कठिन है इसी कारण इनकी शास्त्रोंमें व्यसन संज्ञा है। यद्यपि चोरी, परस्त्रीको पंच पापोंमें भी कहा है, तथापि जहां इन पापोंके करनेकी ऐसी टेव पड़ जाय कि राज-दण्ड, जातिदण्ड, लोकनिन्दा होनेपर भी न छोड़े जावें सो व्यसन है और जहां कोई कारण विशेषसे किंचित् लोकनिंद्य वा गृहस्थधर्म-विरुद्ध ये कार्य बन जाय सो पाप है।

यद्यपि इन व्यसनोंका नियमपूर्वक त्याग सम्यक्त्व होने-पर पाक्षिक अवस्थामें होता है, तथापि ये इतने हानिकारक, ग्लानिरूप और दुखदाई हैं कि इन्हें उच्चजातीय सामान्य गृहस्थ भी कभी सेवन नहीं करते, इनमें लवलीन (आसक्त) पुरुषोंको सम्यक्त्व होना तो दूर रहे, किन्तु धर्मरुचि; धर्मकी निकटता भी होना दुस्साध्य है। ये सप्त व्यसन वर्तमानमें नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले और अन्तमें सप्त नरकोंमें लेजानेवाले दूत हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है।

१—जुआ खेलना—जिसमें हार जीत हो, ऐसे चौपड़,

गंजफा, मूठ, नक्की आदि खेलना, जुआ है। यह जुआ सप्त व्यसनोंका मूल और सर्व पापोंका स्थान है। जिनके धनकी अधिक तृष्णा है, वे जुआ खेलते हैं। जुआरी, नीच जातिके लोगोंके साथ भी राज्यके भयसे छिपकर मलिन और शून्य स्थानोंमें जुआ खेलते हैं अपने विश्वासपात्र मित्र-भाई आदिसे भी कपट करते हैं। हार-जीत दोनों दशाओंमें (चाहे धन सम्बन्धी हो, चाहे विना धन सम्बन्धी) ही जुआरीके अति व्याकुल परिणाम रहते हैं। उन्हें रात-दिन इसीकी मूर्च्छा रहती है। ऐसे लोगोंसे न्यायपूर्वक अन्य कोई रोजगार धंधा हो नहीं सकता। जीतनेपर मद्यपान, मांसभक्षण, वेश्यासेवनादि निंद्यकर्म करते और हारनेपर चोरी, छल, झूठ आदिका प्रयोग करते हैं। जुआ खेलनेवालोंसे कोई दुष्कर्म बचा नहीं रहता। इसी कारण जुएको सप्त व्यसनका राजा कहा है। सट्टे (फाटके) का धंधा, होड़ लगाकर चौपड़, शतरंज आदि खेलना यह सब जुआका ही परिवार है। जुआरी पुत्र-पुत्री, स्त्री, हाट, महल, दुकान आदि पदार्थोंको भी जुएपर लगाकर घड़ी भरमें दरिद्री, नष्ट-भ्रष्ट बन बैठता है। इसके खेलमात्रसे पांडवोंने जो दुःख उठाया सो जगत्में प्रसिद्ध है।

२—**मांसखाना**—३—**मद्यपान करना**—इनका वर्णन ३ मकार में हो चुका है अतएव यहां इनका वर्णन आवश्यक नहीं। मांस-भक्षणसे वक राजा और मादक जलमात्र पीनेसे

यादव अति दुःखी और नष्ट-भ्रष्ट हुए ।

४–वेश्यासेवन—जिस अविवेकिनी नारीने पैसेके अति लालचसे वेश्यावृत्ति अंगीकार कर अपने शरीरको, अपनी इज्जत-आबरूको, अपने पतिव्रत धर्मको नीच लोगोंके हाथ बेच दिया, ऐसी वेश्याका सेवन महानिंद्य है । यह पैसेकी स्त्री है, इसके पतियोंकी गिनती नहीं होती, यह सब दुर्गुणोंकी गुग्नी है । मांस-मदिरा-जुआ आदि सब प्रकारके दुर्व्यसनोंमें फंसाकर अपने भक्तोंको कष्ट-आपदा रोगोंका घर बनाकर अन्तमें निर्धन-दरिद्रीकी अवस्थामें मृतप्राय करके छोड़ती है । इसके सेवन करनेवाले महानीच, घिनावने स्पर्श करने योग्य नहीं । जिनको वेश्यासेवनकी ऐसी लत पड़ जाती है वे जाति, पांति और धर्म-कर्मकी बात तो दूर ही रहे, किन्तु मरण भी स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु इस व्यसनको छोड़ना स्वीकार नहीं कर सकते । जो लोग अज्ञानतावश वेश्याव्यसनमें फंस जाते हैं; उनकी गृहस्थी-धन-इज्जत, आबरू, धर्म, कर्म सब नष्ट हो जाते हैं और वे परलोकमें कुगतिको प्राप्त होते हैं । इस व्यसनसे चारुदत्त सेठ अति विपत्तिग्रस्त हुए थे, यह कथा पुराण-प्रसिद्ध है ।

५–शिकार खेलना—बेचारे निरपराधी, भयभीत, जंगल-वासी पशु, पक्षियोंको अपना शौक पूरा करनेके लिए या कौतुक-निमित्त मारना महा अन्याय और निर्दयता है । गरीब, दीन,

हीन, और अनाथोंकी रक्षा करना बलवानोंका कर्त्तव्य है। जो प्रजाकी व निस्सहाय जीवोंकी घात व कष्टसे—रक्षा करे, वही सच्चा राजा तथा क्षत्रिय है। यदि रक्षक ही भक्षक हो जाय तो दीन, अनाथ जीव किससे फर्याद करें। ऐसा जानकर बलवानोंको अपने बलका प्रयोग ऐसे निंद्य, निर्दय और दुष्ट कार्योंमें करना सर्वथा अनुचित है। इस शिकार दुर्व्यसनकी ऐसी खोटी लत है कि एक बार इसका चसका पड़ जानेसे फिर वही २ दिखाई देता है। हर समय इस व्यसनमें प्राण जानेका संकट उपस्थित रहता है। जो लोग इस व्यसनको सेवन कर वीर बनना चाहते हैं वे वीर नहीं, किन्तु धर्महीन अविवेकी और कायर हैं। वे इस लोकमें निंद्य गिने जाते हैं और परलोकमें कुगतिको प्राप्त होते हैं। शिकार व्यसनके कारण राजा ब्रह्मदत्त राज्य-भ्रष्ट होकर नरक गया।

६—चोरी करना—भूली-बिसरी-रक्खी हुई पराई वस्तुको उसके स्वामीके आज्ञा विना ले लेना, सो चोरी है। चोरी करनेमें आसक्त हो जाना, चोरी व्यसन कहलाता है। जिनको चोरीका व्यसन पड़ जाता है, वे धन पास होते हुए, महाकष्ट और आपदा आते हुए भी चोरी करते हैं। ऐसे पुरुष राजदंड जाति-दंडका दुःख भोग निन्दा एवं कुगतिके पात्र बनते हैं। चोरी करनेसे शिवभूति पुरोहित कष्ट-आपदा भोग, कुगति को प्राप्त हुआ।

७ परस्त्री-सेवन—देव, गुरु, धर्म और पंचोंकी साक्षी-पूर्वक पाणिग्रहण की हुई स्वस्त्रीके सिवाय अन्य स्त्रीसे संयोग (संभोग) करनेमें आसक्त हो जाना सो परस्त्री-सेवन व्यसन है। परस्त्रीसेवी धर्म-धन-यौवनादि उत्तम पदार्थोंको गमा देते हैं, राजदण्ड, जातिदण्ड, लोकनिन्दाको प्राप्त हो, नरकमें जाकर लोहेकी तप्त पुतलियोंसे भिंटाये जाते हैं। जैसे जूंठन खाकर कूकर-काग प्रसन्न होते हैं; वैसीही पर-स्त्री लंपटीकी दशा जानो। इस व्यसनकी इच्छा तथा उपाय करने मात्रसे रावण नरक गया और लोकमें अब तक अपयश हो रहा है।

ये सप्त व्यसन संसार परिभ्रमणके कारण, रोग-क्लेश, वध-बंधनादिके करानेवाले, पापके बीज और मोक्षमार्गमें विघ्न करनेवाले हैं। सर्व अवगुणोंके मूल, अन्यायकी मूर्ति तथा लोक-परलोकको बिगाड़नेवाले हैं। जो सप्तव्यसनोंमें रत होता है उसके विशुद्धि लब्धि अर्थात् सम्यक्त्व धारण होने योग्य पवित्र परिणामोंका होना भी सम्भव नहीं; क्योंकि उसके परिणामोंमें अन्यायसे अरुचि नहीं होती। ऐसी दशामें शुभ कार्योंसे तथा धर्मसे रुचि कैसे हो सकती है? इसलिये प्रत्येक स्त्री-पुरुषको इन सप्त व्यसनोंको सर्वथा तजकर शुभ कार्योंमें रुचि करते हुए नियमपूर्वक सम्यक् श्रद्धानी बनना चाहिये और गृहस्थधर्मके उपर्युक्त अष्ट मूलगुणोंको धारण करना चाहिये।

[पाक्षिकश्रावक के विशेष कर्त्तव्य]

(१) कुलानुसार आचार अर्थात् अपने उच्चकुल-उच्च-जाति-उच्च-धर्मकी पद्धतिके अनुसार रहन-सहन-पहिनाव-उढ़ाव आदि करना और खान-पान शुद्ध रखना, (२) पंचाणुव्रत पालन करनेका अभ्यास करना*। (३) शास्त्राभ्यास करना। (४) गृहस्थोंके करने योग्य गृहस्थी सम्बन्धी षट्कर्म अर्थात् चक्की, ऊखली, चूला बुहारी, जल तथा आजीविकाके कार्योंमें यत्नाचार तथा न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करना और नित्यप्रति धर्मसम्बन्धी षट्कर्म जिनपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, दान और तपमें शुभ परिणामोंकी प्राप्ति-निमित्त प्रवृत्ति करना। (५) जिस ग्राममें जिनमन्दिर न हो वहां न रहना। सागरधर्मा० अध्याय २ श्लोक ५ "प्रतिष्ठा यात्रादि"। (६) जिनधर्मियोंका उपकार करना, जिनधर्मकी उन्नतिके निमित्त उत्कृष्ट श्रावक तथा मुनि उत्पन्न हों, इसलिए हर प्रकारसे साधर्मियोंकी सहायता करनेका प्रयत्न करना। (७) चार प्रकार दान देना। (८) भोगोपभोगका यथाशक्ति नियम करना। (९) यथाशक्ति तप करना। (१०) संकल्पी हिंसा न करना अर्थात् सिंह, सर्प, बिच्छू आदि किसी भी प्राणीको संकल्प करके न मारना। (११) सम्यक्त्वकी शुद्धताके लिये तीर्थ

*इसमें कई बातें व्रती श्रावक सरीखी मालूम होती हैं, उन्हें यहां अभ्यास रूप समझना चाहिये।

यात्रा करना, मन्दिर बनवाना, जैनपाठशाला स्थापित करना।

[जैनगृहस्थकी नित्य चर्चा]

जैनी-गृहस्थ सामान्य रीतिसे पाक्षिक वृत्तिके धारक होते हैं, अतएव जैनी गृहस्थकी नित्यचर्या इस प्रकार होनी चाहिए—

वह एक घंटा रात्रि अवशिष्ट रहे तब उठकर पवित्र हो आत्मचिंतवन (सामायिक) करे। (२) सबेरे शौच-स्नानादिसे निपटकर अपनी योग्यतानुसार शुद्ध-पवित्र द्रव्य लेकर जिन-मन्दिर जावे, दर्शन-पूजनादि धार्मिक षट्कर्मोंमें यथाशक्ति प्रवर्ते। (३) धर्म-कर्मसे निपटनेके पीछे शुद्ध भोजन करे। (४) भोजनकी पवित्रता रखे—शूद्रको छोड़ शेष ३ वर्णोंके (मद्य-मांस-भक्षीको छोड़) हाथसे भरा अच्छी तरह दुहरे छन्ने से छना हुआ पानी, मर्यादित आटा, चर्मस्पर्शरहित घी, ताजा छना और प्राशुक किया हुआ दूध, ताजा मसाला, रसोईमें चंदोवा, अवींधा दाल-चावलादि अन्न ग्रहण करे, कन्द-मूलादि अभक्ष्य पदार्थोंको छोड़े। (५) चार बजे तक आजीविका सम्बन्धी कार्य अपनी योग्यतानुसार करे, पश्चात् दुबारा भोजन करना हो तो करे। (६) पांच बजे जलपानादिसे निपटकर आध घंटे एक जीवजन्तुकी रक्षा करते हुए टहले। (७) संध्या समय पुनः आत्मचिंतन (सामायिक) करे, शास्त्रसभामें जाकर शास्त्र पढ़े या सुने। (८) समय बचे तो उपयोगी पुस्तकें, समाचारपत्र

आदि पढ़े वा वार्तालाप करे और दस बजे रात्रिको सो जावे, इस प्रकार आहार-विहार, शयनादि तथा धर्मकार्योंको नियम-पूर्वक करता रहे ।

[गृहस्थके सत्रह यम]

कुगुरु[1] कुदेव[2] कुवृष[3] की सेवाऽनर्थदण्ड[4] अघमय[5] व्यापार।
द्यूत[6] मांस[7] मधु[8] वेश्या[9] चोरी[10] परतिय[11] हिंसादान[12]
शिकार[13] ॥ त्रसकी[14] हिंसा थूलअसत्यरु[15] विनछन्यो
जल[16] निशिआहार[17] । ये सत्रह अनर्थ जगमाहीं
यावज्जिअो करो परिहार ॥१॥

[नैष्ठिकश्रावक वर्णन]

जो धर्मात्मा पाक्षिक श्रावककी क्रियाओंका साधन करके शास्त्रोंके अध्ययनद्वारा, तत्त्वोंका विशेष विवेचन करता हुआ पंचाणुव्रतोंका आरम्भ कर, अभ्यास बढ़ाने अर्थात् देशचारित्र धारण करनेमें तत्पर हो वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है । अथवा जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और उत्तम क्षमादि दश-लक्षण-धर्म-पालन करनेकी निष्ठा (श्रद्धा) युक्त पंचम गुणस्थान-वर्ती हो वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है ।

नैष्ठिक श्रावकके अप्रत्याख्यानावरण कषायोंका उपशम होनेसे और प्रत्याख्यानावरण कषायोंके क्षयोपशम (मंद उदय) के क्रमशः बढ़नेसे ग्यारहवीं प्रतिमा तक बारह व्रत पूर्णताको प्राप्त हो जाते हैं, इसी कारण श्रावकको सागार

(अणुव्रती) कहा है। ये श्रावककी ११ प्रतिमाएँ (पाप-त्यागकी प्रतिज्ञाएँ) ही अणुव्रतोंको महाव्रतोंकी अवस्थातक पहुँचानेवाली निसैनीकी पंक्तियोंके समान हैं जो अणुव्रतसे महाव्रतरूप महलपर ले जाती हैं। इनको धारण करनेका पात्र यथार्थमें वही पुरुष है जो मुनिव्रत (महाव्रत) धारण करनेका अभिलाषी हो।

यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि जितने त्याग (व्रत) के योग्य अपने शरीरकी शक्ति, वासस्थान या भ्रमणक्षेत्र, कालकी योग्यता, परिणामोंका उत्साह हो और जिससे धर्म ध्यानमें उत्साह व वृद्धि होती रहे, उतनी ही प्रतिज्ञा धारण करना चाहिये। पुनः हरएक प्रतिज्ञाको विवेकपूर्वक इस रीतिसे लेना चाहिये कि जिससे कोई प्रतिज्ञा क्रमविरुद्ध न होने पावे। प्रगट रहे कि कोई प्रतिज्ञा ऊँची प्रतिमाकी और कोई नीची प्रतिमाकी लेना क्रमविरुद्ध कहलाता है, जैसे ब्रह्मचर्य या आरंभत्याग प्रतिमाके नियम पालते हुए पीछी-कमंडलु धारण कर ऊपरसे क्षुल्लक-ऐलक सरीखा भेष बना लेना; या व्रत, सामायिक प्रतिमा अच्छी तरह पालन न करते हुए रसोई बनाने या रोजगार-धंधा आदि करनेका त्याग कर बैठना। ऐसी अनमेल प्रतिज्ञाएँ बहुधा अज्ञानतापूर्वक क्रोध, माया, लोभादि कषायोंके वश होती हैं। जिसका फल यही होता है कि लाभ के बदले उलटी हानि होती है अर्थात्

कषाय मंद होनेके बदले तीव्र होकर लौकिक हानि होनेके साथ-साथ मोक्ष-मार्गसे दूरवर्तित्व अथवा प्रतिकूलता हो जाती है। अतएव इन प्रतिज्ञाओंके स्वरूप तथा इनके द्वारा होने वाले लौकिक-पारलौकिक लाभोंको भली भांति जानकर पीछे जितना सधता दिखे और विषय कषाय मन्द होते दिखें, उतना ही व्रत-नियम धारण करना कल्याणकारी है, क्योंकि प्रतिमाका स्वरूप आचार्योंने इस प्रकार कहा है :—

दोहा—

संयम अंश जगौ जहां, भोग अरुचि परिणाम ।
उदय प्रतिज्ञा कौ भयो, प्रतिमा ताको नाम ॥१॥

जब संयम धारण करनेका भाव उत्पन्न हो, विषय-भोगों-से अंतरंगमें उदासीनता उत्पन्न हो, तब जो त्यागकी प्रतिज्ञा-की जाय वह प्रतिज्ञा 'प्रतिमा' कहलाती है। वे प्रतिमायें ११ हैं। १ दर्शनप्रतिमा २ व्रतप्रतिमा ३ सामायिकप्रतिमा ४ प्रोषधप्रतिमा ५ सचित्तत्यागप्रतिमा ६ रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा ७ ब्रह्मचर्यप्रतिमा ८ आरम्भत्यागप्रतिमा ९ परिग्रहत्यागप्रतिमा १० अनुमतित्यागप्रतिमा ११ उद्दिष्टत्यागप्रतिमा।

प्रगट रहे कि जिस प्रतिमामें जिस व्रतके पालन या पाप-त्यागकी प्रतिज्ञा की जाती है, वह यथावत् पालने तथा अतीचार न लगानेसे ही प्रतिमा कहला सकती है। जो किसी प्रतिमामें अतीचार लगता हो तो नीचे को प्रतिमा जानना चाहिये जो

निरतिचार पल रही हो। यदि नीचे की प्रतिमाओंका चारित्र बिलकुल पालन न कर या अधूरा ही रखकर ऊपरकी प्रतिमाका चारित्र धारण कर लिया जाय, तो वह जिनमतसे बाह्य, कौतुक मात्र है, उससे कुछ भी फल नहीं होता; क्योंकि नीचेसे क्रमपूर्वक यथावत् साधन करते हुए ऊपरको चढ़ते जानेसे ही—क्रमपूर्वक चारित्र बढ़ानेसे ही—विषय-कषाय मन्द होनेसे आत्मिक सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है, जो कि प्रतिज्ञाओंके धारण करनेका मुख्य उद्देश्य है।

इन ग्यारह प्रतिमाओंमें छठी तक जघन्य श्रावक (गृहस्थ), नववीं तक मध्यम श्रावक (ब्रह्मचारी) और दशवीं, ग्यारहवीं-वाले उत्कृष्ट श्रावक (भिक्षुक) कहलाते हैं।

अब इन प्रतिमाओंका स्वरूप स्पष्ट, विस्तृत रीत्या वर्णन किया जाता है—

[प्रथम दर्शनप्रतिमा]

यह दर्शन प्रतिमा देशव्रत [श्रावकधर्म] का मूल है। त्रसजीवोंके घातद्वारा निष्पन्न हुए अथवा त्रसजीवोंसे युक्त पदार्थोंको भक्षण करनेका अतीचार सहित त्याग करनेवाला दार्शनिक श्रावक है अथवा दर्शन कहिये धर्म या सम्यक्त्व तथा प्रतिमा कहिये मूर्ति, अर्थात् जो धर्म या सम्यक्त्वकी मूर्ति हो, जिसके बाह्य आचरणोंसे ही ज्ञात हो कि यह पवित्र जिनधर्मका श्रद्धानी है वह दार्शनिक है। वह नियमपूर्वक

अन्याय-अभक्ष्योंका अतीचारसहित त्यागी होता है। सो भी इनको शास्त्रोंमें त्यागने योग्य कहा है, ऐसा जानकर नहीं त्यागता, किन्तु ये तीव्र कषायरूप महापापके कारण हैं एवं अत्यन्त अनर्थरूप है ऐसा जान हर्षपूर्वक त्यागता है। इस भांतिसे त्याग करनेवाला ही व्रतादि प्रतिमा धारण करनेका पात्र या अधिकारी होता है। अथवा जिसने पाक्षिक श्रावकसम्बन्धी आचारादि द्वारा सम्यग्दर्शनको शुद्ध कर लिया है, जो संसार, शरीर और भोगोंसे चित्तमें विरक्त है, नित्य यथाशक्य अर्हंत भगवान्‌की पूजादि—षट्‌कर्म करनेवाला है, मूलगुणोंके अतीचार दोषोंका सर्वथा अभाव करके आगेकी प्रतिमाओंको धारण करनेका इच्छुक तथा न्यायपूर्वक आजीविकाका करनेवाला है वह दार्शनिक श्रावक कहलाता है।

यहां कोई प्रश्न करे कि जब ११ प्रतिमाएँ देशव्रतके भेद हैं तो प्रथम भेदका नाम दर्शनप्रतिमा (जिसमें निरतिचार केवल सम्यग्दर्शन ही होता है) होते हुए देशव्रतमें इसे क्यों कहा? उसका समाधान—इस प्रतिमामें सप्त व्यसनके त्याग और अष्ट मूलगुणके धारणसे स्थूल*पंचाणुव्रत होते हैं, इसी-

---

*अष्ट मूलगुणके धारण और सप्त व्यसनके निरतिचार पालनेसे दार्शनिक श्रावकके सातिचार पंचाणुव्रतोंका पालन होता है अर्थात् ५ उदुम्बर ३ मकार—मद्य, मांस, मधु और शिकारके त्यागसे अहिंसाणुव्रत। जुएके त्यागसे सत्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणव्रत (अतितृष्णाका

लिये इसे देशव्रतमें कहना योग्य ही है। व्रतके सातिचार होनेसे व्रतप्रतिमा नाम हो नहीं सकता; यहां तो केवल श्रद्धान निरतिचार होता है। इसी कारण इसका नाम दर्शन-प्रतिमा कहा है, क्योंकि प्रतिमा यथावत् होनेको कहते हैं।

भावार्थ—पाक्षिक अवस्थामें अष्ट मूलगुण धारण और सप्त-व्यसन त्यागमें जो अतीचार लगते थे, उन अतीचारोंके दूर होनेसे मूलगुण विशुद्ध हो जाते हैं (अब यहां इनके अतीचार× कहे जाते हैं)

नोट—अतीचारोंके बतानेका अभिप्राय यह है कि ये अमुक-अमुक काम भी ऐसे हैं जिनके प्रमाद तथा अज्ञानतापूर्वक

त्याग)। चोरीके त्यागसे **अचौर्याणुव्रत**। वेश्या और परस्त्रीके त्यागसे **ब्रह्मचर्य अणुव्रत** होता है।

× व्रतोंके आचरणमें शिथिलता होना अतीचार है, यथा--

अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।
तथातिचारं करणालसत्वं भंगो ह्यनाचारमिह व्रतानाम्॥१॥

अर्थ—मनकी शुद्धितामें हानि होना सो अतिक्रम, विषयोंकी अभिलाषा होना सो व्यतिक्रम। व्रतके आचरणमें शिथिलता होना सो अतिचार, सर्वथा व्रतका भंग होना सो अनाचार है।

सागरधर्मामृतमें—व्रतके एक देश अर्थात् अंतरंग या बाह्य किसी एक प्रकारके अभाव होनेको अतीचार कहा है।

श्रीमूलाचारजीकी टीकामें—विषयाभिलाषा अतिक्रम। विषयोपकरणका उपार्जन करना व्यतिक्रम। व्रतमें शिथिलता, किंचित् असंयम

करनेसे यद्यपि विवक्षित व्रत सर्वथा भंग नहीं होता, तथापि उसमें दूषण लगता है, इसलिये इन दोष उत्पन्न करनेवाले कार्योंको भी तजनेका प्रयत्न करो, जिससे निर्दोष व्रत पले। कोई-कोई लोग अतीचारोंका अभिप्राय ऐसा समझ लेते हैं कि मानों इनके करनेकी आचार्योंने छुट्टी दी है क्योंकि इनसे व्रत तो भंग होता ही नहीं, उनकी ऐसी समझ ठीक नहीं।

[अष्टमूलगुणोंके अतीचार*]

मद्यत्यागके अतीचार—मदिरापानका त्यागी मन, वचन, कायसे सर्व प्रकारकी मादक वस्तु गांजा, अफीम, तमाखू आदि खाना-पीना तजे, सम्पूर्ण संधानक, आचार-मुरब्बा आदि वा जिन पदार्थोंमें फूलन आगई हो तथा जो शास्त्रोक्त मर्यादाके उपरान्तकी हो गई हो, ऐसी कोई भी वस्तु भक्षण न करे, चलितरस वस्तुका भक्षण न करे, मदिरा पीनेवालेके हाथका भोजन न करे और न उसके बर्तन काममें लावे।

सेवन अतीचार। व्रतका भंग करके स्वेच्छया प्रवृत्ति करना अनाचार है।

उदाहरण—खेत के बाहिर एक बैल बैठा था उसने विचारा, निकटवर्ती खेतको चरूं, यह अतिक्रम है, खड़ा होकर चलना व्यतिक्रम, बाड़ी ताड़ना सो अतीचार और खेत चरना अनाचार है।

*ये अतीचार धर्मसंग्रहश्रावकाचार, सागारधर्मामृत तथा ज्ञानानन्दश्रावकाचारादि ग्रन्थोंके आधारसे लिखे गये हैं।

मांस त्यागके अतीचार—मांसत्यागी चमड़ेके भाजनादि में रक्खे हुए तेल, जल, घी, हींग, काढ़ा, आटा आदिको भक्षण न करे, चमड़ेकी चालनी, सूपड़ेसे स्पर्शा आटा भक्षण न करे।

मधुत्यागके अतीचार—मधुका त्यागी पुष्प-भक्षण न करे, अंजन तकके लिये भी मधुका स्पर्श न करे। (सा० ध०)

पंच उदम्बर फलत्यागके अतीचार—पंच उदम्बरफलका त्यागी अजानफल तथा काचरी, बोर, सुपारी, खारक, नारियल आदिको बिना फोड़े, बिना देखे न खावे।

रात्रिभोजन त्यागके अतीचार—जो रात्रिभोजनके त्यागी हैं, उन्हें एक मुहूर्त* दिन रहेसे एक मुहूर्त दिन चढ़े तक आम, घी आदि फल वा रस भी नहीं खाना-पीना चाहिये, फिर और-और भोज्यपदार्थोंकी तो बात ही क्या है? रात्रिका पिसा हुआ आटा व बना हुआ भोजन खाना, दिनको अन्धेरेमें खाना, ये सब रात्रि-भोजनवत् हिंसाकारक हैं और रात्रिभोजन त्यागके अतीचाररूप है।

जलगालनके अतीचार—छने हुए जलकी दो घड़ीकी मर्यादा है। मर्यादासे अधिक कालका या कुवस्त्र (छन्ने सिवाय

*सागरधर्मामृतमें १ मुहूर्त अर्थात् २ घड़ी और ज्ञानानन्द श्रावकाचार तथा क्रियाकोषमें दो मुहूर्त अर्थात् ४ घड़ी कहा है। घड़ीका प्रमाण २४ मिनिट का है।

अन्य वस्त्रसे अथवा मैले, कुचैले, फटे, छोटे या सड़े छन्ने) से छना हुआ या जिस छने हुए जलकी जीवाणी जलस्थानमें बराबर न पहुँचाई गई हो या अन्य जलस्थानमें पहुँचाई गई हो, ऐसा जल पीना योग्य नहीं। ऐसा जल पीनेसे जलगालन व्रतमें अतीचार लगता है।

जूआत्यागके अतीचार—जूआ खेलनेका त्यागी गंजफा, चौपड़, शतरंज, दौड़ आदिका खेल बिना शर्त लगाये भी न खेले, यदि खेलता है तो जुआत्यागमें अतीचार लगता है।

वेश्यात्यागके अतीचार—वेश्यासेवनके त्यागीको वेश्याओं का गाना सुनना, नाच देखना, उनके स्थानोंमें घूमना योग्य नहीं, वेश्यासक्तोंकी सोहवत-संगति करना नहीं। यदि करे तो अतीचार लगता है।

शिकारत्यागके अतीचार—शिकारके त्यागीको काष्ठ, पाषाण, चित्रामादिकी मूर्ति वा चित्र आदिको संकल्पपूर्वक तोड़ना, फोड़ना, फाड़ना, नहीं चाहिए। दूसरोंकी आजीविका बिगाड़ देनेसे, वा धन लुटा देनेसे भी शिकारत्यागमें अतीचार लगता है।

चोरीत्यागके अतीचार— चोरीके त्यागीको राज्यके भयद्वारा अपने भाई-बन्धुओंका धन नहीं छीनना चाहिये, न हिस्सा बांटमें धन छिपाना चाहिये, जो कुछ उनका वाजिब हिस्सा हो, देना चाहिये। यदि ऐसा नहीं करता है तो चोरीका अतीचार लगता है।

परस्त्रीत्यागके अतीचार—परस्त्री त्यागी गन्धर्वविवाह

न करे, बालिका (अविवाहिता) के साथ विषयसेवन न करे*।

सप्तव्यसनके त्यागीको मद्य-मांसादि बेचनेवाले तथा इन व्यसनोंके सेवन करनेवाले, स्त्री-पुरुषोंके साथ उठना-बैठना, खान-पान आदि व्यवहार भी न रखना चाहिये, नहीं तो परिणाम ढीले होकर पहिले तो अतीचार लगते, पीछे वे ही अनाचार-रूप होकर, पूरा व्यसनी बना, धर्मसे वञ्चित कर देते हैं।

आजकल समुद्रयात्रा जो जहाजों द्वारा की जाती है, उसमें जहाजोंका प्रबन्ध तथा रहन-सहन, कामकाज बहुधा विदेशी-विधर्मी और मद्य-मांसादि सेवन करनेवालोंके आधीन रहता है तथा जिस स्थानको जाते हैं, वहांपर भी ऐसे ही

---

*परस्त्री त्यागके अतीचारमें तत्वार्थसूत्रमें परिगृहीता, अपरिगृहीता गमन कहा है उसका प्रयोजन यही है कि परायेकी विवाही या अनब्याही स्त्रीके साथ एकान्तमें उठना-बैठना आदि व्यवहार न करे, क्योंकि ऐसा करनेसे संसर्गजनित दोष उत्पन्न होना सम्भव है। सागारधर्मामृत तथा धर्म संग्रहश्रावकाचारमें बालिकासेवन अतीचार कहा है सो इसका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि जिसके साथ सगाई हो गई हो या होना हो, ऐसी नियोगिनीके साथ विवाहके पहिले संभोग करनेमें अतीचार है। अन्य बालिकाके सेवनसे तो अतीचार ही नहीं, किन्तु महा अनाचार है, यही कारण है कि परस्त्रीसेवीकी अपेक्षा बालिका सेवन करनेवालोंको राज्यकी ओरसे भी तीव्र दण्ड दिया जाता है। लोकनिंदा और जातीयदण्ड भी अधिक होता है। (परस्त्री त्यागी सगाईवाली या अन्य बालिकाको परस्त्री न होनेका खयाल कर लेता है और व्रत भंग नहीं मानता वह अतीचार कहा होगा, पर है यह अनाचार।)

लोगोंके हाथका भोजन, उन्हींके साथ खान-पान, उन्हींमें रात-दिन रहन-सहन होता है, ऐसी दशामें व्रती श्रावकोंकी बात तो दूर ही रहे, किन्तु सप्तव्यसनके त्यागी सामान्य जैनीका श्रद्धान और चारित्र भ्रष्ट होना सम्भव है। पूर्वकालमें जो समुद्रयात्रा होती थी, सो जहाजोंमें तथा विदेशोंमें सर्व प्रकार श्रद्धान-चारित्र की साधक सामग्रीका समागम था, श्रद्धान-चारित्रकी नाशक सामग्री नाममात्रको भी न थी। इस अभिप्रायको न समझकर आजकलके सुधारक कहे जानेवाले धर्म-मर्म जाने विना शास्त्र-की दुहाई देते हैं कि शास्त्रोंमें समुद्रयात्राका विधान है, वर्जन नहीं। सो यथार्थमें प्रथमानुयोग शास्त्रोंमें कई जगह समुद्रयात्रा-का प्रकरण आया है परन्तु पूर्वकालमें क्यों समुद्रयात्राकी विधि थी और अब क्यों वर्जनकी जाती है? यह बात बुद्धिमानोंको भलीभांति विचार लेना चाहिये। इस समय जहाजोंद्वारा विदेश यात्रा करनेसे धर्म-कर्म स्थिर रहना असम्भव-सा हो गया है और शास्त्रोंकी स्पष्ट आज्ञा है कि जिस क्षेत्रमें श्रद्धान-चारित्र भ्रष्ट होना सम्भव हो वहां गृहस्थ श्रावकको न जाना चाहिये। (हां आचार-विचार निभा सकने और व्रत भङ्ग न हो सकने-की स्थितिमें विदेश गमन करनेमें कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। अब तो वायुयानके भी साधन हो गये हैं।)

इसी प्रकार पञ्च उदम्बर, तीन मकारके त्यागके अतीचार भी धर्मेच्छु पुरुषोंको तजना योग्य है। क्योंकि बड़, पीपल,

मद्य, मांसादि तो धर्मविहीन अस्पर्श शूद्रादिक भी नहीं खाते तो भी जैनियोंको इनके त्यागकी आवश्यकता इसलिये बताई गई है, कि जिससे दार्शनिक जैनी याने जैनधर्मका श्रद्धानी पुरुष इनके विशेषरूप बाईस अभक्ष्यको तजे, और अन्न, जल दूध, घृतादि शास्त्रोक्त मर्यादाके अनुसार भक्षण करे, क्योंकि मर्यादाके पश्चात् इन पदार्थोंमें भी त्रसराशिकी उत्पत्ति हो जाती है। पुनः ऐसे बीज फलादिक भी भक्षण न करे, जिनमें त्रसजीव उत्पन्न हो गये हों या जिनमें शङ्का हो, क्योंकि ऐसे भोजन से धर्महानिके सिवाय नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते तथा बुद्धि धर्म ग्रहण करने योग्य नहीं रहती।

अब यहाँ सामान्य रीतिसे २२ अभक्ष्य तथा खान-पानके द्रव्योंकी शास्त्रोक्त मर्यादा लिखी जाती है।

२२ अभक्ष्य

कवित्त (३१ मात्रा)

ओला, घोरबड़ा, निशिभोजन, बहुबीजा, बैंगन, संधान।
बड़ पीपर, ऊमर, कठ-ऊमर, पाकर, फल जो होय अजान॥
कन्दमूल, माटी विष, आमिष, मधु, माखन अरु मदिरापान।
फल अति तुच्छ तुषार चलित रस ये जिनमत बाईस बखान॥१॥

इनका अभिप्राय—(१) ओले—अनछने पानीके जम जानेसे होते हैं, जो असंख्य त्रसजीवोंके घर हैं। (२) घोरबड़ा अर्थात् दहीबड़े—उड़द या ‘ गकी दालको फुलाकर पीसनेकेम्

पश्चात् घृत या तेलमें तलकर बड़े बनाये जाते हैं। इनको दही या छाछमें डालकर खानेसे इनमें द्विदल दोषसे असंख्य त्रसजीवों की उत्पत्ति होती हैं इसलिए द्विदल*दोषयुक्त घोरबड़े खाना योग्य नहीं। (३) रात्रिभोजनका दोष कह ही चुके हैं। रात्रिभोजनका त्यागी रात्रिका बना हुआ, विना शोधा देखा तथा अंधेरे में भोजन न करे ॥ (४) बहुबीजा—जिस फलमें बीजोंके अलग-अलग घर न हों, जैसे अफीमका डोंडा (तिजारा) तथा अरण्ड काकड़ी। (५) बैंगन—उन्मादका उत्पादक तथा विकृत (देखनेमें घिनावना) होताहै। (६) सन्धाना (अथाना)—आम, नींबू आदि को राई, नमक, मिर्चादि मसालेके साथ तेलमें या विना तेलके कितने ही दिनों तक रखनेसे इसमें त्रसजीवोंकी राशि उत्पन्न होती है और खानेसे हिंसा होती है। (७) बड़ (८) पीपल (९) ऊमर (१०) कठूमर (११) पाकर—इनके दोष पंच उदुम्बरमें कह ही चुके हैं। (१२)अजान फल—हिंसा तथा रोगके कारण और कभी-कभी प्राणोंके घातक भी होते हैं।

---

*जिसके दो फाड़ (दाल) होते हैं, ऐसे अन्नादिक पदार्थ, कच्चा गोरस (दूध-दही-छांछ) और लार मिलनेसे असंख्य त्रस जीवोंकी उत्पत्ति होती और खानेसे हिंसा होती हैं (कि. क्रि. को) ॥ द्विदल शब्दका अभिप्राय पं० आशाधरजी ने चना-मूंगादि द्विदल अन्नमात्र लिया है और पं० किशनसिंहजीने चारौली, बादामादि काष्ठ द्विदल तथा तरोई, भिंडी आदि हरी-द्विदल भी लिया है। अतएव हमारे लिये दोनों प्रमाण हैं। जिससे जितना सधे, उतना साधे परन्तु श्रद्धान ठीक रक्खे।

(१३) कन्दमूल—अनन्त जीवोंकी राशि हैं। (१४) खानिकी, खेत की मिट्टी—असंख्य त्रसजीवोंकी राशि है। (१५) विष—प्राणघातक है। (१६) आमिष (मांस) (१७) मधु (१८) मक्खन (१९) मदिरापान इनके दोष तीन मकारमें कह ही चुके हैं। (२०) अतितुच्छ फल—सप्रतिष्ठित वनस्पति, अनन्त जीवोंकी राशि होता हैं। (२१) तुषार (वर्फ)—असंख्य त्रसजीवोंकी राशि होते हैं।। (२२) चलितरस–जिन वस्तुओं का स्वाद बिगड़ गया हो या जो शास्त्रोक्त मर्यादासे अधिक काल की हो गई हो, उनमें त्रसजीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है इससे उनके खानेमें विशेष हिंसा तथा अष्टमूलगुणोंमें दोष आता है, इसके सिवाय अनेक रोग भी उत्पन्न होते हैं जिससे धर्मसाधन में बाधा आती है।

कोई-कोई लोग कहते हैं कि २२ अभक्ष्यों का वर्णन किसी संस्कृतग्रन्थमें नहीं देखा जाता, उनको चहिये कि वे सागारधर्मामृतमें देखें, यद्यपि इसमें २२ अभक्ष्योंकी गणना नहीं की गई तोभी पर्यायान्तरसे बहुधा इन सभीके भक्षणका निषेध किया है।

[खान-पान के पदार्थोंकी मर्यादा]

आटा, बेसन आदि चूनकी मर्यादा बरसातमें ३ दिनकी, गर्मीमें ५ दिनकी और शीतऋतुमें ७ दिनकी होती है। हरएक ऋतु सामान्यतः अठाईसे बदली मानी जाती है। छने

हुए पानीकी मर्यादा १ मुहूर्त अर्थात् २ घड़ीकी। लवंगादि तिक्त द्रव्यों द्वारा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण बदले हुए जलकी मर्यादा दो पहरकी। अधन सरीखा उष्णजल न होकर साधारण गर्मजलकी मर्यादा ४ पहरकी। अधन सरीखे गर्म हुए जलकी मर्यादा ८ प्रहर की है। दूध दुहकर, छानकर दो घड़ीके पहले-पहले गर्म कर लेनेसे उसकी मर्यादा ८ प्रहरकी है। (कोई-कोई कहते हैं कि दूध ४ प्रहरमें ही बिगड़ जाताहै अतएव बिगड़ जाय तो मर्यादा के भीतर भी नहीं खाय) यदि दूध गर्म नहीं करे, तो दो घड़ीके पीछे उसमें, जिस पशुका वह दूध हो, उसी जातिके सन्मूर्छन असंख्य जीव उत्पन्न होजाते हैं। गर्म दूधमें जामन देने पर दहीकी मर्याद ८ प्रहर तक है। बिलोते समय यदि छाछमें पानी डाला जाय तो उसकी मर्याद उसी दिन भरकी है, यदि बिलोये पीछे मिलाया जाय तो उस छाछकी मर्याद केवल १ मुहूर्तकी है (क्रि.को.) बूरेकी मर्याद शीत में १ माह; गर्मीमें १५ दिन और बरसातमें ७ दिन की। घी, गुड़, तेल आदिकी मर्याद स्वाद न बिगड़ने तक। खिचड़ी, कढ़ी, तरकारीकी मर्याद दो प्रहर की। पूआ, शीरा, रोटी आदि जिनमें पानीका अधिक अंश रहता है उनकी मर्याद ४ प्रहरकी। पुड़ी, पपड़िया, खाजा, लड्डू, घेवर आदि जिनमें पानीका किंचित् अंश रहता है उनकी मर्याद ८ प्रहर की। जिस भोजनमें पानी न पड़ा हो, जैसे मगद, इसकी

मर्याद आटे के बराबर। पिसे हुए मसाले हल्दी, धनिये आदिकी मर्याद आटे के बराबर। बूरा, मिश्री, खारक, दाख आदि मिष्ट-द्रव्यसे मिले हुए दहीकी मर्याद दो घड़ी की। गुड़के साथ दही या छांछ मिलाकर खाना अभक्ष्य है। और पदार्थोंकी मर्याद क्रियाकोषादि ग्रन्थोंमे जानना।

[दार्शनिकश्रावक-संबन्धी विशेष बातें]

(१) सम्यक्त्वको २५ दोष तथा पंच अतीचार टाल निर्मल करे* (२) पंच परमेष्ठी को टाल जिनमतके शासनदेव तथा अन्य मिथ्यादृष्टि देवोंको मनमें भी न लावे (३) शुद्ध व्यवहारका धारी हो (४) जिस रीतिसे धर्म-कर्ममें हानि आती हो, उस तरहसे धनसंग्रह न करे (५) मद्य, मांस, मधुके वा और भी अनेक प्रकार अधिक हिंसा वा तृष्णा के आरंभ वा व्यापार न करे (६) प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य गुण-

---

* यहां कोई संदेह करे कि क्षयोपशमसम्यक्त्वी दार्शनिकके सम्यक्त्व प्रकृति मोहनीयके उदयमे चल-मल अगाढरूप दोष लगते हैं, फिर यहां सर्वथा अतीचारोंका टलना कैसे संभव है ? उसका समाधान-क्षयोपशम सम्यक्त्वीके जो चल-मल अगाढ़रूप दोष उत्पन्न होते हैं वे सुगुरु,सुदेव-सुधर्मके विषयमें ही विकल्परूप होते हैं, जैसे शांतिनाथ स्वामी शांतिके कर्ता हैं, ऐसे विकल्प सम्यक्त्वमें दोष उत्पन्न करनेवाले अतीचाररूप नहीं हैं, ८ शंकादि दोष, ८ मद, ६ अनायतन, ३ मूढ़ता ये २५ दोष सम्यक्त्व के घातक एवं दूषित करनेवाले हैं, सो ये दोष दर्शन प्रतिमा वालेको नही लगते ॥

युक्त होकर मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य भावना सदा भावे अर्थात् वैराग्यभाव युक्त हो और तदनुसार ही आचरण करे (७) कुटुम्बी, स्त्री-पुत्रादिको धर्ममें लगावे।

[दर्शनप्रतिमा धारणसे लाभ।]

दर्शनप्रतिमाके पालन करनेसे मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यका सर्वथा अभाव होकर धर्मकी निकटता अर्थात् व्रत धारण करनेकी शक्ति तथा पात्रता होती है। दार्शनिक श्रावक ही यथार्थ में यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकारी है। यज्ञोपवीत द्विजवर्ण का द्योतक है। लोकमें उत्तम व्यवहारपना प्रगट होनेसे धन-यशादिककी प्राप्ति होती है। धर्मकी ऐसी नींव जम जाती है कि जिससे सांसारिक उच्च पदवियां पाते हुए अन्तमें मोक्षपदकी प्राप्ति होती है। जैसे शरीरमें शिर, महलमें नींव मुख्य है उसी प्रकार चारित्रका मूल दर्शन-प्रतिमा है।

[द्वितीय व्रत-प्रतिमा]

दर्शनप्रतिमामें अन्याय, अभक्ष्य-जनित स्थूल-हिंसाके कारणोंको सर्वथा त्याग कर, आरम्भ सम्बन्धी मोटे-मोटे हिंसादि पापोंके त्यागका क्रमरहित अभ्यास करता हुआ दार्शनिक श्रावक, व्रत धारण करने की इच्छा करता है।

जो अखण्ड सम्यग्दर्शन और अष्ट मूलगुणोंका धारक, माया-मिथ्या-निदान शल्यत्रयरहित, राग-द्वेषके अभाव और

साम्यभावकी प्राप्ति के लिये अतीचाररहित उत्तरगुणोंको* धारण करे, सो व्रती श्रावक है ।

यह बात जगत्प्रसिद्ध है और धर्मशास्त्र भी ऐसा ही कहते हैं कि हिंसा समान पाप और अहिंसा समान पुण्य नहीं है। यद्यपि भेद-विवक्षासे अनेक प्रकारके पाप कहे जाते हैं, तो भी यथार्थमें सब पापोंका मूल एक हिंसा ही है, इसीके विशेष भेद झूठ, चोरी, व्यभिचार और अतितृष्णा हैं, इसी कारण आचार्यों ने शास्त्रोंमें जहां तहां इन पांचों पापोंके निवारणका उपदेश किया है। श्रीउमास्वामीजीने तत्वार्थसूत्रमें इन पापोंके त्यागरूप पांचही व्रत कहकर उनके अणुव्रत, महाव्रत दो भेद किये हैं। यथा—'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं' 'देशसर्वतोऽणुमहती' अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग, सो व्रत हैं। ये अणुव्रत महाव्रत दो भेदरूप हैं। पंच-पापों का एकदेश त्याग अणुव्रत और सर्वदेश त्याग-महाव्रत कहलाता है।

पंच पापोंका त्याग जब बुद्धिपूर्वक अर्थात् भेदज्ञान (सम्यक्त्व) पूर्वक होता है तभी उसे व्रत संज्ञा होती है। इन व्रतों को अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि अंतरंग वा बाह्य सामग्री की योग्यता देख धारण करके भले प्रकार

* दर्शन प्रतिमामें कहे हुए त्याग श्रावकके मूलगुण हैं और व्रत-प्रतिमामें कहे हुए उत्तरगुण हैं॥

निर्दोष पालना चाहिये, कदाचित् किसी प्रबल कारणवश व्रत भंग हो जाय तो प्रायश्चित्त लेकर शीघ्र ही पुनः स्थापन करना उचित है।

गृहस्थ श्रावक प्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशमके अनुसार अणुव्रत धारण कर सकता है। इसके महाव्रत धारण करनेके योग्य कषाय नहीं घटी, इससे सर्वथा आरम्भ, विषय-कषाय त्यागने को असमर्थ है।

व्रत तिमामें पंचाणुव्रत तो निरतिचार पलते हैं (रत्न-करंडश्रावकाचार और सुभाषित रत्न संदोह का श्रावक धर्म) शेष तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत (ये सप्तशील) बाडिकी नांई व्रतरूप क्षेत्रकी रक्षा करते हैं। इनमें तीन गुणव्रत तो उपर्युक्त पंच अणुव्रतोंमें गुणकी वृद्धि करते और चार शिक्षाव्रत इन्हें महाव्रतोंकी हद तक पहुँचाते हैं। भावार्थ—यद्यपि व्रती जहांतक संभव हो इनको भी दोषों से बचाता है। तथापि ये सप्तशील व्रतप्रतिमा में निरतिचार* नहीं होते। ये पंचाणुव्रत, ३ गुणव्रत ४ शिक्षाव्रत मिलकर १२ व्रत कह-

---

* यहां कोई शंका करे कि व्रतप्रतिमामें ही ये १२ व्रत एक साथ निर-तिचार होने चाहिये, क्योंकि १२ व्रतोंके अतीचारोंका वर्णन तत्वार्थसूत्रमें एक ही जगह व्रतोंके प्रकरणमें किया है। उसका समाधान—एक ही स्थान पर वर्णन करना तो प्रकरणके वश होता है यहां केवल वस्तु-स्वरूप बताना था, प्रतिमाओंका वर्णन नहीं करना था, इसलिए जहां प्रकरण आया, सबका एक

जाते हैं। उनके नाम तत्वार्थसूत्रानुसार—पंच अणुव्रत–हिंसा, झूठ, चोरीका एक देशत्याग परस्त्रीका त्याग और परिग्रह-प्रमाण। तीन गुणव्रत-दिग्विरति, देशविरति अनर्थदंडविरति। चार शिक्षाव्रत-सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण, अतिथि-संविभाग।

[तीन शल्योंका वर्णन]

प्रगट रहे कि व्रतोंको धारण करनेवाला पुरुष मिथ्या,

साथ वर्णन कर दिया। दूसरे यदि बारहों व्रत दूसरी प्रतिमामें ही निरतिचार हो जावें, तो आगेकी सामायिकादि प्रतिमा व्यर्थ ठहरें: क्योंकि तीसरीसे ग्यारहवीं प्रतिमा तक इन सप्तशीलोंके निरतिचार पालनेका ही उपदेश है, यही बात सर्वार्थसिद्धि तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें भाषा टीकाकार पं० जयचन्द जी ने कही है। यथा—व्रतप्रतिमा में पंचाणुव्रत निरतिचार होते। तीसरीमें सामायिक और चौथीमें प्रोषधोपवास निरतिचार होते। पांचवींमें भोगोप-भोगके अतीचार दूर होते और ग्यारहवीं तक क्रमशः भोगोपभोग घटाकर त्याग कर दिए जाते हैं। अष्टमी में आरम्भका सर्वथा त्याग होनेसे पंचाणु-व्रतका पूरी-पूरी दृढ़ता पहुँचती तथा दिग्विरति, देशविरति निरतिचार पलता है। नवमीमें परिग्रहत्याग होनेसे अतिथिसंविभाग निरतिचार पलता है। दशवीं-अनुमतित्यागमें अनर्थदंडव्रत निरतिचार हो जाता है। इस तरह सातों शील निरतिचार होने से अणुव्रत महाव्रतकी परिणतिको पहुंच जाते हैं। सिवाय इनके वसुनन्दिश्रावकाचारमें भोगप्रमाण, उपभोगप्रमाण, अतिथिसंविभाग-सल्लेखना ऐसे चार शिक्षाव्रत कहे हैं, सामायिक, प्रोषधोपवासका व्रतोंमें न कहकर प्रतिमा ही कहा है, ऐसी दशामें १२ व्रतोंका निरतिचार पलना कैसे सम्भव हो सकता है।

माया, निदान इन तीनों शल्यरहित होना चाहिये, जैसा कहा है "निःशल्यो व्रती" ।

(१) मिथ्या शल्य—जो धर्मस्वरूपका ज्ञाता नहीं, अर्थात् संसार और संसारके कारणों तथा मोक्ष और मोक्षके कारणों को नहीं जानता अथवा विपरीत जानता या सन्देहयुक्त जानता है, इनपर जिसका दृढ़ विश्वास नहीं हैं और न व्रत धारण करनेका अभिप्राय समझता है, ऐसा मिथ्यात्वी पुरुष दूसरोंकी देखा-देखी या और किसी अभिप्रायके वश व्रतोंका पालन करने वाला अव्रती ही है। जो पुरुष तत्त्वश्रद्धानी होकर आत्मकल्याण के अभिप्रायसे व्रत धारण करता है, वही मोक्ष-मार्गी, पापोंका त्यागी सच्चा व्रती कहलाता है।

(२) माया शल्य—जिसके मनके विचार और, वचन की प्रवृत्ति और तथा कायकी चेष्टा और हो, ऐसे पापोंको गुप्त रखनेवाले, मायाचारी पुरुषका दूसरोंके दिखानेके लिए अथवा मान-बड़ाई, लोभादिके अभिप्रायसे व्रत धारण करना निष्फल है। वह ऊपरसे (दिखाऊ) व्रती है; परन्तु अंतरंगमें उसे पापसे घृणा नहीं, इस कारण ठगवृत्ति होनेसे उसे उलटा पापका बंध होता है तथा तिर्यंचादि-नीचगतिकी प्राप्ति होती है।

(३) निदानशल्य—जो पुरुष आगामी सांसारिक विषय भोगोंकी वांछाके अभिप्रायसे व्रत धारण करता है, सो यथार्थमें

व्रती नहीं हैं। क्योंकि व्रत धारण करनेका प्रयोजन तो सांसारिक विषय-भोगों अथवा आरम्भ-परिग्रहोंसे विरक्त होकर आत्म-स्वरूपमें उपयोग स्थिर करनेका है, परन्तु निदान-बंध करनेवाला उल्टा पापोंके मूल विषय-भोगोंकी तीव्र इच्छा करके उनकी पूर्ति के लिए ही व्रत धारण करता है। अतएव ऐसे पुरुषके बाह्य व्रत होते हुए भी अंतरंग तीव्र लोभकषाय होनेके कारण पाप ही का बंध होता है। भावार्थ—यथार्थमें उपर्युक्त तीन शल्योंके त्याग होनेपर ही व्रत धारण हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

[बारह व्रतोंका वर्णन]

अब यहां पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का विशेष वर्णन किया जाता है तथा हरएक व्रतके पांच-पांच अतीचार वा पांच २ भावनायें कही जाती हैं। ये भावनायें (जिनके चिंतवनसे व्रत दृढ़ होते और निर्दोष पलते हैं) सर्व-देश महाव्रतोंको और एकदेश अणुव्रतोंको लाभ पहुँचाती है। सूत्रकारोंने भी जहां व्रतोंके महाव्रत, अणुव्रत दो भेद बताये हैं, वहीं ये पांच-पांच भावनाएं भी कही हैं, इसलिये इन भावनाओंका देशव्रत, महाव्रत दोनोंसे यथासंभव सम्बन्ध जानना चाहिये।

अहिंसाणुव्रत

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" प्रमत्तयोग अर्थात्

कषायोंके वश होकर प्राणोंका नाश करना सो हिंसा है। वहां मिथ्यात्व, असंयम, कषायरूप परिणाम होना सो भावहिंसा और इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास, आयु प्राणोंका विध्वंस करना सो द्रव्यहिंसा है। जिस प्रकार जीवको स्वयं अपनी भावहिंसाके फलसे चतुर्गतिमें भ्रमण करते हुए नाना प्रकार दुःख भोगने पड़ते हैं और द्रव्यहिंसा (शरीरसे आत्माका बलात् वियोग अर्थात् मरण) होनेसे अति कष्ट सहन करना पड़ता है, उसी प्रकार दूसरोंके द्रव्य और भाव प्राणोंकी हिंसा करनेसे भी तीव्र कषाय और तीव्र वैर उत्पन्न होता है जिससे इसे जन्म-जन्मान्तरोंमे महान् दुःखकी प्राप्ति होती है।

जो जीव संसार-परिभ्रमणसे अपनी रक्षा करना चाहते हैं उन्हें सदा स्व-पर-दयापर दृष्टि रखना चाहिये। जो स्वदया पालन करते हैं उन्हींसे बहुधा नियमपूर्वक पर-दया पालन हो सकती है। अतएव स्व-दयानिमित्त विषय-कषाय घटाना योग्य है और पर-दयानिमित्त किसी भी जीवको कषाय उत्पन्न करना या शारीरिक कष्ट देना कदाचित् योग्य नहीं।

जिस प्रकार झूठ, चोरी आदि सब पापोंमें हिंसापाप शिरमौर और सबका मूल है उसी प्रकार सत्य, अचौर्यादि धर्मोंमें अहिंसा धर्म शिरमौर है। भावार्थ—पापोंका सब परिवार हिंसा की पर्यायें और पुण्यका सब परिवार अहिंसाकी पर्यायें हैं।

इस विषयमें जब आत्माकी चैतन्यशक्तिकी अपेक्षा देखा

जाता है तो एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत वनस्पति, कीड़े, मकोड़े, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदि सभी जीव चैतन्यशक्ति युक्त हैं, इस नातेसे छोटे-बड़े सब जीव आपसमें भाई-भाई हैं, ऐसी दशामें किसी भी जीवको वध करना भ्रातृवधके समान महा पापबंधका कारण है। दूसरे अनादिकालसे संसारमें भ्रमते हुए जीवोंके अनेक वार आपसमें पिता, माता, भ्राता, पुत्र, स्त्री, बहिन, बेटी आदिके अनेक नाते हुए, इसलिये उनको कष्ट देना, उनका वध करना, धर्मपद्धति एवं लोकपद्धतिसे सर्वथा विरुद्ध है। तीसरे, जब कोई अपना छोटासा भी शत्रु (जिसका अपनने कभी थोड़ासा बुरा किया हो) होता है तो मनमें सदा उसकी तरफकी चिंता लगी रहती है। भला फिर जब सहस्रों जीवोंका नित्यप्रति चलते, उठते-बैठते विध्वंस किया जाय, बाधा पहुँचाई जाय तो उनसे शत्रुता उत्पन्न करके निश्चिन्ततापूर्वक धर्म-साधन करना कैसे संभव हो सकता है? कदापि नहीं। चौथे जिस जीवको दुःख दिया जाता व मारा जाता है वह नियम करके बदला लेनेको तत्पर होता है, चाहे, उसमें बदला लेनेकी शक्ति हो व न हो, इसलिए जिन जीवोंको तुच्छ व निर्बल समझकर हिंसाकी जाती है, वे जीव इस पर्यायमें व अन्य पर्यायमें अवश्य दुःख देंगे अथवा दूसरे जीवोंके वध करनेके लिये जो कषायरूप परिणाम होता है उससे जो पापकर्मका बंध होता है उसकी उदय अवस्थामें

अवश्यमेव दुःखके कारण उत्पन्न होंगे। इस प्रकार हिंसाको महापाप तथा जीवका परम दुःखदाई वैरी जान त्यागनेका दृढ़ संकल्प करना सो "अहिंसाणुव्रत" है।

बुद्धिमानोंको हिंस्य-हिंसक-हिंसा-हिंसाफलके स्वरूपको भलीभांति जानकर विचारपूर्वक प्रवर्तना योग्य है, क्योंकि अंतरङ्ग-कषायभावों और बाह्य प्राणवधके भेदसे हिंसाके अनेक भेद होते हैं। यहां पर कुछ भेद लिखे जाते हैं, सभीमें बहुधा प्रमत्तयोगकी मुख्यता रहती है, इसलिये प्रमत्तयोग होनेके निमित्त कारणोंको दूर करनेमें प्रयत्नशील होना धर्मप्रेमियोंका कर्तव्य है।

(१) सावधानीपूर्वक गमनादि क्रिया करते हुए कर्मयोगसे यदि कोई जीव पांवतले आकर पीड़ित भी हो जाय, तो इस दशामें प्रमत्तयोगके अभावसे हिंसाका दोष नहीं लगता। यदि असावधानी रहे और कोई जीव न मरे तो भी प्रमत्तयोग होनेके कारण हिंसाकृत पाप लगता है।

(२) जिनके हिंसा-त्यागका नियम नहीं हैं उनके हिंसा न करते हुए भी तत्सम्बन्धी पापका आस्रव होता रहता है। नियम होनेपर फिर तत्सम्बन्धी आस्रव नहीं होता।

(३) कषायभावोंकी तीव्रता, मन्दता एवं वासनाके अनुसार किसीको तीव्र, किसीको मन्द, किसीको हिंसा करनेके पहिले किसीको करते समय और किसीको हिंसा कर चुकनेपर

हिंसाका फल प्राप्त होता है ।

(४) कभी-कभी ऐसा होता है कि एक पुरुष तो हिंसा करता और फल अनेक पुरुष भोगते हैं । जैसे किसीको फांसी लगते देख बहुत लोग कारित-अनुमोदनके दोषसे हिंसाके फलके भागी होते है ।

(५) कभी-कभी ऐसा होता है कि हिंसा तो बहुत लोग करते हैं, परन्तु फलका भोक्ता एक ही होता है, जैसे, सेनाके लड़ते हुए संग्राम-सम्बन्धी पापका भागी राजा होता है ।

(६) यदि कोई पुरुष ऐसा कहे कि मेरे अन्तरंग परिणाम शुद्ध है, इसलिए बाह्य आरम्भ हिंसा करते हुए, तथा परिग्रह रखते हुए भी मुझे कोई पाप नहीं लगता, सो ऐसा कहना ठीक नहीं । उसके परिणाम कदापि शुद्ध नहीं रह सकते; क्योंकि उसके ये सब कार्य बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करनेसे ही हो रहे हैं ।

(७) यदि कोई जीव किसीका भला कर रहा हो और कर्मयोगसे बुरा हो जाय, तो उसे पुण्यका ही फल होगा । इसी प्रकार यदि कोई जीव किसीकी बुराईका प्रयत्न कर रहा हो और कर्मयोगसे भला हो जाय, तो उसे पाप ही का फल लगेगा ।

(८) कोई-कोई कहते हैं कि साग तथा अन्नके अनेक दानोंको भक्षण करनेकी अपेक्षा एक जीवका मांस-भक्षण करने

में अल्प पाप है; क्योंकि जीव-जीव तो समान हैं, सो ये समझ ठीक नहीं। अन्तरंग ज्ञान-प्राण और बाह्य शारीरिक प्राणोंके घातकी अपेक्षा एकेन्द्रीकी हिंसासे बेइन्द्रीकी हिंसामें असंख्यात गुणा पाप वा निर्दयता होती हैं। इसी प्रकार क्रमसे तेइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्रीकी हिंसामें पाप वा निर्दयताकी अधिकता जानों, अतएव अन्न-साग भक्षणकी अपेक्षा मांसभक्षणमें अनंत-गुणा पाप व निर्दयपना विशेष है।

(९) असह्य दुःखसे पीड़ित जीवको देख शीघ्र ही दुःख से छूट जानेका बहाना करके गोली, तलवार आदिसे उसे मार डालना अज्ञानता है; क्योंकि उस जीवके मार डालनेपर भी जिस पापके फलसे उसे तीव्र दुःख उत्पन्न हुआ है उस पाप पापके फलसे उसे छुड़ाना किसीके आधीन नहीं है। वे दुःख उस जीवको इस पर्यायमें नहीं, तो अगली पर्यायमें भोगने ही पड़ेंगे। मारनेवाला अपनी अज्ञानतावश व्यर्थ ही हिंसा-फलका भागी होता है, क्योंकि अति दुःखी होते हुए भी कोई जीव मरना नहीं चाहता, ऐसी हालतमें उसे मार डालना, प्राणघात करना है।

(१०) कई लोग ऐसी शंका करते हैं कि जैनधर्ममें भी तो मन्दिर बनवाना, प्रतिष्ठा करना आदि आरम्भ करनेका उप-देश है और इन कामोंमें हिंसाकृत पाप होता ही है फिर जैनी लोगोंका अहिंसा धर्म कैसा? उसका समाधान—जैनी गृहस्थ

लोग धर्मसाधनके अभिप्रायसे अर्थात् जहां १०-२० गृहस्थ-जैनियोंके घर हों और उनके धर्मसाधनके लिये धर्मसाधनके योग्य स्थान न हो, ऐसी जगह आवश्यकता जान धर्मबुद्धि-सहित, ख्याति, लाभ, पूजाकी इच्छारहित, न्यायपूर्वक कमाये हुए द्रव्यसे ममत्व घटाकर यत्नाचारपूर्वक*मन्दिर बनवाते हैं। इसलिये शुभ परिणामोंके कारण समें महान पुण्यका बन्ध होता है, सावधानी रखते हुए भी किंचित् आरम्भिक हिंसा-जनित अल्प पाप उस महान् पुण्यके सामने समुद्रमें विषकी कणिकाके समान कुछ भी बिगाड़ करनेको समर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि जिनमन्दिर बनानेमें सांसारिक विषय-कषाय दूर करने तथा मोक्ष-प्राप्तिके कारण वीतरागता-विज्ञानताकी सामग्री मिलाई जानेसे पुण्य बहुत और यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तनसे आरम्भिक हिंसा अल्प होती है। सिवाय इसके ऐसे महान् पुण्यके कार्यमें द्रव्य-व्यय करनेसे लोभ कषाय रूप अन्तरङ्ग हिंसाका त्याग होता है; क्योंकि वह द्रव्य विषय-कषायके कामोंमें न लगकर पापोंकी निवृत्ति और महान् सुकृतकी उत्पत्ति

*पानी छानकर लगाना, गीला-चूना-मिट्टी आदि बहुत दिनोंतक नहीं पड़ा रहने देना, रात्रिके अन्धेरेमें काम नहीं चलाना, जीव-जन्तु बचाकर काम चलाना, सदा जीव-रक्षाके परिणाम रखना, मजदूरोंकी मजदूरी बराबर देना आदि सब काम विवेकपूर्वक करना यत्नाचार कहलाता है। इसी तरह पूजा प्रतिष्ठादि सब कामोंमें यत्नाचार रखना चाहिये।

में लगता है। इसी कारण शास्त्रोंमें पुण्यबन्धकी करनेवाली पूजा-प्रतिष्ठादि आरम्भ-जनित शुभ क्रियाएँ गृहस्थके लिए करनेका उपदेश है। हां! जहां आवश्यकता न हो और केवल अपने नाम या मान-बड़ाई आदिके अभिप्रायसे यत्नाचाररहित होकर मन्दिर बनाया जाय और उसमें धर्मसाधन न किया जाय, तो केवल पाप बंधनका कारण हो सकता है।

(११) कोई-कोई लोग ऐसा कहते हैं कि धर्मके निमित्त की हुई हिंसा, पापका कारण नहीं; किन्तु पुण्यका कारण है सो उनका ऐसा कहना मिथ्या है। हिंसा तो त्रिलोक-त्रिकालमें पुण्य-रूप हो ही नहीं सकती, पापरूप ही है। यदि हिंसा ही पुण्यका कारण हो तो अहिंसा धर्म व्यर्थ ही ठहरे, और देवी-देवताओंके निमित्त वध करनेवाले ही पुण्यवान् ठहरें, सो जहां जीवोंको निर्दयतापूर्वक दुःख दिया जाता है वहां पुण्य होना कदापि सम्भव नहीं होता। हां! पुण्यके कार्योंमें यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तते हुए भी जो अबुद्धिपूर्वक अल्पहिंसा हो जाती है वह पुण्यकी अधिकताके कारण कुछ शुमार नहीं की जाती, तो भी बुरी है। हरएक कार्यमें कषायकी हीनता-अधिकता, परोपकार-परपीड़ा तथा दया-निर्दयताके अनुसार पुण्य-पापका बंध होता है।

इस प्रकार अनेक नयोंसे हिंसाकृतपापोंके भेदोंको समझकर त्याग करना सच्चा "अहिंसाव्रत कहलाता है।

यद्यपि हिंसा सर्वथा त्यागने योग्य है, तथापि गृहस्थाश्रममें रहकर गृहसम्बन्धी षट्कर्मोंके किये विना चल नहीं सकता। गृहस्थोंको चक्कीसे पीसना, उखलीमें कूटना, चूल्हा जलाना, बुहारना, पानी भरना तथा द्रव्योपार्जनके लिये धंधा करना ही पड़ता है, ऐसी दशामें स्थावरहिंसा तथा आरम्भ-सम्बन्धी त्रसहिंसाका त्याग उनके लिए अशक्यानुष्ठान है, वे इसके त्यागनेको असमर्थ हैं, तो भी त्रसहिंसाकी बात तो दूर ही रहे, वे व्यर्थ स्थावरकायकी भी हिंसा नहीं करते। इसी कारण शास्त्रोंमें जहां-तहां गृहस्थको स्थूलहिंसा अर्थात् संकल्पी-त्रसहिंसाका त्यागी अणुव्रती कहा है।

प्रगट रहे कि हिंसा*संकल्पी-आरम्भीके भेदसे दो प्रकार की है जिसका स्वरूप नीचे कहा जाता है।

(१) संकल्पीहिंसा—किसी त्रसजीवको आप संकल्प करके मारना अर्थात् शरीराश्रित प्राणोंका घात करना, दूसरोंसे मरवाना अथवा जान-बूझकर मारनेका विचार करना, सो संकल्पी हिंसा कहलाती है।

---

*श्री सारचतुर्विंशतिका (मूल) में हिंसाके संकल्पी और आरम्भीके सिवाय उद्यमी और विरोधी ये दो भेद और भी कहे हैं। (१) उद्यमी—आजीविका के धन्धोंमें यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तते हुए अनिच्छापूर्वक जो हिंसा होती है। (२) विरोधी—राज्य-कार्यादिमें अनिच्छापूर्वक जो हिंसा होती है।

नोट—ये दोनों भेद आरम्भी हिंसामें गर्भित हो सकते हैं।

(२) आरम्भी हिंसा—गृहसम्बन्धी पंचसून—चक्की-उखली आदि की क्रियाओं—अथवा आजीविकाके धंधोंमें हिंसासे भयभीत होते हुए तथा सावधानी रखते हुए भी जो हिंसा हो जाय सो आरम्भी हिंसा कहलाती है।

प्रगट रहे कि व्रती श्रावक संकल्पी हिंसा कदाचित् भी नहीं करता, यहां तक कि संकल्प करके सर्पादि हिंसक-जीवोंको भी नहीं मारता, ऐसा सागारधर्मामृतमें स्पष्ट कहा है। यद्यपि संकल्पी हिंसा दार्शनिकश्रावक भी नहीं करता तो भी अतीचार दोष लगनेके कारण उसे व्रत संज्ञा नहीं हो सकती, यहां अतीचारोंका भी नियमपूर्वक त्याग हो जाता है। प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में भी कहा है "व्रत प्रतिमाधारी श्रावक शत्रु आदिको मूकी-लाठी आदिसे भी नहीं मारता है तो सिंह, शत्रु आदिको प्राणरहित कैसे करेगा?" पुनः शास्त्रोंमें यह भी कहा है कि यदि कोई आरम्भमें यत्नाचारपूर्वक न प्रवर्ते, तो उसकी आरंभी हिंसा, संकल्पीके भावको प्राप्त होती है, अतएव गृहस्थको "त्रसहिंसाको त्याग वृथा थावर न सँघारे" इस वाक्यके अनुसार चलना चाहिये अर्थात् संकल्पी त्रसहिंसा के त्यागके साथ-साथ व्यर्थ स्थावर-हिंसा भी न करना चाहिये।

[अहिंसाणुव्रतके पंचातीचार]

(१) वध—किसीको लाठी, मूका, कोड़ा, चाबुकसे मारना। यहां शिक्षाके अभिप्रायसे बालक तथा अपराधी पुरुष

आदिको दंड देना गिन्तीमें नहीं है।

(२) बंध—इच्छित स्थानको जाते हुए किसीको छेड़ना, रोकना या रोककर बांधना, कैद करना। यहां पालतू गाय, भैंसादिको घरमें बांधना गिन्तीमें नहीं है; परन्तु इतना अवश्य है कि वे इस तरह न बांधे जावें, जिससे उन्हें किसी प्रकार-की पीड़ा हो।

(३) छेद—नाक फोड़ना, पांव तोड़ना, अंगभंग करना, बैल बधिया करना। यहां बालकोंका कर्ण छेदन न लेना।

(४) अतिभारारोपण—गाड़ी, घोड़ा, बैल आदिपर प्रमाणसे अधिक बोझा लादना।

(५) अन्नपान निरोध—खाने-पीनेको समयानुसार न देना, भूखों-प्यासों मारना।

इन पंच अतीचारोंके तजनेसे अहिंसा अणुव्रत निर्दोष पलता है। यदि अतीचार लगे तो व्रत सदोष हो जाता है, अतएव अतीचार दोष न लगने देना चाहिये।

[अहिंसाणुव्रत की पंच भावना ×]

(१) मनोगुप्ति—मनमें अन्यायपूर्वक विषय भोगनेकी

× बार बार किसी बातके स्मरण करनेको, पुनरावृत्ति करनेको भावना कहते हैं। भावनाओंके बार-बार चिन्तवन करनेसे परिणामोंमें निर्मलता व्रतोंमें दृढ़ता होती है। अशुभध्यानका अभाव और शुभ भावोंकी वृद्धि होती है। श्रीतत्वार्थसूत्रजी में पांचों व्रतोंकी पांच-पांच भावना सामान्यरूपसे कही गई हैं, उनको अणुव्रतोंमें एक देश और महाव्रतोंमें सर्वदेश समझना

वांछा दूसरोंका इष्टवियोग, हानि, तिरस्कार चिंतवन आदि दुष्ट संकल्प-विकल्प न करना।

(२) वचनगुप्ति—हास्य, कलह, विवाद, अपवाद, अभिमान तथा हिंसाके उत्पन्न करनेवाले वचन न बोलना।

(३) ईर्यासमिति—त्रसजीवोंकी विराधना रहित, हरित त्रण, कर्दमादिको छोड़ देख-शोध, धीरतासे यत्नाचारपूर्वक गमन करना, चढ़ना, उतारना, उल्लंघन करना, जिससे आपको वा दूसरे जीवोंको बाधा तथा हानि न हो।

(४) आदान-निक्षेपण-समिति—हरएक वस्तु-पात्र आदि यत्नसे उठाना, धरना, जिससे अपनी वा परकी हानि न हो, आपको वा परको संक्लेश वा शारीरिक पीड़ा न हो।

(५) आलोकित-पान-भोजन—अंतरंगमें द्रव्य क्षेत्र-काल-भावकी योग्यता-अयोग्यता देखकर और बाह्यमें दिवस-में उद्योतमें, नेत्रोंसे भलीभांति देख-शोध आहार करना, जल पीना।

इन पांच भावनाओंका सदा ध्यान रखनेसे व्रतोंमें अधिका-धिक गुणोंकी प्राप्ति होती है। जैसे औषधिमें सोंठ या पानके रसकी भावना देनेसे तेजी बढ़ती है; वैसे ही भावनाओंके चिंत-वन करनेसे व्रत निर्मल होता है और दोष नहीं लगने पाते।

चाहिये। यहांपर रत्नकरण्डश्रावकाचारके भाषा टीकाकार पं० सदासुखजीके कथनानुसार पंचाणुव्रतोंकी भावना कही गई हैं।

जो लोग इस प्रकार भलीभांति अहिंसाणुव्रतके स्वरूपको जान अंतरंग कषायभाव व बाह्य आरम्भी-त्रसहिंसा नहीं करते, वे ही सच्चे अहिंसाणुव्रतके पालक एवं स्थूल-हिंसाके त्यागी हैं।

[२ सत्याणुव्रत]

"प्रमत्तयोगादसदभिधानमनृतम" अर्थात् कषायभाव पूर्वक अयथार्थ भाषण करना असत्य कहलाता है। जैसे—होतेको अनहोता या भलेको बुरा कहना अथवा अनहोतेको होता या बुरेको भला कहना, ये सब असत्य हैं। पुनः ऐसे सत्यवचन को भी असत्य जानना, जिसके बोलनेसे दूसरोंका अपवाद, बिगाड़ या घात हो जाय, अथवा पंच पापमें प्रवृत्ति हो जाय; क्योंकि ऐसे भाषण करनेवालेके वचन सत्य होते हुए भी चितवृत्ति पापरूप ही रहती है। इसी प्रकार जिस वचनसे भलाई उत्पन्न हो, पापसे बचाव हो, वह वचन असत्य होते हुए भी बोलनेवालेके शुभ विचारोंका द्योतक है इसलिए सत्य है। इस प्रकार सत्य-असत्यका स्वरूप भलीभांति जान उपर्युक्त प्रकार स्थूल असत्यका त्याग करना सो सत्याणुव्रत कहलाता है।

हिंसाके समान असत्य भी बड़ा भारी पाप है, एक झूठके बोलनेपर उसकी पुष्टताके लिये सैकड़ों झूठे प्रमाण ढूंढने पड़ते हैं, जिससे आकुलता-व्याकुलता बढ़कर स्वात्महिंसाके साथ-

साथ कभी-कभी स्वशरीर घात करनेका कारण भी उपस्थित हो जाता है। असत्यवादी दूसरोंको मानसिक एवं शारीरिक कष्ट तथा हानि पहुँचाकर पर द्रव्य-भाव—हिंसाका भी भागी होता है। जिस प्रकार अपनसे कोई झूठ बोले, धोखा दे तो अपने हृदयमें अति दुःख होता है, उसी प्रकार किसीसे आप झूठ बोलें या धोखा दें, तो उसको भी दुःख होना सम्भव है। अतएव असत्य भाषणमें हिंसाकृत दोष निश्चय करके इसे सर्वथा तजना योग्य है। असत्य-भाषणसे लोकमें निन्दा होना, राज्यसे दंड मिलना आदि अनेक दोष उत्पन्न होते और परलोकमें कुगति होती है। इसके विरुद्ध सत्यभाषणसे लोकमें प्रामाणिकता, यश, बड़प्पन तथा लाभ होता और परलोकमें स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति होती है। असत्यके विशेष भेद यद्यपि अनेक हैं तथापि सामान्यतः ४ भेद हैं।

(१) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे होती (छती) वस्तुको अनहोती कहना (२) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अनहोती वस्तु को होती कहना (३) कुछका कुछ कह देना (४) गर्हितवचन अर्थात् दुष्टताके वचन, चुगलीरूप वचन, हास्यरूप वचन, मिथ्या-श्रद्धानके वचन, कठोरवचन, शास्त्रविरुद्ध वचन, व्यर्थ बकवाद, विरोध बढ़ानेवाले वचन, पापरूप वचन, अप्रिय वचन कहना।

यद्यपि गृहस्थाश्रमी पुरुष भोगोपभोगके साधनमात्र सावद्य-

वचनके त्यागनेको असमर्थ है, तो भी यथासम्भव इसमें भी असत्य भाषणका प्रयोग नहीं करता, शेष सर्व प्रकारके असत्य का त्यागी होनेसे सत्याणुव्रती हो सकता है। हरएक मनुष्यको चाहिये, कि जिससे परजीवका घात हो, ऐसे हिंसक वचन न कहे, जो दूसरोंको कड़ुवे लगें अथवा क्रोध उपजावें, ऐसे कर्कश वचन न बोले, दूसरोंको उद्वेग, भय, शोक, कलह उत्पन्न करनेवाले निष्ठुर वचन न बोले, दूसरोंके गुप्त भेद प्रकट करनेवाले अथवा जिससे किसीको हानि पहुँचनेकी सम्भावना हो, ऐसे वचन न बोले, सदा दूसरोंके हितकारी, प्रमाणरूप, सन्तोष उपजानेवाले, धर्मको प्रकाशित करनेवाले वचन कहे।

प्रगट रहे कि अनृतवचनके सर्वथा त्यागी महामुनि तथा एकदेश-त्यागी श्रावक, अन्य श्रोतागणोंके प्रति बारम्बार हेयोपादेयका उपदेश करते हैं, इसलिये उनके पाप निषेधक वचन, पापी पुरुषोंको निष्ठुर और कटुक लगते हैं। तो भी प्रमत्तयोग के अभावसे उन वक्ताओंको असत्य भाषणका दूषण नहीं लगता; क्योंकि प्रमादयुक्त अयथार्थ भाषण असत्य कहलाता है।

[सत्याणुव्रतके पंचातीचार]

(१) मिथ्योपदेश—शास्त्रविरुद्ध उपदेश देना अर्थात् उपदेश तो सत्य हो परन्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके विरुद्ध हो, धर्मका बाधक हो।

(२) रहोभ्याख्यान—किसीकी गुप्त बात प्रकट करना अथवा स्त्री-पुरुषोंकी गुप्त चेष्टाको प्रगट करना।

(३) कूटलेखक्रिया—झूठी बातें लिखना या अन्यके नामसे उसकी आज्ञा विना सत्य भी लिखना, झूठी गवाही देना।

(४) न्यासापहार—किसीकी धरोहर रक्खी हो और वह भूलकर कम रक्खी हुई बतावे या कम मांगे तो कम ही देना।

(५) साकार मन्त्रभेद—किसीके अभिप्रायको उसकी किसी चेष्टा द्वारा जानकर औरोंपर प्रकट करना।

बहुधा लोग इन पञ्च अतीचारोंमें कुछ भी दोष न समझकर और साधारण रीतिसे लौकिक पद्धति समझकर अतीचाररूप काम करते हैं; परन्तु स्मरण रहे कि ये कार्य सत्याणुव्रतको दूषित करनेवाले हैं। इतना ही नहीं किन्तु इनके वार-वार वर्ताव करनेसे सत्याणुव्रत भंग हो जाता है। इसलिए इन दोषोंको बचाना चाहिये।

[सत्याणुव्रतकी पंच भावना]

(१) क्रोधत्याग—क्रोध नहीं करना, यदि किसी बाह्य प्रबल कारणसे क्रोध उत्पन्न हो जाय तो विवेकपूर्वक उसे दमन करना, मौन धारण करना।

(२) लोभत्याग—जिससे असत्यमें प्रवृत्ति होती हो, ऐसे

लोभको छोड़ना।

(३) भयत्याग— जिससे धर्मविरुद्ध, लोकविरुद्ध वचनमें प्रवृत्ति हो जाय, ऐसा धन बिगड़ने, शरीर बिगड़नेका भय नहीं करना।

(४) हास्यत्याग—किसीकी हँसी-मसखरी नहीं करना, हास्य-वचन नहीं कहना।

(५) अनुवीचि भाषण— जिन-सूत्रसे विरुद्ध वचन न बोलना।

इन पञ्च भावनाओंकी सदा स्मृति रखनेसे असत्य भाषण से रक्षा होती है और सत्याणुव्रत निर्मल होता है। इसलिये जो पुरुष सत्याणुव्रतको निर्दोष पालना चाहें, वे सदा इन पञ्च भावनाओंको भाते रहें, जिससे लोक-परलोकमें सुखके भागी हों।

[अचौर्याणुव्रत]

"प्रमत्तयोगाददत्तादानं स्तेयम्" कषायभावयुक्त होकर दूसरेकी वस्तु उसके दिये विना या आज्ञा विना ले लेना चोरी कहलाती है। चोरीके सर्वथा त्यागसे अचौर्य महाव्रत और एकदेश (स्थूल) त्यागसे अणुव्रत होता है। किसीके रक्खे हुए, गिरे हुए, भूले हुए तथा धरोहर रक्खे हुए द्रव्यको नहीं हरण करना और न उसके मालिककी आज्ञा विना किसीको दे देना, इस प्रकार स्थूल चोरीका त्याग, सो अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

संसारमें धन ग्यारहवां प्राण है, धनके लिये लोग अपने प्राणोंको भी सङ्कटमें डालते नहीं डरते। रण-संग्राम, समुद्र, नदी, पर्वत, गहन-वनादिमें जहां प्राणोंके नाशकी संभावना रहती है, वहां भी धनके लिये प्रवेश करते हैं, यदि चोर, ठगादि लूटनेको आवें, तो प्राण देना कबूल करते हैं, पर धन देना कबूल नहीं करते। इस प्रकार धनको प्राणोंसे भी अधिक प्यारा समझते हैं। इसलिये जो पराया धन हरण करता है सो मानो पराये प्राण ही हरण करता है और आप पापबंध करके अपने आत्मीक ज्ञान-दर्शन प्राणोंका घात करता है। चोरीसे इस भवमें राजदण्ड, जातिदण्ड मिलता, निन्दा होती तथा परभवमें नीच गतियोंके दुःख भोगने पड़ते हैं। ऐसा जानकर दृढ़-चित्त, शुद्ध-बुद्धि पुरुषोंको उचित है कि दूसरेकी भूली हुई अथवा मार्गमें पड़ी हुई वस्तु न लेवें। छल-छन्दसे किसीका द्रव्य न लेवें। अपने पास किसीकी धरोहर रक्खी हुई हो, उसे दबा लेनेकी इच्छा न करें। किसीकी बहुमूल्य वस्तु अल्पमूल्यमें न लेवें। क्रोध-मान-माया-लोभसे किसीका द्रव्य न लें और न लेनेवालेको भला कहें।

गृहस्थ जलाशयोंका जल तथा खानिकी मिट्टी या ऐसे फलादिक जो आम लोगोंके भोगोपभोगके लिये नियत किये गये हों, बिना दिये ले सकता है। तथा चारागाह जो आम लोगोंके निस्तारके लिये छोड़ दी गई हो, उसमें ढोर चरा

सकता है। क्योंकि वह राजाकी तरफसे प्रजाके निस्तारके लिए नियत की गई हैं, इसमें विशेष बात यह है कि किसीके रखाए हुए, रोके हुए, ठेकेपर दिये हुए जल, मिट्टी, फल, घास-फूस आदिको स्वामीकी आज्ञाके विना लेनेसे चोरीका दोष लगता है। किसी पुरुषके मरनेपर उसके धनका अपने तईं वारिस होना निश्चय होते हुए भी उस धनको उस पुरुषके जीते जी अपनाना या उसकी मरजीके विना दूसरोंको दे देना, किसीकी पंचायती या मुकद्दमा सच्चा अथवा झूंठा फैसला करके रिश्वत लेना, किसीकी बहुमूल्यकी वस्तु जानबूझकर कम मोल में ले लेना, अपने धन-वस्त्रादिमें ये हमारा है या नहीं? ऐसा संशय होते हुए भी ले लेना ये सब चोरी ही की पर्यायें हैं, क्योंकि इन सबमें प्रमत्तभावका सद्भाव है। अतएव प्रत्येक गृहस्थको "जल-मृतिका बिन और नांहि कछू गहै अदत्ता" इस वाक्यके अनुसार अचौर्यव्रत पालन करना चाहिये।

[अचौर्याणुव्रतके पंच अतीचार]

(१) चौरप्रयोग—चोरीके उपाय बताना कि चोरी अमुक-अमुक रीतिसे की जाती है या चोरी करनेवालोंको सहायता देना।

(२) चौरार्थादान—चोरी किया हुआ पदार्थ ग्रहण करना, मोल लेना।

(३) विरुद्धराज्यातिक्रम— विरुद्धराज्यमें जाकर अन्याय-पूर्वक लेन-देन करना, राज्यके कानूनको तोड़ना, राज्यका महसूल चुराना। पुनः रत्नकरण्डश्रावकाचारमें विलोप कहा है अर्थात् राज्यके नियमोंको तोड़ना तथा राजाज्ञाके विरुद्ध काम करना।

(४) हीनाधिकमानोन्मान—नापने, तौलनेके गज बांटादि कम-बढ़ रखना।

(५) प्रतिरूपकव्यवहार—बहुमूल्यकी चीजमें अल्पमूल्य की चीज मिलाकर बहुमूल्यके भावसे बेचना।

बहुधा अनसमझ व्यापारी लोग राज्यमें मालका महसूल नहीं चुकाते, बेचने-लेनेमें कम बढ़ तोलते या दूधमें पानी, घीमें तेल आदि खोटा खरा मिलाकर बेचते हैं, अथवा झूठे विज्ञापन (इश्तिहार) देकर लोगोंको ठगते, मालका नमूना कुछ और बताते और पीछे माल और कुछ देते हैं, इत्यादि अनेक कपट चतुराई करते और इसे व्यापार-धन्धा समझते हैं। सो ये सब चोरीका ही रूपान्तर है। अतएव इन पांच अतीचारोंको अचौर्यअणुव्रतमें दोष उत्पन्न करनेवाले जान त्यागना योग्य है।

[अचौर्याणुव्रतकी पंच भावना]

(१) शून्यागारवास—व्यसनी, दुष्ट, तीव्र, कषायी कलह विसंवाद करनेवाले पुरुषोंसे रहित स्थानमें रहना।

(२) विमोचितावास—जिस मकानमें दूसरेका झगड़ा न हो, वहां निराकुलता पूर्वक रहना।

(३) परोपरोधाकरण—अन्यके स्थानमें बलपूर्वक प्रवेश नहीं करना।

(४) भैक्ष्यशुद्धि—अन्यायोपार्जित द्रव्य द्वारा प्राप्त किया हुआ, तथा अभक्ष्य भोजनका त्याग करना, अपने कर्मानुसार प्राप्त शुद्ध भोजनको लालसारहित, सन्तोषहित ग्रहण करना।

(५) सधर्माविसंवाद—साधर्मी पुरुषोंसे कलह-विसंवाद नहीं करना।

इन पंच भावनाओंको सदा स्मरण रखकर अचौर्याणुव्रत दृढ़ रखना तथा और भी जिन कारणोंसे अचौर्यव्रत दृढ़ रहे, उन कारणोंको सदा मिलाते रहना चाहिए।

[ब्रह्मचर्याणुव्रत]

"प्रमत्तयोगान्मैथुनमब्रह्म" प्रमत्तयोग अर्थात् वेदकषाय जनित भावयुक्त स्त्री-पुरुषोंकी रमणक्रिया कुशील कहलाता है। इस कुशीलके त्यागको ब्रह्मचर्यव्रत कहते हैं। यथार्थमें ब्रह्म जो आत्मा उसमें ही आत्माके उपयोग (चैतन्यभाव)की चर्या अर्थात् रमणक्रिया (गमनागमन) सच्चा ब्रह्मचर्य है। उस सच्चे ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मामें उपयोगके स्थिर होनेको बाधक कारण मुख्यपने स्त्री है इसलिये जब सम्यग्ज्ञानपूर्वक

स्त्रीसे विरक्त होकर कोई पुरुष मुनिव्रत धारण करता है, तभी आत्म-स्वरूपमें रमनेवाला साधु (आत्मस्वरूपका साधक) कहलाता है। इसी कारण स्त्रीका सर्वथा त्याग करना व्यवहार ब्रह्मचर्य कहा गया है। गृहस्थके इतनी अधिक वेदकषायकी मन्दता न होनेसे अर्थात् प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होने से वह सर्वथा स्त्री-त्याग करनेको असमर्थ है। ऐसी हालतमें वेद-कषाय सम्बन्धी वेदनाकी उपशांतिके लिये स्वदारसन्तोष धारना अर्थात् देव, गुरु, शास्त्र एवं पंचोंकी साक्षीपूर्वक विवाही स्व-स्त्रीके सिवाय और सब पर-स्त्रियोंका त्याग करना ही गृहस्थ का ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

यद्यपि राजा, जाति, तथा कुटुम्बके भयसे अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अभावमे (योग्यता न मिलनेसे) लोकमें व्यभिचार रुका हुआ है अर्थात् इन कारणोंसे लोग व्यभिचार सेवन नहीं करते, तो भी वह कुशीलत्याग व्रत नहीं कहला सकता; क्योंकि इसमें प्रमत्तयोगका अभाव नहीं है। जब इन उपर्युक्त कारणोंके विना सम्यग्ज्ञानपूर्वक कुशीलको धर्मका बाधक जान, पापके भयसे परस्त्रीको न तो आप सेवन करे, न दूसरोंको सेवन करावे और न परस्त्री-सेवीको भला समझे, केवल अपनी विवाही हुई स्त्रीमें ही सन्तोष धारण करे, तभी सच्चा स्वदार सन्तोषी एवं कुशीलत्यागी कहला सकता है। उसे उचित है कि अपनी स्त्री-सिवाय अन्य अपनेसे छोटीको

पुत्री समान, बराबर वालीको बहिन समान और बड़ीको माता समान जान कदापि विकार भाव न करे।

विचार करनेकी बात है कि जब कोई पुरुष किसीकी स्त्री, मां, बहिन या बेटीकी तरफ कुदृष्टिसे देखता, हंसता या कुचेष्टा करता है तब उसके चित्तमें इतना असह्य क्रोध तथा दुःख उत्पन्न होता है कि वह दोषीके मारने-मरनेको तय्यार हो जाता है, यही बात हरएक पुरुष स्त्रीको ध्यानमें रखना चाहिये। व्यभिचार सेवन करनेसे स्व-पर-द्रव्य भाव-हिंसा होती तथा राजदंड, पंचदंडकी प्राप्ति होती है। प्रत्यक्ष ही देखो कि व्यभिचारके कारण सैकड़ों स्त्री पुरुषोंके प्राणघातके मुकद्दमें सरकारी अदालतोंमें नित्यप्रति आते हैं। पुनः स्त्रीके योनि, कुच, नाभि, कांख आदि स्थानोंमें सम्मूर्छन, सैनी, पंचेन्द्रिय मनुष्य (जीव) सदा उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए स्त्री सेवनसे उन प्राणियोंका घात होता है। स्वस्त्रीके कामके अंगोंके स्पर्श, रस, गंध, वर्णकी समानता होनेसे स्वस्त्री सेवनमें कम हिंसा और परस्त्रीके स्प°, रस, गंध, वर्णकी असमानता होनेसे परस्त्री सेवनमें असंख्यात गुणी द्रव्य-हिंसा होती है। इसी प्रकार कामकी मूर्च्छा अर्थात् लम्पटभाव भी स्वस्त्री सम्बन्धमें बहुत कम और परस्त्री सम्बन्धमें बहुत (उत्कट) होनेसे अनन्तगुणी भाव-हिंसा होती है। इसी कारण पर-स्त्रीकी लुब्धता व्यसनोंमें और स्वस्त्री-सेवन विषयोंमें कहा गया है।

इस प्रकार यह कुशील हिंसाका परिवार एवं महापाप है। जैसे सप्त व्यसनोंका मूल जुआ है उसी प्रकार पंच पापोंका उत्पादक यह व्यभिचार है।

इस दोषसे बचनेके लिए अन्य स्त्री (वेश्या, दासी, परस्त्री, कुमारी आदि) सेवनका सर्वथा त्याग करना चाहिये, तभी परस्त्री त्याग अथवा स्वस्त्रीसंतोषव्रत पल सकता है। कोई-कोई कहते हैं कि परस्त्रीका त्यागी वेश्यासेवन करे तो अतीचार दोष लगता है; क्योंकि वेश्या परस्त्री नहीं है उसने किसीके साथ विवाह नहीं किया, सो ऐसा कहना महा अनर्थ एवं पापका कारण है। वेश्यासे बोलने, आने, जाने, देन-लेन रखनेसे ही शीलव्रतमें अतीचार दोष लगता है, उसका सेवन सप्त व्यसनका मूल, अनेक रोगों व आपदाओंका उत्पादक है। वेश्याको 'नगरनारि' कहा है। वह एक ही पर-पुरुषकी स्त्री नहीं है नगर-परनगर सभी स्थानोंके पुरुषोंके पैसेकी स्त्री है, इसी कारण वेश्यासेवनको पहले छोड़नेका आचार्योंने उपदेश दिया है, पीछे परस्त्री त्यागका। अतएव जिसने वेश्या-व्यसनका त्याग किया हो, वही परस्त्री त्याग एवं स्वदार-सन्तोषव्रत धारण करनेका अधिकारी हो सकता है; क्योंकि लघुपाप त्याग महापाप सेवन करना सर्वथा क्रमविरुद्ध और अनुचित है, पुनः ऐसी विधिको निरूपण करना भी महापाप है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत धारक पुरुषको पूर्ण गर्भवती (जिसके ५ माहसे अधिकका गर्भ हो) प्रसूतवाली जिस स्त्रीके बच्चा उत्पन्न हुए सूतकका काल डेढ़ माह पूर्ण न हुआ हो) रजस्वला, रोगिणी, बालिका, कुंआरी, अतिवृद्धा स्वस्त्री का भी सेवन न करना चाहिये। चैत्यालय, तीर्थ स्थान, पवित्र वा पूज्य क्षेत्र तथा अपवित्र स्थानमें स्वस्त्रीका भी सेवन न करना चाहिये। अष्टमी, चतुर्दशी, तीनों अष्टान्हिका, सोलह कारण, दशलक्षण, रत्नत्रयादि महापर्वों एवं शील—संयम पालनेके समयोंमें, सहधर्मियों, राजाओं, महन्तपुरुषों एवं इष्ट पुरुषोंके मरण समय, इन कालोंमें भी स्वस्त्रीका सेवन भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे पापबंध होनेके सिवाय लोक-निन्दा तथा रोगोंकी उत्पत्ति होती है।

वैद्यक ग्रन्थोंमें स्पष्ट लिखा है कि ऋतुधर्मके कालमें स्त्रीसेवन करनेसे स्त्री पुरुष—दोनोंकी धातु-क्षीण, गर्मी, सुजाकादि रोग होना संभव हैं, यदि गर्भ रह जाय तो दुर्गुणी, अल्पायु सन्तान उत्पन्न होती है। शास्त्रोंमें ऋतुसमय स्त्रीसे संभाषण करने तकका निषेध है। उसे स्पर्श करने, उसके छूए हुए भोजन-पान करनेसे बुद्धि मन्द, मलीन और भ्रष्ट हो जाती है, फिर उसे सेवन करना हानिकारक क्यों न हो? अवश्य ही हो। इसी प्रकार अल्पवयस्क स्त्रीको सेवन करनेसे स्त्रीकी आदत बिगड़ जाती और बहुधा व्यभिचारिणी

हो जाती है। रोगिणी तथा अतिवृद्धा स्त्रीके सेवनसे धातुक्षीण हो जाती है। स्वस्त्रीमें अतीव कामसेवन तथा अनंगक्रीड़ा करना प्रगट ही दुःखका कारण है, इससे इन्द्रियोंकी शिथिलता, स्वप्नदोष, पिंडलियोंमें शूल, शरीरकी अशक्तता, धातुविकार, प्रदर-रोग, रज-दोष, सन्तानहीनता, वंध्यापना, नपुंसकता आदि दोष उत्पन्न होते हैं, ऐसा जान योग्य प्रवृत्ति करना ही श्रेष्ठ है।

इस व्रतके विषयमें पुरुषोंकी नांई स्त्रियोंको भी स्वप्नमें पर पतिकी वांछा नहीं करना चाहिये। अपने विवाहित पति की, चाहे वह सुन्दर-- सर्वगुणसम्पन्न हो, चाहे रोगी, वृद्ध, कुरूप, लूला, लंगड़ा कैसा भी क्यों न हो सेवा करना, उसकी आज्ञामें चलना और पतिव्रत-धर्मको निर्दोष पालना चाहिये। स्त्रियोंको किसी भी हालतमें कभी स्वच्छन्द (स्वतन्त्र) नहीं रहना चाहिये, क्योंकि स्वेच्छाचार पूर्वक रहनेसे व्यभिचारादि अनेक दोषों एवं निन्दाओंका उत्पन्न होना संभव है, अतएव स्त्रियोंको बचपनमें माता-पिताके आधीन, विवाह होने पर पतिके आधीन कदाचित् विधवा हो जाय तो पुत्रादि कुटुम्बी जनोंके आधीन रहना चाहिये। विधवाओंको ब्रह्मचर्यव्रत धारणपूर्वक आत्मकल्याणमें प्रवर्तना चाहिये अथवा उत्तम श्राविका या आर्यिकाकी दीक्षा लेकर साधर्मी स्त्रियोंके संघमें रहकर गुरानीकी आज्ञापूर्वक प्रवर्तना चाहिये। ऐसी स्त्रियां देवों द्वारा स्तुति-

पूजाको प्राप्त होती और मरण पश्चात् स्वर्गमें उत्तम महर्द्धिक देव से होती हैं।

[कुशीलत्याग अणुव्रतके पंचातिचार]

(१) परविवाहकरण—अपने पुत्र-पुत्री सिवाय दूसरोंके पुत्र-पुत्रीकी शादीका मेल मिलाना शादी करना।

(२) इत्वरिका परिग्रहीतागमन—व्यभिचारिणी स्त्री जिसका स्वामी हो, उसके घर आना-जाना या उससे बोलने, उठने-बैठने, लेन-देनका बर्ताव करना।

(३) इत्वरिका अपरिग्रहीतागमन—स्वामीरहित व्यभिचारिणी स्त्रीके घर आना-जाना, या उससे बोलने, उठने-बैठने, लेन-देनका वर्ताव करना।

(४) अनंगक्रीडा—कामसेवनके अंगोंको छोड़ अन्य अंगों द्वारा क्रीड़ा करना या अन्य क्रियाओं द्वारा कामकी शान्ति करना।

(५) कामतीव्राभिनिवेश—स्वस्त्रीमें भी कामसेवनकी अति लम्पटता रखना। द्रव्य, क्षेत्र, काल भावके विचारे विना काम-सेवन करना।

सूचना—यहां जो ब्याही या बेब्याही परस्त्रीके प्रति गमन करना लिखा है, सो गमन शब्दका अर्थ उसके यहां जाना अथवा जघन, स्तन, दांत आदि अंगोंका रुचिपूर्वक देखना, प्रेमपूर्वक वार्तालाप करना, हाथ, भौंह आदिकी चेष्टा करना

आदि जानना। गमन शब्दका अर्थ सेवन नहीं है।

इन पंच अतीचारोंके लगनेसे ब्रह्मचर्य अणुव्रत मलीन होता है तथा बार-बार लगनेसे क्रमशः नष्ट हो जाता है। अतएव इन्हें त्याग निर्दोष ब्रह्मचर्य अणुव्रत पालना चाहिये।

[ब्रह्मचर्याणुव्रतकी पंच भावना]

(१) **स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग**— अन्यकी स्त्रियोंमें राग उत्पन्न करनेवाली कथा-वार्ता-गीत, सुनने-पढ़ने-कहनेका त्याग करना।

(२) **तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्याग**–अन्यकी स्त्रीके मनोहर अंगोंको रागभावपूर्वक न देखना।

(३) **पूर्वरतानुस्मरण**—अणुव्रत धारण करनेके पहिले अव्रत अवस्थामें भोगे हुए भोगोंका स्मरण नहीं करना।

(४) **वृष्येष्टरसत्याग**—कामोद्दीपक पुष्ट एवं भरपेट व रस-मात्रादिक भक्षण न करना।

(५) **स्वशरीरसंस्कारत्याग**—कामी पुरुषों सरीखे कामोद्दीपन करने योग्य शरीरको नहाने, तेल उबटनादि लगाने, वस्त्रादि पहिरने, शृंगार करनेका त्याग करना, सादा पहिनाव उढ़ाव रखना।

इन पंच भावनाओंके सदा चिंतवन करनेसे परस्त्रीत्याग एवं स्वदारसंतोष व्रत दृढ़ रहता है, इसलिये ब्रह्मचर्य अणुव्रतीको इन भावनाओंका सदा चिंतवन करना चाहिये।

[५ परिग्रह-परिमाण अणुव्रत]

"प्रमत्तयोगान्मूर्च्छा परिग्रहः" आत्माके सिवाय जितनेमात्र रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, औदारिकादि नो कर्म तथा शरीरसम्बन्धी स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, गृह, क्षेत्र, वस्त्र, बर्तन आदि चेतन अचेतन पदार्थ हैं, सो सब पर हैं, इन्हें ग्रहण करना व इनसे ममत्वभाव रखना सो परिग्रह है। इस परिग्रहका आवश्यकताके अनुसार परिमाण करना सो परिग्रह परिमाण व इच्छापरिमाण अणुव्रत है।

जीव अनादिकालसे मिथ्यात्वकर्मके उदयवश अपनी आत्माको और इन कर्म-नोकर्म, स्त्री-पुत्रादि परिग्रहोंको एक स्वरूप ही श्रद्धान कर रहा है। यद्यपि प्रत्यक्ष देखता है कि मरने पर स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादि साथ नहीं जाते, यहांतक कि आत्मासे एक क्षेत्रावगाह रहनेवाला यह नाशवान शरीर भी यहीं पड़ा रह जाता है, भाव-कर्म, द्रव्य-कर्म भी आत्मासे भिन्न हैं; जबतक आत्माभूलवश इनका कर्ता बनता है, तबतक चतुर्गति में भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार दुःख भोगता है, यथार्थमें ये सब पदार्थ इस आत्माको स्वरूपसे—च्युत करनेवाले हैं। इसीलिए परोपकारी आचार्योंने भली भांति समझा-समझाकर उपदेश दिया है कि "हे भव्यजीवो ! तुम जिस परिग्रहको अनपाअपना कहते हो और जिसके लिये तुम धर्म-अधर्म करते कुछ भी नहीं डरते वह रञ्चमात्र भी तुम्हारे साथ जानेवाला नहीं है।"

श्रीगुरुके ऐसे सदुपदेशको सुनकर जिन जीवोंका अच्छा होनहार है, वे भलीभांति परीक्षापूर्वक उपर्युक्त बातोंपर दृढ़ विश्वास (श्रद्धान) कर लेते हैं और चाहते हैं कि कब हम इन परवस्तुओंके मेलसे रहित होकर निश्शल्य (सुखी) होवें। ऐसा विचारकर जो उत्तम पुरुष मुनिव्रत धरनेको समर्थ हैं, वे इन परिग्रहोंको तृणवत् तुच्छ जान तजकर महाव्रती हो जाते हैं और जो पुरुष प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे कीचड़ (दलदल)में फँसे हुए गजराजके समान इस परिग्रहके सर्वथा त्यागनेको असमर्थ हैं, वे गृहस्थाश्रममें रहकर अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी योग्यतानुसार क्षेत्र, मकान (वास्तु), चांदी, सोना, धन (पशु), धान्य (अनाज), दासी, दास, वस्त्र, वर्तन इन दश प्रकारके परिग्रहोंका प्रमाण कर लेते हैं। प्रगट रहे कि जितने अंशोंमें ममत्वबुद्धि (अन्तरंग-परिग्रह) तथा धन, धान्यादि बाह्य-परिग्रह घटता है उतनी ही अधिक उपयोगकी स्थिरता आत्मस्वरूपमें होती है, जो पारमार्थिक रसास्वादका कारण है।

जो परिमाण वर्तमान परिग्रहको घटाकर किया जाय, वह उत्तम है। जो वर्तमान परिग्रहके बराबर ही परिमाण किया जाय वह मध्यम है तथा जो वर्तमान परिग्रहसे अधिक परिमाण किया जाय, वह जघन्य परिग्रहपरिमाणव्रत है। यद्यपि यह जघन्यभेद प्रशंसनीय नहीं है तथापि हद (सीमा) हो जानेसे

यह भी अधिक तृष्णामें पड़नेसे बचाता है । तृष्णा पंचपापकी उत्पादक, आकुलता-व्याकुलताकी जड़ महा-दुःखदाई है । अतएव तृष्णा घटाने और निश्शल्य होनेके लिए परिग्रह प्रमाण करनेसे बढ़कर और कोई दूसरा उपाय नहीं है; क्योंकि नीतिकारोंका वाक्य है—

दोहा—

गोधन, गजधन, वाजिधन और रतन धन खान ।
जब आवत सन्तोष धन, सब धन धूलि समान ॥१॥
चाह घटी चिन्ता गई, मनुआ बे-परवाह ।
जिनको कछू न चाहिये, ते शाहनपति शाह ॥२॥

यद्यपि अन्तरङ्ग मूर्च्छा घटानेके लिये बाह्यपरिग्रह घटाया जाता है तथापि बाह्यपरिग्रह घटानेपर भी जो मूर्च्छा न घटाई जाय तो प्रमत्तयोगके सद्भावसे यथार्थ परिग्रहपरिमाणव्रत नहीं हो सकता ।

यहां कोई प्रश्न करे कि अर्हन्त परमेष्ठीके समवसरण, छत्र, चमरादि बहुतसी अलौकिक विभूति पाइये है, फिर उन्हें अपरिग्रही, वीतरागी कैसे माना जाय ? उसका समाधान—तीर्थंकर भगवान् गृहस्थपना छोड़, सम्पूर्ण परिग्रह त्याग, वीतरागी हो आत्मस्वरूप साध, परमात्मा अर्हन्त हुए, तब उनकी पूर्वसंचित तीर्थंकर पुण्य-प्रकृतिके उदयवश यद्यपि इन्द्रादिक देवोंने समवसरण की रचना की, उनके छत्र, चमरादि

मंगल द्रव्योंकी योजना की, तथापि मोहके सर्वथा अभावसे उनके उस विभूतिसे कुछ भी ममत्वबुद्धि (मूर्च्छा) नहीं है। पुनः उनकी वीतरागताका प्रत्यक्ष नमूना यह है कि वे समवसरण-स्थित सिंहासनसे अन्तरीक्ष (चार अङ्गुल अधर) विराजमान रहते हैं। इस प्रकार अन्तरंग मूर्च्छा और बाह्य परिग्रह रहित होनेसे वे पूर्ण वीतरागी हैं।

[परिग्रहपरिमाण अणुव्रतके पंचातिचार]

तत्त्वार्थसूत्रजीमें कहा है कि क्षेत्रवास्तु आदि पांच युग्म अर्थात् दश प्रकारके परिग्रहोंका परिमाण बढ़ा लेना, अथवा कोईका परिमाण घटा लेना, कोईका प्रमाण बढ़ा लेना।

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें इस प्रकार भी कहा है—(१) प्रयोजनसे अधिक सवारी रखना, (२) आवश्यकीय वस्तुओं का अतिसंग्रह करना, (३) दूसरोंका विभव देख आश्चर्य अथवा इच्छा करना, (४) अति लोभ करना, (५) मर्यादासे अधिक बोझ लादना।

इन पंचातिचारोंसे परिग्रह-परिमाण व्रत सदोष होता है। इसलिए व्रत निर्दोष पालनेके निमित्त इन अतीचारोंको टालना चाहिये।

[परिग्रहपरिमाण अणुव्रतकी पंच भावना]

बहुत पापबन्धके कारण अन्याय-अभक्ष्य रूप पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका यावज्जीव त्याग करना। कर्मयोगसे मिले

हुए मनोज्ञ विषयोंमें अतिराग व आसक्तता नहीं करना तथा अमनोज्ञ विषयोंमें द्वेष-घृणा नहीं करना।

इन भावनाओंके सदा स्मरण रखनेसे परिग्रह-परिमाण व्रत में दोष लगने रूप प्रमाद उत्पन्न नहीं होने पाता तथा व्रतमें दृढ़ता रहती है।

[पंचाणुव्रत धारण करनेसे लाभ]

सम्यक्त्वी गृहस्थ हिंसादि पंच पापोंको मोक्षमार्गके साधनों-का विरोधी एवं विघ्नकर्ता जानता है, परन्तु गृहस्थाश्रममें फँसे रहनेके कारण विवश हो इनको सर्वथा त्याग नहीं सकता, केवल एकदेश त्याग कर सकता है। इस त्यागसे इसे लौकिक पारलौकिक दोनों प्रकारके लाभ होते हैं। यथा—

लौकिक लाभ ये हैं:—सर्वजन ऐसे पुरुषको धर्मात्मा प्रामाणिक समझते, इसलिये उसकी इज्जत करते, सर्वप्रकार सेवा सहायता करते और आज्ञा मानते हैं। उसका लोकमें यश होता है। न्याय-प्रवृत्तिके कारण उसका धन्धा अच्छा चलता है, जिससे धन-सम्पदादि सुखोंकी प्राप्ति होती है। जितने कुछ राजसम्बन्धी, जातिसम्बन्धी दण्ड तथा लौकिक अपवाद हैं, वे सब इन स्थूल पञ्च पापोंके लिये ही हैं, अतएव इनका त्यागी कदापि राज एवं पञ्चों द्वारा दण्डित तथा लोकनिंद्य नहीं हो सकता, ऐसे ही पञ्च पापके त्यागी (सच्चे ब्राह्मण) शास्त्रों में अदण्ड कहे गये हैं। यदि इन पापोंके त्यागका प्रचार

लोकमें सर्वत्र हो जाय, तो पुलिस, न्यायालय एवं सेनाकी आवश्यकता ही न रहे, राजा और प्रजा दोनों आर्थिक, शारीरिक तथा मानसिक कष्टोंसे बचे रहें। शास्त्रोंसे विदित होता है कि पूर्व कालमें आर्य-नृपतियोंकी सभाओंमें मुकदमोंके फैसले होनेकी जगह पञ्च-पाप निषेधके उपदेश दिये जाते थे। उस समयके प्रजारक्षक, राजहितैषी सर्व शुभेच्छु ऋषि, मुनि, त्यागी ब्रह्मचारी गृहस्थाचार्य एवं राजनीतिज्ञ पुरुष सर्व साधारणको इन दोषोंसे बचनेका उपदेश देकर राजा-प्रजाका हित करते थे। जहां-तहां हरएक मतके देवालयों, मठों, धर्मशालाओं आदिमें भी इन दोषोंसे बचनेका उपदेश दिया जाता था, जिसकी थोड़ी बहुत प्रथा अब भी अपभ्रंशरूपमें जीती-जागती दिखाई देती है। इसी कारण उस समय इन पञ्च पापोंकी प्रवृत्ति बहुत कम होती थी। उस समय झगड़ोंका निपटारा करनेके लिये न्यायालयों (अदालतों)की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी, जातीय पञ्चायतें स्वयं फैसला कर लेती थीं, राजा, राज प्रजा चैन करती थी।

पारलौकिक लाभ ये हैं :—पञ्च पापोंके स्थूल त्यागसे बहुतसी प्रमाद्-कषायजनित आकुलता-व्याकुलतायें घट जाती हैं, पाप-बन्ध नहीं होता और शुभ कार्योंमें विशेष प्रवृत्ति होकर सातिशय पुण्य-बंध होता है जिससे आगामी स्वर्गादि सुखों की और परम्परया शीघ्र ही मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है।

[सप्तशीलोंका वर्णन]

पहले कह ही आए हैं कि सप्तशीलोंमें तीन गुणव्रत तो अणुव्रतोंको दृढ़ करते उनकी रक्षा करते और चार शिक्षाव्रत मुनिव्रतकी शिक्षा देते अर्थात् इन अणुव्रतोंको महाव्रतोंकी सीमा तक पहुँचाते, उनसे सम्बन्ध कराते हैं।

सूत्रकारोंने दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत इन तीनोंको गुणव्रतोंमें तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग इन चारोंको शिक्षाव्रतोंमें कहा है। परन्तु श्रावकाचार ग्रन्थोंमें बहुधा भोगोपभोगपरिमाणको गुणव्रतोंमें और देशव्रत (देशावकाशिक) को शिक्षाव्रतोंमें कहा है। सो इसमें आचार्योंकी केवल कथनशैलीका भेद है, अभिप्राय-भेद नहीं; क्योंकि दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण तो आरम्भिक पञ्च पापोंकी हद बांधते और देशविरति तथा अतिथिसंविभाग उस हदको घटाते (क्षीण करते) हैं, पुनः सामायिक-प्रोषधोपवास कुछ काल तक उन स्थूल पापोंसे सर्वथा रक्षा करते हैं। चारित्रपाहुडकी टीकामें कहा है कि किसी-किसी आचार्यने दिग्व्रत, अनर्थदण्ड, भोगोपभोग-परिमाण ये तीन गुणव्रत। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और समाधिमरण ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं। सो ऐसा जान पड़ता है कि वहां दिग्व्रतमें देशविरतको गर्भित किया है अथवा भोगोपभोगपरिमाणके नियमोंमें नित्य प्रमाण होनेसे देशविरत (देशाव-

काशिक) इसमें भी गर्भित हो सकता है। वसुनन्दिश्रावकाचार में सामायिक, प्रोषधोपवासको व्रतोंमें न कहकर अलग-अलग तीसरी चौथी प्रतिमामें ही कहा है और भोगप्रमाण, उपभोग प्रमाण, अतिथिसंविभाग, सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं। यहांपर श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचारकी पद्धतिके अनुसार इनका वर्णन किया जाता है।

[तीन गुणव्रत—१ दिग्व्रत]

पाप (सावद्य योग) की निवृत्तिके हेतु चार दिशा—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर। ४ विदिशा—आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान। १ ऊपर। १ नीचे। इस प्रकार दशों दिशाओंका प्रमाण, वन, पर्वत, नगर, नदी, देश आदि चिन्हों द्वारा करके उसके बाहिर सांसारिक विषय-कषाय सम्बन्धी कार्योंके लिए न जानेकी यावज्जीव प्रतिज्ञा करना, सो दिग्व्रत कहलाता है।

सूचना—प्रमाण अपनी योग्यता विचारकर करना चाहिये। इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि निरर्थक ही आवश्यकतासे अधिक क्षेत्रका प्रमाण न कर लिया जाय। सिवाय इसके दिग्व्रती को यह भी उचित है कि जिस क्षेत्र (देश)में जानेसे श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र दूषित या भंग होता हो, उस क्षेत्रमें भी जानेका त्याग करे।

[दिग्व्रतके पंचातीचार]

(१) प्रमादवश मर्यादासे अधिक ऊंचा चढ़ जाना।

(२) प्रमादवश मर्यादासे अधिक नीचे उतर जाना।

(३) प्रमादवश समानभूमिमें दिशा-विदिशाओंकी मर्यादाके बाहिर चले जाना।

(४) प्रमादवश क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ा लेना।

(५) प्रमादवश की हुई मर्यादा को भूल जाना।

लाभ—दिग्व्रत धारणसे अणुव्रतीको यह बड़ा भारी लाभ होता है कि अपने आने-जाने आदि बर्तावके क्षेत्रका जितना प्रमाण किया है, उससे बाहिर क्षेत्रकी तृष्णा घट जाती है, मनमें उस क्षेत्रसम्बन्धी किसी प्रकारके विकल्प भी उत्पन्न नहीं होते तथा उस त्यागे हुए क्षेत्र सम्बन्धी सर्वप्रकार त्रस-स्थावर हिंसाके आस्रवका अभाव होनेसे वह पुरुष उस क्षेत्रमें महाव्रतीके समान हो जाता है। नोट—यहां महाव्रती उपचारसे जानना। इसके प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है, इसलिये यथार्थमें अणुव्रती ही है।

[२ अनर्थदण्ड-त्याग व्रत]

दिशा-विदिशाओंकी मर्यादापूर्वक जितने क्षेत्रका प्रमाण किया हो, उसमें भी प्रयोजन-रहित पापके कारणोंसे अथवा प्रयोजन-सहित महापाप (जिनसे धर्मकी हानि होती हो या जो धर्मविरुद्ध-लोकविरुद्ध-जातिविरुद्ध हों) के कारणोंसे विरक्त होना सो अनर्थदण्डत्यागव्रत है अथवा जिन कार्योंके करनेसे अपना प्रयोजन कुछ भी न सधता हो या अल्प-सधता हो और जिनका

दण्ड महान् हो अर्थात् नरकादि गतियोंमें दीर्घदुःख भुगतना पड़े उन अनर्थदण्डरूप क्रियाओंका त्याग करना, सो अनर्थदण्डव्रत है। अनर्थदण्डके पांच भेद हैं—

(१) पापोपदेश—पापमें प्रवृत्ति करानेवाला तथा जीवों को क्लेश पहुँचानेवाला, उपदेश देना या वाणिज्य, हिंसा, ठगाई आदिकी कथा (कहानी) कहना, जिससे दूसरोंकी पापमें प्रवृत्ति हो जाय। जैसे, किसीसे कहना, कि धान्य खरीद लो, घोड़ा, गाड़ी, भैंस, ऊंट आदि रख लो, बाग लगाओ, खेती कराओ, नाव चलाओ, अग्नि लगादो आदि।

(२) हिंसादान—हिंसा के उपकरण कुल्हाड़ी, तलवार, खंता, अग्नि, हथियार, सांकल आदि दूसरों को मांगे देना* भाड़ेमे देना या दानमें देना तथा इनका व्यापार करना।

(३) अपध्यान—रागद्वेष से दूसरोंके वध, बंधन, हानि, नाश होने या करने सम्बन्धी खोटे विचार करना, परस्पर वैर याद करना आदि।

(४) दुःश्रुति-श्रवण—चित्तमें रागद्वेषके बढ़ानेवाले, क्लेश उत्पन्न करानेवाले, काम जाग्रत करानेवाले, मिथ्या-भाव बढ़ानेवाले, आरम्भ परिग्रह बढ़ानेवाले, पापमें प्रवृत्ति करानेवाले तथा क्रोधादि कषाय उत्पादक शास्त्रों, पुस्तकों,

---

* सागारधर्मामृतकी टीकामें "जिनसे व्यवहार हो उनके सिवाय किसी को न देना" ऐसा भी कहा है।

पत्रादिकोंका प्रठन-पाठन करना, सुनना अथवा इसी प्रकारके किस्से कहानी कहना।

(५) प्रमादचर्या—विना प्रयोजन फिरना, दूसरों को फिराना। पृथ्वी-पानी-अग्नि-वनस्पति आदिका निष्प्रयोजन छेदना, भेदना, घात करना आदि।

[अनर्थदण्डत्यागव्रतके पंच अतिचार।]

(१) नीच पुरुषों सरीखे भंडवचन बोलना, कामके व हंसी-मसखरीके वचन कहना।

(२) काय की भंडरूप खोटी चेष्टा करना, हाथ-पांव मटकाना, मुंह बनाना आदि।

(३) व्यर्थ बकवाद करना या छोटी-सी बात बहुत आडम्बर बढ़ाकर कहना।

(४) बिना विचारे, मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति करना।

(५) अनावश्यक भोगोपभोग सामग्री एकत्र करना या उसका व्यर्थ व्यवहार करना।

अनर्थदण्ड-विरतिमें दोष लगानेवाले इन पंच अतीचारोंको छोड़ना चाहिये, जिससे व्रत दूषित होकर नष्ट न होने पावे।

लाभ—अनर्थदंड-त्याग करनेसे प्रयोजन-रहित अथवा अल्प प्रयोजन-सहित होनेवाले पापोंसे बचाव होता है।

[३ भोगोपभोग-परिमाण व्रत]

रागादि भावोंको मंद करनेके लिये परिग्रह-परिमाण व्रत की मर्यादामें भी कालके प्रमाणसे भोग-उपभोगका परिमाण करना, अधिक सेवनकी इच्छा न करना, सो भोगोपभोग-परिमाण व्रत है।

जो वस्तु एक बार भोगनेके बाद, फिर दुबारा भोगने योग्य न हो, उसे भोग कहते हैं। जैसे—भोजन, पान, सुगंध पुष्पादि।

जो वस्तु बार-बार भोगने योग्य हो, उसे उपभोग कहते हैं। जैसे—स्त्री, आसन, शय्या, वस्त्र, वाहन मकानादि।

भोगोपभोगका प्रमाण यम-नियम रूप दो प्रकारसे होता है। यावज्जीवन त्याग यम और दिन, रात्रि, मास, ऋतु, वर्ष आदि कालकी मर्यादा रूप त्याग नियम कहलाता है।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत धारण करनेमें नीचे लिखी बातों-पर ध्यान देना चाहिये—

(१) जिन वस्तुओंके भक्षण करनेमें त्रसजीवोंकी हिंसा की शंका हो या जिनके आश्रय त्रसजीव रहते हों, उनका भक्षण तजे। जैसे बेर, नीम-केवड़ा-केतकी-गुलाबादिके पुष्प तथा ऋतु बदलनेपर या वर्षाऋतुमें पत्तीदार भाजी न खावे।

(२) ऐसे भोगोपभोग तजे, जिनमें एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा अधिक और जिह्वाकी लंपटता अल्प हो। जैसे

कन्दमूलादि सप्रतिष्ठित वनस्पतियोंका भक्षण ।

यहां प्रकरणानुसार वनस्पति विषयक संक्षिप्त विवरण कहा जाता है —

वनस्पतिके सामान्य रीतिसे दो भेद हैं । साधारण और प्रत्येक । (१) जिस एक वनस्पति-शरीरके अनंत जीव स्वामी हों, वह साधारण वनस्पति कहाती है । (२) जिस एक वनस्पति-शरीरका एक ही जीव स्वामी हो, वह प्रत्येक वनस्पति कहाती है । इस प्रत्येकके दो भेद हैं ।

(१) अप्रतिष्ठित प्रत्येक—जिस वनस्पति शरीरका एक स्वामी हो तथा जिसके आश्रय कोई भी निगोद शरीर न हो । इसकी पहिचान–जिसमें रेखा-गांठें संधियें प्रत्यक्ष दिखती हों, जिसमें तंतु हों, और जो तोड़नेपर समभंग न टूटे, टेढ़ी-बांकी टूटे ।

(२) सप्रतिष्ठित प्रत्येक—जिस वनस्पति शरीरका स्वामी एक जीव हो तथा अनंत साधारण निगोद-जीव जिसके आश्रय रहते हों । इसकी पहिचान जिनमें रेखायें, गांठें प्रगट न हुई हों और तोड़ने पर तन्तु न लगे रहें, जो समभंग टूटें ।

प्रगट रहे कि फल, पुष्प, वृक्ष आदि उत्पत्ति समय अंतर्मुहूर्त तक निगोद रहित अप्रतिष्ठित ही रहते हैं । पीछे, उनमें निगोद जीव उत्पन्न होने लगते हैं । जब तक उनमें घर तंतु-शिरा-संधि स्पष्ट न हों या वे तोड़ने से बराबर टूटें,

तब तक सप्रतिष्ठित रहते हैं; जब ये लक्षण प्रगट हो जायं, तब उनमें के निगोद जीव निकल जानेसे वही अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाते हैं।

इस प्रकार साधारण सहित प्रत्येक अर्थात् सप्रतिष्ठित प्रत्येकके* भक्षणमें जीवहिंसा बहुत होती है, तहां कंद-मूलादि वनस्पति तो प्रायः साधारण निगोद सहित सप्रतिष्ठित ही सदा रहती है।× काकड़ी, तोरई, नारंगी, नीबू आदि फलों, तरकारियों या पुष्पोंमें शिरा-तंतु आदि निकलनेपर वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाते हैं। हां, यह बात दूसरी है कि इनमें किसीके आश्रय त्रस जीव रहते हों।

बहुतसे साधारण जैनी-गृहस्थ, आखड़ी रूपसे अथवा भोगोपभोग-प्रमाण व्रत धारक धार्मिक व्रती गृहस्थ, आरम्भ, हिंसा, इन्द्रियोंके दर्प तथा मनके संकल्प-विकल्पोंके घटाने एवं जिह्वाइन्द्रियका विषय घटानेके लिये अठाई, दशलक्षण, रत्नत्रय, सोलह कारण, अष्टमी, चतुर्दशी आदि पवित्र दिनों (पर्वों) में हरी वनस्पतियां भक्षण करना छोड़ देते हैं। यदि कर्मयोगसे सूखी तरकारीकी प्राप्ति हो जाय, तो खाते हैं। उनको कोई भाई यह कहकर भ्रममें डालते हैं कि जब पंचमी प्रतिमावाला

---

*इस सप्रतिष्ठित प्रत्येकको अनंत साधारण निगोद जीवोंयुक्त होनेसे साधारण भी कहते हैं। ×एक वृक्षमें वृक्षभरका स्वामी एक जीव तथा फूल, पत्ते, फलादिके स्वामी अलग २ जीव भी होते हैं।

भी हरीको सिझाकर (अचित्त करके) खा सकता है, तो तुम हरी खाना क्यों त्यागते हो? सिझाकर तुम भी क्यों नहीं खाते? सो ऐसे भाइयोंको विचारना चाहिये कि त्याग करने-वालोंने सचित्त-अचित्तके खयालसे (पांचवीं प्रतिमावालोंकी तरह) त्याग नहीं किया, हरीके खयालसे त्याग किया है, इसलिये वे हरीको सिझाकर या लवणादि मिलाकर नहीं खा सकते।

(३) प्रकृति विरुद्ध भोगोपभोग तजे, अर्थात् जिन पदार्थों के भक्षण या उपभोग करनेसे अपनेको रोग तथा क्लेश होता हो, उनका सेवन छोड़े।

(४) अनुपसेव्य अर्थात् उत्तम जाति-कुल-धर्मके विरुद्ध भोगोपभोग छोड़े। जैसे-शूद्रका छुआ हुआ तथा अशुद्ध स्थान में रक्खा हुआ भोजन। चौके बाहिरकी रोटी, दालादि रसोई। कुत्ता-कौआ आदि क्रूर हिंसक पक्षियोंका स्पर्शा या झूठा किया हुआ भोजन। मनुष्योंकी झूठन आदि। म्लेच्छों सरीखा पहिनाव-उढ़ाव, रहन-सहन आदि।

(५) बुद्धिको विकाररूप एवं विपर्यय करनेवाली प्रमाद जनक भांग-तमाखु-गांजा आदि नशीली वस्तुओंका भक्षण तजे।

(६) धर्म (चारित्र) को हानि पहुंचाने वाली विदेशी अज्ञात और अपवित्र औषधि आदि पदार्थोंका भक्षण तजे। इसी प्रकार अधिक हिंसाके धंधे, जिनमें निर्दयता अधिक और

लाभ थोड़ा हो, करना तजे। अयोग्य भोगोपभोगोंको सर्वथा तजे तथा योग्य भोगोपभोगोंका प्रमाण करे। इसके लिये आचार्योंने ग्रन्थोंमें नित्य १७ नियम करनेका उपदेश दिया है।

॥ श्लोक ॥

भोजने षट्रसे पाने कुंकुमादिविलेपने।
पुष्पताम्बूलगीतेषु, नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके॥
स्नानभूषणवस्त्रादौ वाहने शयनासने।
सचित्तवस्तुसंख्यादे प्रमाणं भज प्रत्यहं॥

अर्थ

(१) आज इतने वार भोजन करूंगा (२) छह रसों (दूध, दही, घी, शक्कर-गुड़ आदि मीठा, लौन (नमक) तेल मेंसे इतने रस खाऊंगा। (३) शर्बत या जलपान इतने वार करूंगा (४) चन्दन, केशर आदि का तिलक, तेल या कुंकुमादिका विलेपन इतने वार करूंगा। (५) पुष्प इतने प्रकार के और इतनी वार सूंघूगा (६) पान-सुपारी-इलायची आदि स्वाद्य पदार्थ इतने वार खाऊंगा (७) गीत सुनूंगा या नहीं (८) नृत्य देखूंगा या नहीं (९) आज ब्रह्मचर्यसे रहूँगा या नहीं (१०) आज इतने वार स्नान करूंगा (११) आभूषण (जेवरात) इतने और अमुक-अमुक पहिनूंगा (१२) वस्त्र इतने और अमुक-अमुक पहिनूंगा (१३) गाड़ी-घोड़ा-तांगा, रेल, मोटर-

बाइसकिल आदि अमुक-अमुक सवारी करूंगा (१४) बिस्तर-पलंग आदि इतने और अमुक-अमुकपर शयन करूंगा (१५) बेंच, कुरसी; आराम कुरसी, तखत, गादी आदि अमुक-अमुक और इतने आसनोंपर बैठूंगा (१६) सचित्त (हरी तरकारी) आज इतने खाऊंगा (१७) अन्यान्य वस्तुएँ इतनी रक्खूंगा*।

इस प्रकार १७ नियम नित्य प्रातःकाल सामायिक किये पीछे ले—और पहिले दिन लिये हुओंको संभाले, यदि किसी में दोष लगा हो, तो उसका शोधन करे, प्रायश्चित्त ले।

[भोगोपभोग-परिमाण व्रतके पंच अतीचार]

(रत्नकरंड-श्रावकाचार के अनुसार)

(१) विषय-भोगोंमें प्रीति करना, हर्ष मानना।

(२) पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना।

(३) वर्तमान भोग भोगनेमें अति लम्पटता रखना।

(४) भविष्यमें भोग प्राप्तिकी अति तृष्णा करना।

(५) विषय न भोगनेपर भी, विषय भोगने सरीखा अनुभव करना।

(तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार)

(१) भूलसे त्यागी हुई सचित्त×वस्तु भक्षण कर लेना।

---

*किसी-किसी ग्रंथ में सत्रहवाँ नियम यह लिखा है कि 'दशों दिशाओं-में इतनी-इतनी दूरतक गमन करूंगा।

× ज्ञात होता है कि भोगोपभोगपरिमाणव्रतका धारक, सचित्त त्यागके

(२) सचित्तसे सम्बन्धरूप अर्थात् सचित्त पर रक्खा हुआ या सचित्त से ढंका हुआ भोजन करना।

(३) सचित्त मिश्रित भोजन करना।

(४) जो दुःपक्व अर्थात् दुखसे पचे वा अधपका हो अथवा अधिक पककर बेस्वाद या कुरूप हो गया हो, ऐसा भोजन करना।

(५) पुष्टिकारक भोजन करना।

इन उपर्युक्त अतीचारोंके लगनेसे भोगोपभोगपरिमाण व्रत मलीन होकर क्रमशः नष्ट हो जाता है इसलिये ये अतीचार बचाना चाहिये।

लाभ—भोगोपभोगोंके यम-नियम रूप परिमाण करनेसे विषयोंकी अधिक लम्पटता तथा वांछा घट जाती है, जिससे चित्तकी चंचलता कम पड़ती और स्थिरता बढ़नेसे धर्मध्यान में चित्त अच्छी तरह लगता है।

(चार शिक्षाव्रत। १ देशावकाशिकव्रत)

दिग्व्रत द्वारा यावज्जीवन प्रमाण किये हुये क्षेत्रको कालके विभागसे घटा-घटा कर त्याग करना, सो देशव्रत कहाता है।

जितने क्षेत्रका यावज्जीवके लिये प्रमाण किया है, उतने

अभ्यासके लिए सचित्त वस्तुओंके भक्षणका भी प्रमाण या नियमरूप त्याग करता है, इसी कारणसे यहां इस प्रकार अतीचार कहे हैं। सचित्तका सर्वथा त्याग होनेसे इन अतीचारोंका अभाव पांचवीं प्रतिमामें होता है।

में नित्य गमनागमनका काम तो पड़ता ही नहीं, अतएव जितने क्षेत्रमें व्यवहार करनेसे अपना आवश्यकीय कार्य सधे, उतने क्षेत्रका प्रमाण दिन, दो दिन, सप्ताह, पक्ष, मासके लिये स्पष्ट रूपसे करले, शेषका त्याग करे, जिससे बाहिरके क्षेत्रमें इच्छा का निरोध होकर द्रव्य-भाव हिंसासे रक्षा हो।

[देशव्रतके पंचातीचार]

(१) मर्यादाके क्षेत्रसे बाहिर किसी मनुष्य या पदार्थको भेजना।

(२) मर्यादासे बाहिरके पुरुषको शब्द द्वारा सूचना देना।

(३) मर्यादासे बाहिरका माल मंगाना।

(४) मर्यादासे बाहिरके पुरुषको अपना रूप दिखाकर या इशारेसे सूचना देना।

(५) मर्यादासे बाहिरके पुरुषको कंकर, पत्थर आदि फेंककर चेतावनी कराना।

लाभ—दिग्व्रतके प्रमाणमेंसे जितना क्षेत्र देशव्रतमें घटाया जाता है उतने क्षेत्र सम्बन्धी गमनागमनका संकल्प-विकल्प तथा आरंभ सम्बन्धी हिंसादि पापोंका अभाव हो जाता है, जिससे देशव्रतीकी त्यागे हुए क्षेत्रमें उपचार-महाव्रतीके समान प्रवृत्ति रहती है।

[२ सामायिक शिक्षाव्रत]

मन-वचन-काय, कृत कारित अनुमोदनासे, मर्यादा तथा

मर्यादासे बाहिरके क्षेत्रमें नियत समय तक हिंसादि पंच पापों-का सर्वथा त्याग करना, रागद्वेष रहित होना, सर्व जीवोंमें समता भाव रखना, संयममें शुभ भावना करना, आर्त्त,रौद्र भाव का त्याग करना सो सामायिक शिक्षाव्रत कहाता है।

सामायिककी निरुक्ति एवं भाव इस प्रकार है कि 'सम' कहिये एकरूप होकर 'आय' कहिये आगमन अर्थात् पर द्रव्यों से निवृत्त होकर आत्मामें उपयोगकी प्रवृत्ति होना। अथवा 'सम' कहिये रागद्वेष रहित 'आयः' कहिये उपयोगकी प्रवृत्ति सो सामायिक है। भावार्थः—साम्यभावका होना सो ही सामा-यिक है। यह नाम स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके भेद से छह प्रकार है। यथा इष्ट, अनिष्ट नामोंमें रागद्वेष न करना। मनोहर, अमनोहर स्त्री-पुरुषादिकी काष्ठ, पाषाणादिकी स्थापना में रागद्वेष न करना। मनोज्ञ, अमनोज्ञ, नगर, ग्राम, वन आदि क्षेत्रोंमें रागद्वेष न करना। वसंत, ग्रीष्म ऋतु, शुक्ल-कृष्ण पक्ष आदि कालोंमें रागद्वेष न करना। जीवोंके शुभाशुभ भावों में रागद्वेष न करना। इस प्रकार साम्यभावरूप सामायिकके साधनके लिये बाह्यमें हिंसादि पंच पापोंको त्याग करना और अंतरंगमें इष्ट-अनिष्ट वस्तुओंसे रागद्वेष त्यागकी भावना करना अवश्य है, क्योंकि इन विरोधी कारणोंसे दूर करने और अनु-कूल कारणोंके मिलानेसे ही साम्यभाव होता है, इस साम्यभाव होनेपर ही आत्मस्वरूपमें चित्त मग्न होता है, जो सामायिक

धारण करनेका अंतिम साध्य है।

जब सामायिक १ योग्य द्रव्य (पात्र) २ योग्य क्षेत्र ३ योग्य काल ४ योग्य आसन ५ योग्य विनय ६ मनःशुद्धि ७ वचन शुद्धि ८ कार्यशुद्धि पूर्वक की जाती है तभी परिणाममें शांति-सुखका अनुभव होता है। यदि इन बाह्य कारणोंकी योग्यता-अयोग्यतापर विचार न किया जाय तो सामायिकका यथार्थ फल प्राप्त नहीं हो सकता, अतएव इनका विशेष स्वरूप वर्णन किया जाता है।

(१) योग्य द्रव्य (पात्र)—सामायिकके पूर्ण अधिकारी निर्ग्रंथ मुनिराज ही हैं, उन्हींके सामायिक संयम होता है, क्योंकि उन्होंने पंचेन्द्रिय तथा उनको वशकर अन्तरंग कषायों को निर्बल कर डाला है, बाह्य परिग्रहोंको तज, षट्कायकी हिंसाको सर्वथा त्याग कर दिया है, जिससे उनके सदाकाल समभाव रहता है। श्रावक (गृहस्थ या गृहत्यागी*) केवल नियत काल तक सामायिककी भावना भावनेवाला सामायिक व्रती या नियत काल तक समता भाव धरनेवाला सामायिक प्रतिमाधारी हो सकता है। जिस सामायिक द्वारा मुनि शुद्धोप-

*सागारधर्मामृत तथा धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें व्रत-प्रतिमासे ही गृहस्थ गृहत्यागी दो भेद कहे गये हैं। अर्थात् कोई-कोई श्रावक ऐसे भी होते हैं कि जो व्रत प्रतिमा धार, गृह छोड़, विचरते हुए, धर्मसाधनमें तत्पर रहते हैं, वे व्रतप्रतिमाधारी गृहत्यागी कहलाते हैं।

योगको प्राप्त होकर, संवरपूर्वक कर्मोंकी निर्जरा करते और समस्त कर्मोंका क्षय कर मोक्षको प्राप्त होते हैं, उसी सामायिक के प्रारम्भिक अभ्यासी श्रावक, शुभोपयोग द्वारा सातिशय पुण्य बंध करके अभ्युदययुक्त स्वर्गसुख भोग, परम्पराय मोक्षके पात्र हो सकते हैं।

(२) योग्य क्षेत्र—जहां कलकलाट शब्द न हो, लोगों-का संघट्ट (भीड़-भाड़) न हो, स्त्री, पुरुष, नपुंसकका आना, जाना, ठहरना न हो, गीत-गान आदिकी निकटता न हो, डांस, माछर, कीड़ी आदि बाधाकारक जीव-जन्तु न हों, अधिक शीत-उष्ण-वर्षा, पवनादि चित्तको क्षोभ उपजानेवाले तथा ध्यानसे डिगानेवाले कारण न हों, ऐसे उपद्रव रहित—वन घर, धर्मशाला-मन्दिर वा चित्त-शुद्धिके कारण अतिशय क्षेत्र, सिद्धक्षेत्र आदि-एकान्त स्थान ही सामायिक करने योग्य है।

(३) योग्य काल—प्रभात, मध्याह्न, संध्या इन तीनों समय उत्कृष्ट ६ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और जघन्य २ घड़ी योग्यतानुसार सामायिकका काल है। इसके सिवाय अधिक काल तक या अतिरिक्त समयमें सामायिक करनेके लिये कोई निषेध नहीं है। सबेरे ३ घड़ी, २ घड़ी, १ घड़ी रातसे ३ घड़ी २ घड़ी १ घड़ी दिन चढ़े तक। मध्याह्नको ३।२।१ घड़ी पहिलेसे ३।२।१ घड़ी पीछे तक। संध्याको ३।२।१ घड़ी पहिले से ३।२।१ घड़ी रात्रि तक सामायिक करना योग्य है। इन

समयोंमें परिणामोंकी विशुद्धता विशेष रहती है।

कई ग्रन्थोंमें सामायिक काल सामान्य रीतिसे ६ घड़ी कहा गया है। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीका और दौलत क्रियाकोषमें तीनों समय मिलाकर भी ६ घड़ी कहा है। श्री धर्मसारजीमें जघन्य २ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और उत्कृष्ट ६ घड़ी कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि सामायिक व्रतमें जघन्य दो घड़ी से लेकर उत्कृष्ट ६ घड़ी पर्यन्त योग्यतानुसार त्रिकाल सामायिक का काल है।

(४) योग्य आसन—काष्ठके पटियेपर, शिलापर, भूमिपर या बालू-रतमें पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके पर्यंकासन(पद्मासन) बांधकर या खड़े होकर (खड्गासन) अथवा अर्धपद्मासन* या पालथी मारकर, इनमेंसे जिस आसनसे शरीरकी थिरता, परिणामोंकी उज्ज्वलता नियत काल तक रहना संभव हो, उसी आसनसे क्षेत्रका प्रमाण करके इन्द्रियोंके व्यापार वा विषयोंसे विरक्त होते हुए, केश, वस्त्रादिको अच्छी तरह बांधकर (जिसमें उनके हिलनेसे चित्तमें क्षोभ न हो) हस्तांजली जोड, स्थिर चित्त करके सामायिक, वन्दनादि पाठोंका, पंच-परमेष्ठीका अथवा

*अर्ध-पद्मासन श्रीज्ञानार्णवजीके धर्मध्यान अधिकारमें कहा है; परन्तु उसका स्वरूप नहीं कहा। दक्षिण प्रान्तमें बहुत-सी प्रतिमायें ऐसे आसनयुक्त हैं कि जिनके दाहिने पांवकी पगतली ऊपर और बांये पांवकी पगतली नीचे है, लोग उसे अर्ध-पद्मासन कहते हैं।

अपने स्वरूपका चिंतवन करे और उसमें लीन हो।

(५) योग्य विनय—सामायिकके आरम्भमें पृथ्वीको कोमल वस्त्र या पूंजणी (अमाडीकी कोमल बुहारी) से बुहार (प्रतिलेखन) कर ईर्यापथ-शुद्धिपूर्वक खड़ा होवे, क्षेत्रकालका प्रमाण करे तथा ९ वार णमोकार मंत्र पढ़ हाथ जोड़ पृथ्वीपर मस्तक लगाकर नमस्कार करे। पश्चात् चारों दिशाओंमें नव-नव वार णमोकार मंत्र कहकर तीन-तीन आवर्त दोनों हाथकी अंजुली जोड़ दाहिने हाथकी ओरसे तीन वार फिराना) और एक-एक शिरोनति (दोनों हाथ जोड़ नमस्कार) करे। पीछे खड़े ही या बैठ कर योग्य आसनपूर्वक णमोकार मंत्रका जाप्य करे, पंच-परमेष्ठी के स्वरूपका चिंतवन करे, सामायिक पाठ* पढ़े, अनित्यादि द्वादश-अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करे तथा आत्मस्वरूपके चिंतवन पूर्वक ध्यान लगावे और अपना धन्य भाग समझे।

सामायिकपाठके ६ अंग हैं। (१) प्रतिक्रमण—अर्थात् जिनेन्द्र देवके सन्मुख अपने द्वारा हुए पापोंकी क्षमा-प्रार्थना करना। (२) प्रत्याख्यान—आगामी पाप त्यागकी भावना करना। (३) सामायिक कर्म—सामायिकके काल तक सब में ममताभाव त्याग, समताभाव धरना। (४) स्तुति—चौबीसों

*संस्कृत-प्राकृत पाठ यदि अपनी समझमें न आता हो, तो भाषा पाठ ही समझ-समझ कर, मनन करता हुआ पढ़े, जिससे भावोंमें विशुद्धि उत्पन्न हो।

तीर्थंकरोंका स्तवन करना। (५) वन्दना—किसी एक तीर्थंकरका स्तवन करना। (६) कायोत्सर्ग—कायसे ममत्व छोड़ आत्मस्वरूपमें लवलीन होना।

इस प्रकार समभाव पूर्वक चिंतवन करते हुए जब काल पूरा हो जाय, तब प्रारंभकी तरह आवर्त्त, शिरोनति तथा नमस्कार पूर्वक सामायिक पूर्ण करे।

(६) मनःशुद्धि—मनको शुभ तथा शुद्ध विचारोंकी तरफ झुकावे, आर्त-रौद्र ध्यानमें दौड़नेसे रोककर धर्मध्यानमें लगावे। जहां तक संभव हो पंच परमेष्ठीका जाप्य वा अन्य कोई भी पाठ, वचनके बदले मनसे स्मरण करावे, ऐसा करनेसे मन इधर-उधर चलायमान नहीं होता।

(७) वचनशुद्धि—हुंकारादि शब्द न करे, बहुत धीरे-धीरे या जल्दी-जल्दी पाठ न पढ़े, जिस प्रकार अच्छी तरह समझमें आवे, उसी प्रकार समानवृत्ति एवं मधुरस्वरसे शुद्ध पाठ पढ़े, धर्म-पाठ सिवाय कोई और वचन न बोले।

(८) कायशुद्धि—सामायिक करनेके पहले स्नान करने, अंग अँगौछने, हाथ-पांव धोने आदिसे जिस प्रकार योग्य हो, यत्नाचार पूर्वक शरीर पवित्र करके, पवित्र वस्त्र पहिन सामायिकमें बैठे और सामायिकके समय शिरकंप, हस्तकंप अथवा शरीरके अन्य अंगोंको न हिलावे-डुलावे, निश्चल अंग रक्खे। कदाचित् कर्मयोगसे सामायिकके समय चेतन-अचेतन कृत

उपसर्ग आजाय, तो भी मन-वचन-कायको चलायमान नहीं करता हुआ सहन करे ।

यहां कोई प्रश्न करे कि सामायिकके समय अचानक लघुशंका-दीर्घशंकाकी तीव्र बाधा आजाय, तो क्या करना चाहिये ? उसका उत्तर यह है कि प्रथम तो व्रती पुरुषोंका खान-पान नियमित होनेसे उनको इसप्रकारकी अचानक बाधा होना संभव नहीं, कदाचित् कर्मयोग से ऐसा ही कोई कारण आजाय, तो उसका रोकना या सहन असंभव होनेसे उस कामसे निपटकर, प्रायश्चित्त ले, पुनः सामायिक स्थापन करे ।

[सामायिक के पंच अतीचार]

(१-२-३) मन, वचन, कायको अशुभ प्रवर्ताना* ।

(४) सामायिक करनेमें अनादर करना ।

(५) सामायिकका समय वा पाठ भूल जाना ।

अतीचार लगनेसे सामायिक दूषित होती है, अतएव ऐसी सावधानी रखनी चाहिये, जिससे अतीचार दोष न लगे ।

लाभ—सामायिकके समय क्षेत्र तथा कालका परिणाम करके गृहव्यापार आदि सर्व-पाप योगोंका त्याग कर देनेसे

---

* असावधानीसे मनकी प्रवृत्ति—क्रोध, मान, माया लोभ, द्रोह, ईर्ष्या इन्द्रिय विषय रूप होना । वचनकी प्रवृत्ति—अस्पष्ट-उच्चारण, बहुत ठहर-ठहर कर वा अति शीघ्रता पूर्वक पाठ पढना । कायकी प्रवृत्ति-हस्त-पादादि शरीरके अंगोंका निश्चल न रखना ॥

सामायिक करनेवाले गृहस्थके सब प्रकार पापास्रव रुककर सातिशय-पुण्यका बंध होता है। उस समय वह उपसर्गमें ओढ़े हुए कपड़ों युक्त मुनिके समान होता है। विशेष क्या कहा जाय अभव्य भी द्रव्य-सामायिकके प्रभाव से नवम-ग्रैवेयिक पर्यंत जाकर अहमिन्द्र हो सकता है। सामायिकको भावपूर्वक धारण करनेसे शांति-सुखकी प्राप्ति होती है, यह आत्म-तत्त्व की प्राप्ति अर्थात् परमात्मा होनेके लिये मूल कारण है, इसकी पूर्णता ही जीवको निष्कर्म-अवस्था प्राप्त कराती है।

[३ प्रोषधोपवास—शिक्षाव्रत]

अष्टमी-चतुर्दशीके दिन सर्वकाल धर्मसाधनकी सुवांछा से सम्पूर्ण पापारंभोंसे रहित हो, चार प्रकार आहारका त्याग करना सो प्रोषधोपवास कहलाता है। इसकी निरुक्ति इसप्रकार है कि प्रोषध कहिये एकबार आहार अर्थात् धारणा *और पारणा × के दिन एक बार भोजन करना तथा उपवास कहिये अष्टमी चतुर्दशी पर्वको निराहार रहना—भोजनका त्याग करना इस प्रकार एक पक्षमें अष्टमी-चतुर्दशी दोनों पर्वोंमें चार प्रकार

---

* धारणा-उपवासकी प्रतिज्ञा धारण करनेका दिन अर्थात् पूर्व दिन।

× पारणा-उपवास पूर्ण करके भोजन करनेका दिन अर्थात् अगला दिन। सामान्य गृहस्थोंको दिनमें दो बार भोजन करनेका अधिकार है। प्रोषधोपवासमें धारणा-पारणाके दिन एक-एक बार और उपवासके दिन दो बारका भोजन त्यागनेसे इसे चतुर्थ संज्ञा भी है।

आहार त्याग, धर्मध्यान, करना सो प्रोषधोपवास कहाता है। श्री राजवार्तिकजीमें प्रोषध नाम पर्वका कहा है, तदनुसार पर्वमें इन्द्रियोंके विषयसे विरक्त रहकर चार प्रकार आहार त्याग करना सो ही प्रोषधोपवास है।

प्रतिदिन अंगीकार किये हुए सामायिक-संस्कारको स्थिर करके सप्तमी एवं त्रयोदशीके दोपहर [भोजन उपरान्त] से समस्त आरम्भ-परिग्रहसे ममत्व छोड़ देव-गुरु-शास्त्रकी साक्षी पूर्वक प्रोषधोपवासकी प्रतिज्ञा ले, निर्जन-वसतिका (कुटी, धर्मशालादि) को प्राप्त होवे और सम्पूर्ण सावद्ययोग त्याग, इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होता हुआ, मन-वचन-कायकी गुप्ति सहित, नियतकाल तक व्रतविधानकी शुभेच्छासे चार प्रकार आहारका त्याग करे।

[चार प्रकार आहारके भेद]

(१) खाद्य—रोटी, दाल, चावल, पूड़ी आदि, कच्ची-पक्की रसोई।

(२) स्वाद्य—पान, सुपारी, इलायची आदि मसाला।

(३) लेह्य—रबड़ी आदि चाटने योग्य वस्तु।

(४) पेय—दूध, पानी, शर्बत आदि पीने योग्य पदार्थ।

अथवा

(१) असन—दाल, भात, रोटी आदि कच्ची रसोई या नित्य भोजनमें आनेवाली पक्की रसोई।

(२) पान—पानी, दूध, दही, रबड़ी, शर्बत आदि पेय वस्तु।

(३) खाद्य—*मोदक, कलाकंद आदि जो कभी-कभी खानेमें आते हैं।

(४) स्वाद्य—इलायची, पान, सुपारी मसालादि।

बहुधा ग्रन्थोंमें प्रोषधोपवासका काल १६ प्रहर कहा है। धर्मसारजी, ज्ञानानंदश्रावकाचार तथा दौलत क्रियाकोषमें उत्कृष्ट १६ प्रहर, मध्यम १४ प्रहर और जघन्य १२ प्रहर कहा है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीकामें उत्कृष्ट १६ प्रहर, मध्यम १२ प्रहर और जघन्य ८ प्रहर कहा है, परन्तु भोजन त्याग अपेक्षा प्रोषधोपवास १२ प्रहरसे कम संभव नहीं है क्योंकि प्रोषधव्रती रात्रि-भोजनका सर्वथा त्यागी है। हां, आठ प्रहरका उपवास पाक्षिक श्राविककी अपेक्षा संभव हो सकता है। क्योंकि उसके रात्रिको औषधि, जल तथा स्वाद्य (पान इलायची आदि) भक्षण करने सम्बन्धी अतीचार दोष लगना सम्भव है, इससे वह उपवासके दिन ही प्रातःकाल प्रतिज्ञा करे तो दूसरे दिनके सुबह तक आठ प्रहरका उपवास हो सकता है। अथवा व्रती भी यदि उपवासके प्रातःकाल ही प्रतिज्ञा ले, तो प्रतिज्ञा अपेक्षा सुबहसे सुबह तक ८ प्रहर

*दौलत क्रियाकोषके १७ नियमोंके प्रकरणमें पुष्प-फलको खाद्यमें कहा है क्योंकि उससे भी उदरपोषण हो सकता है।

का उपवास सम्भव हो सकता है।

वसुनन्दि श्रावकाचार में प्रोषधोपवास तीन प्रकार कहा है। यथा–(१) उत्तम—१६ प्रहर निराहार (२) मध्यम–जल सिवाय तीन प्रकार आहारका त्याग (३) जघन्य–जिसमें आमिल लेना अर्थात् एक अन्न पकाकर खाना और प्राशुक जल पीना अथवा मीठा न डालकर कोई एक अन्न खाना या एक स्थानमें बैठकर एक ही वार भोजन करना। परन्तु तीनों प्रकारोंमें धर्मध्यान सोलह प्रहर तक ही करना।

सकलकीर्ति श्रावकाचार में कहा है कि प्रोषधोपवासके दिन गर्म (प्राशुक) जल लेनेसे उपवासका आठवां भाग रह जाता है, कषायला जल लेनेसे अनुपवास होता और अन्न मिश्रित जल लेनेसे उपवास भंग हो जाता है।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में कहा है कि उपवासके काल में जलकी १ बूंद भी ग्रहण न करना चाहिये।

इन उपर्युक्त आधारोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि प्रोषधोपवास प्रतिमामें तो उत्कृष्ट १६ प्रहरका उपवास कर धर्मध्यान कर्तव्य है। और व्रतप्रतिमामें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार अपनी शक्ति देखकर उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य जैसा योग्य हो, प्रोषध-व्रत करे।

प्रोषधोपवासके दिन स्नान, अंजन, विलेपन, शृंगार नहीं करे। पांव नहीं दबवावे। नवीन भूषण नही पहिने।

कोमल शय्या तथा पलंगपर शयन नहीं करे। स्त्री-संसर्ग, आरम्भ, पुष्प, गीत, वादित्र, नृत्य* सुगन्ध, दीप, धूपादिके प्रयोग तजे, फल-फूल-कोंपल-छेदन आदि स्थावर-हिंसा न करे। आलस्य रहित, धर्मका अति लालची होता हुआ धर्म-शास्त्रोंका स्वाध्याय श्रवणादि करे-करावे, ज्ञान-ध्यानमें तत्पर रहे।

प्रोषधव्रत करनेकी रीति यह है कि उपवासके धारणाके दिन साधारण भोजन करे, ऐसा न विचारे कि कल उपवास करना है इसलिये गरिष्ठ या अधिक भोजन करूं। पश्चात् प्रोषधोवासकी प्रतिज्ञा कर पठन-पाठन, सामायिकादि धर्मकार्य करे, रात्रिको निद्रा जीतता हुआ पवित्र संथारेपर अल्प निद्रा ले और पठन-पाठनादि धर्मध्यान करता रहे। उपवासके दिन प्रातःकाल सामायिक करने पीछे प्राशुक जलसे प्रातःकाल सम्बन्धी क्रियाओंसे निवृत्त हो, प्राशुक द्रव्योंसे जिनेश्वर देव-की पूजन करे×। दिन तथा रात्रि सामायिक, धर्म-चर्चा, स्वाध्याय, पाठादिमें व्यतीत करे। उपवासके दूसरे दिन भी

---

*दीप धूपादि चढ़ानेका वा धर्म सम्बन्धी गीत; नृत्य, वादित्र, तिलक करने आदिका निषेध नहीं।

× धर्म संग्रह श्रावकाचारमें प्रोषधव्रतमें लिखा है कि उपवासके दिन अष्ट द्रव्योंसे पूजन करे। दौलत क्रियाकोषादि कई ग्रन्थोंमें धारणे-पारणेके दिन पूजन करना और उपवासके दिन ध्यान-स्वाध्याय करना ही कहा है। सागार-

दोपहर तक पूजन स्वाध्याय आदि धर्मध्यान करे। पश्चात् पात्रदान पूर्वक नियमित शुद्ध भोजन करे, लोलुपतावश धर्म-ध्यानको भुलानेवाला प्रमाद तथा उन्मादको उत्पन्न करने-वाला गरिष्ठ अथवा अधिक भोजन न करे, क्योंकि प्रोषधो-पवास करनेका मुख्य प्रयोजन तो यही है कि जिसमें परिणाम निर्मल, धर्म-ध्यान रूप, शांत और उत्साहरूप रहें। शिथिल, आलसी, उन्मादरूप न हों तथा क्षुधादि परीषह सहनेका अभ्यास पड़ जानेसे आगे मुनिव्रतमें परीषह आनेपर समभाव बने रहें।

प्रोषधोपवासमें समस्त आरम्भोंका त्याग कहा है, इससे पाप क्रिया-सम्बन्धी आरम्भोंका ही निषेध जानना, धार्मिक कार्योंका नहीं। तो भी पूजनके लिये शरीरकी पवित्रता (स्नान) तिलक, गान-भजन, नृत्यादि सभी धर्मकार्य बहुत यत्नाचार पूर्वक करना चाहिये, जिससे पुण्यकी प्राप्ति हो और पापका अंश भी न आने पावे।

धर्मामृतमें कहा है कि प्रोषध-व्रती भावपूजन करे तथा प्राशुक (निर्जन्तु) द्रव्योंसे द्रव्य-पूजन भी करे। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें उपवासके दिन प्राशुक द्रव्यसे पूजन करना लिखा है। इन सबसे यही तात्पर्य निकलता है कि प्रोषधोपवासके दिन ध्यान-स्वाध्यायकी मुख्यतापूर्वक, सावधानीसे प्राशुक द्रव्यों द्वारा यदि कोई चाहे तो पूजन भी करे, न चाहे तो न करे, ध्यान-स्वाध्याय अवश्य ही करे।

जो स्त्री वा पुरुष उपवास धारण करके गृहकार्यके मोह-वश गृहस्थी-सम्बन्धी पापारंभ करते अथवा जो दूसरोंकी देखादेखी या कषायवश उपवास ठान, संक्लेश-परिणामयुक्त रोगीवत् काल गवांते हैं, केवल शरीरको शोषण करते हैं, उनके लेशमात्र भी कर्म हलके नहीं पड़ते। गृहस्थको उपवासके दिन आरम्भ, विषय-कषाय एवं आहारका त्याग करके धर्म सेवन करनेसे ही पुण्यबंधके साथ-साथ संवरपूर्वक निर्जरा होती है। इसलिये बुद्धिमान् गृहस्थोंको इसी प्रकार उपवास करना योग्य है।

[प्रोषधोपवासके पांच अतीचार]

(१) विना देखे-शोधे पूजाके उपकरण, शास्त्र, संस्तरादि ग्रहण करना।

(२) विना देखे-शोधे मल-मूत्रादि मोचन करना।

(३) विना देखे-शोधे संस्तर (बिछौना) बिछाना।

(३) भूख, प्यासके क्लेशसे उत्साहहीन होकर उपवास-में निरादररूप परिणाम करना।

(५) उपवास योग्य क्रियाओंका भूल जाना।

प्रगट रहे कि इन उपर्युक्त अतीचारोंके लगनेसे प्रोषधो-पवास मलिन होता है अतएव इन दोषोंको सदा ध्यानमें रख कर दोषोंसे रक्षा करना चाहिये।

लाभ—प्रोषधोपवासके दिन भोगोपभोग एवं आरम्भका

त्याग करनेसे हिंसाका लेश भी नहीं होता। वचन गुप्ति होने (मौनावलम्बी रहने) अथवा आवश्यकतानुसार धर्मरूप अल्प-भाषण करनेसे असत्यका दूषण नहीं आता। अदत्तादानके सर्वथा त्यागसे चोरीका दोष नहीं आता। मैथुन के सर्वथा त्यागसे ब्रह्मचर्य व्रत पलता और शरीरादि परिग्रहोंसे निर्ममत्व होनेसे परिग्रह-रहितपना होता है। इसलिये प्रोषधो-पवास करनेवाला गृहस्थ उस दिन सर्व सावद्ययोगके त्याग होनेसे उपचार महाव्रती हैं। पुनः प्रोषधोपवासके धारण करने-से शरीर नीरोग रहता, शरीरकी शक्ति बढ़ती। सातिशय पुण्य-बन्ध होकर उत्कृष्ट-सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिपूर्वक पारमार्थिक (मोक्ष) सुखकी प्राप्ति होती है।

[४ अतिथि—संविभाग शिक्षाव्रत]

दाता, पात्र दोनोंके रत्नत्रय धर्मकी वृद्धिके निमित्त सम्यक्त्वादि गुणोंयुक्त गृहरहित साधु-मुनिआदि पात्रोंका प्रत्युप काररहित अर्थात् बदलेमें उपकारकी वांछा न करते हुए योग्य वैयावृत्ति करना, सो अतिथिसंविभाग या सत्पात्रदान कहाता है।

जो सत्पुरुष पूर्णज्ञानकी सिद्धिके निमित्तभूत शरीरकी स्थितिके लिये, विना बुलाये ईर्यापथ शोधते हुए, विना तिथि निश्चय किये श्रावकोंके गृह भोजन निमित्त आवें, सो अतिथि कहाते हैं। यह वृत्ति अट्ठाईस मूलगुणधारी मुनियोंमें तथा

उत्कृष्ट प्रतिमाधारी ऐलक-क्षुल्लकोंमें पाई जाती है, क्योंकि इन के स्थिति एवं विहार करनेकी तिथि निश्चित नहीं रहती। ऐसे उत्तम पात्रोंको द्वारापेक्षण आदि यथायोग्य नवधा-भक्ति पूर्वक अपने भोजनमेंसे विभागकर आहार औषधि, पात्रादि दान देना। यदि उपर्युक्त प्रकार अतिथिका संयोग न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रों एवं अन्य साधर्मियोंका यथा-योग्य आदरपूर्वक चार प्रकार दान द्वारा वैयावृत्य करना या दुखितों व भूखोंको करुणाबुद्धिपूर्वक दान देना, यह सब अतिथि-संविभाग है।

धर्मसाध्यकी सिद्धिके लिये आगममें चार प्रकारके दान निरूपण किये गये हैं। १ औषधिदान २ शास्त्रदान ३ अभय दान ४ आहारदान।

योग्य पात्रको आहारदान-औषधि-शास्त्र (ज्ञान) तथा अभयदानमेंसे जिस समय जिसकी आवश्यकता हो, उसको उस समय उसी प्रकारका दान देना योग्य है। इससे दातार तथा पात्र दोनोंके रत्नत्रयकी प्राप्ति, वृद्धि और रक्षा होती है इसी कारण ऐसा दान सत्पात्र-दान या सुदान कहाता है। पात्र, दातार, द्रव्य, तथा देनेकी विधिके भेदसे दानके फलमें विशेषता होती है, इस कारण इन चारोंका विशेष रूपसे वर्णन किया जाता है।

[१ पात्रका वर्णन]

दानकी प्रवृत्ति करनेके योग्य पात्र (स्थान) ७ प्रकारके है। यथाः—(१) पूजा (२) प्रतिष्ठा (३) तीर्थयात्रा (४) पात्रदत्ति (५) समदत्ति (६) दयादत्ति (७) सर्वदत्ति।

(१) पूजा—अपनी शक्तिके अनुसार जलचन्दनादि अष्ट-द्रव्यों का एक, दो आदि द्रव्योंसे देव, शास्त्र गुरु तथा सोलह कारण, दशलक्षण आदि आत्मगुणोंकी पूजा करना। जिनमन्दिरमें पूजनके बर्तन चंदोवा, छत्र, चमरादि धर्मोपकरण चढाना।

(२) प्रतिष्ठा—जिस ग्राममें जैनी भाइयोंका समूह अच्छा हो और धर्मसाधनके निमित्त जिनमन्दिर न हो, वहां जिनमन्दिर बनवाना। भगवान्‌के बिम्बकी प्रतिष्ठा कराके पधराना। यदि ग्राम छोटा हो, जैनी भाइयोंके १०-५ ही घर हों, तो चैत्यालय बनाना, तथा प्रतिष्ठित-मूर्ति दूसरे स्थानसे लाकर, या किसी स्थानकी प्रतिष्ठामें प्रतिष्ठा करा लाकर, विराज-मान करना, अथवा प्राचीन-मन्दिर जीर्ण हो गया हो तो उसका जीर्णोद्धार कराना, क्योंकि नूतन मन्दिर बँधानेकी अपेक्षा जीर्णोद्धारमें परिणामोंकी विशेष उज्ज्वलता होनेसे १०० गुणा अधिक पुण्य होता है, ऐसा प्रतिष्ठापाठादि ग्रन्थोंमें कहा है।

(३) तीर्थयात्रा—गृह जंजालोंकी चिन्ता छोड़ सिद्ध क्षेत्रों, अतिशय क्षेत्रोंके दर्शन-वंदना करना, शक्ति हो तो संघ

निकालना, आप पवित्र क्षेत्रोंमें जाकर निर्मल परिणामोंयुक्त धर्मसाधन करना तथा अन्य साधर्मी मंडलीको कराना। इससे सातिशय तीव्र पुण्यबंध होता है।

(४) पात्रदत्ति—सामान्य रीतिसे पात्र तीन प्रकारके होते हैं। सुपात्र, कुपात्र और अपात्र॥ यहां पात्रदत्तिसे सुपात्र ही का अभिप्राय जानना चाहिये, क्योंकि पात्रका लक्षण यह कहा है कि जो सम्यक्त्व और चारित्र युक्त हो और दाता-दानके प्रेरकों एवं अनुमोदकों को नौकाकी तरह संसार सागरसे पारसा करे। ये लक्षण सुपात्रमें ही पाये जाते हैं अतएव सुपात्र ही दान देने योग्य हैं। ये तीन प्रकारके होते हैं। यथा—उत्तम-मुनि-आर्यिका। मध्यम श्रावक-श्राविका। जघन्य, अव्रत-सम्यग्दृष्टि (इनके स्वरूपाचरण चारित्र होता है)।

भाव-सम्यक्त्व रहित केवल बाह्य-चारित्रके धारक द्रव्य-लिंगी मुनि तथा द्रव्यलिंगी श्रावक वा द्रव्यसम्यग्दृष्टि कुपात्र कहाते हैं। जिसके सूक्ष्म (अप्रगट) मिथ्यात्व हो, उसे तो हम छद्मस्थ जान ही नहीं सकते, इसलिये उसमें सुपात्रके समान प्रवृत्ति होती है, परन्तु जिसके स्थूल (प्रगट) द्रव्य-मिथ्यात्व हो और बाह्य जिनधर्ममें कहे हुए भेषका धारी हो तो वह कुपात्र है। (यहां व्यवहारमें व्यवहार-सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्वकी अपेक्षा जाननी)।

जो सम्यक्त्व, चारित्र दोनोंसे भ्रष्ट हो, ऐसे मिथ्यादृष्टि

मेषी, अपात्रको सर्वथा दान देना योग्य नहीं।

(५) समदत्ति—जोअपने समान साधर्मी गृहस्थ असक्तता कर्मके उदयसे दुःखी हों, उनकी धन-वस्त्रादिमे यथायोग्य सहायता करना।

(६) दयादत्ति—दुखित व भूखे जीवोंको अन्न-वस्त्रादि से सहायता करना।

(७) सर्वदत्ति या अन्वयदत्ति—अपने पुत्र भाई या गोत्री आदिको धनादि सर्वस्व सौंप परिग्रहसे निर्ममत्व हो, उत्तम-श्रावकके व्रत या मुनिव्रत अंगीकार करना।

[२ दातार का वर्णन]

पूजा-प्रतिष्ठा तथा पात्रदत्तिके अधिकारी द्विजवर्ण* (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ही हैं, क्योंकि सत्पात्रोंको द्विजवर्ण के घर पर ही आहार लेनेकी आज्ञा है, शूद्रके ग्रह नहीं (मूलाचार)। शेष समदत्ति आदि चार दान अपनी-अपनी योग्यतानुसार हरकोई कर सकता है। भावार्थ—स्पर्श शूद्र दर्शन करते समय एकाध द्रव्य चढ़ानेरूप द्रव्यपूजाका तथा तीर्थयात्रा समदत्ति और दयादत्तिका अधिकारी है। वह द्विजवर्ण की नांई अभिषेकपूर्वक पंच प्रकारी (आह्वानन, स्थापन,

* जो यज्ञोपवीत धारण करनेके अधिकारी हैं वे द्विजवर्ण कहाते हैं। द्विजवर्णोंमे भी कोढ़ी, रोगी आदि जिनका निषेध समवसरण-विधानमें किया गया है या जो जाति-पतित हों, वे इन सत्कर्मोंके करनेके अधिकारी नहीं हैं।

सन्निधिकरण, पूजन, विसर्जन) पूजनका अधिकारी नहीं है। अस्पर्श-शूद्र मन्दिरके बाहिरसे *दर्शन कर सकता है और अपनी समानता वालोंके साथ समदत्ति वा दयादत्ति कर सकता है।

सम्यग्दृष्टि चारित्रवान दातार ही दान देनेका पात्र है। क्योंकि विना धर्मात्मा हुए सत्पात्र दान नहीं हो सकता। अन्यके न तो सच्ची त्यागबुद्धि ही हो सकती है और न पात्र-दान-द्रव्यादिका बोध हो सकता है। दातारके ५ भूषण हैं—(१) आनन्दपूर्वक दान देना (२) आदरपूर्वक दान देना (३) प्रियवचनपूर्वक दान देना (४) निर्मल भावपूर्वक दान देना (५) दान देकर अपना धन्य भाग्य मानना। दातारके पांच दूषण हैं—(१) विलम्बसे दान देना (२) उदास होकर दान देना (३) दुर्वचन कहकर दान देना (४) निरादरपूर्वक दान देना (५) दान दिये पीछे पछताना। दातारके सप्तगुण हैं—(१) दानके योग्य यही पात्र है, ऐसा दृढ़ परिणाम सो श्रद्धा-गुण है (२) प्रमादरहितपना सो शक्तिगुण है (३) पात्रके गुणोंमें आदर सो भक्तिगुण है (४) दानकी पद्धतिका जानना

*इसी अभिप्रायकी सिद्धिके लिये कई जगह अब भी प्राचीन मन्दिरोंके शिखरोंपर विराजमान वा दरवाजोंकी चौखटोंपर उकेरे हुए जिनबिम्ब दिखाई देते हैं तथा कई जगह नूतन मन्दिरोंमें हालमें भी इसी तरह दर्शन करने का सुभीता है।

सो विवेक या विज्ञानगुण है (५) दान देनेकी सामर्थ्य सो अलुब्धतागुण है (६) सहनशीलता सो क्षमागुण है (७) भले प्रकार दान देनेका स्वभाव सो त्यागगुण है। पुरुषार्थसिद्धयु-पायमें इस प्रकार भी दातारके ७ गुण कहे हैं—(१) फलकी अपेक्षारहितपना (२) क्षमावानपना (३) निष्कपटीपना (४) ईर्ष्यारहितपना (५) खेदभावरहितपना (६) हर्षभावपना (७) निरभिमानीपना ये दोनों प्रकारके गुण बहुधा एकसे ही हैं और ज्ञानी तथा श्रद्धावान् दातारोंसे अवश्य ही पाये जाते हैं।

[३ दान देने योग्य द्रव्य का वर्णन]

पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा करनेमें सामान्य रीतिसे उसके योग्य द्रव्य व्यय होता है। समदत्तिमें अपने समान गृहस्थको वा जघन्य पात्रको धन, वस्त्र, ज्ञानके उपकरण एवं औषधि आदि की सहायता करके धर्ममें लगाते वा स्थिर करते हैं। दयादत्ति में दुखितों-भूखोंको अन्न, वस्त्र, औषधि आदि देते हैं। मध्यम पात्रको उसके योग्य धन, वस्त्र आदि देते हैं। आर्यिका को सफेद साडी, पीछी, कमंडल तथा मुनिको केवल पीछी-कमं-डल ही देते हैं सभी पात्रोंको शरीरकी स्थिरता निमित्त शुद्ध आहार, रोगके निवारणार्थ औषधि वा ज्ञानकी वृद्धिके लिये पुस्तक (शास्त्र) देते हैं। दानमें दी जाने वाली सभी वस्तुयें यद्यपि सामान्य रीतिसे धर्मवृद्धि करने वाली हैं, तो भी दातार को इस बातका पूरा २ ध्यान रखना चाहिये कि पात्रको दान

देनेका पदार्थ अथवा पूजा-प्रतिष्ठादिमें काम आनेकी वस्तु शुद्ध निर्जीव व निरवद्य (निर्दोष) हो। मुनि-आर्यिका, श्रावक श्राविकाको दीजानेवाली वस्तु स्वाध्याय-ध्यान, तपकी वृद्धि करनेवाली हो, आलस्य, उन्माद, विकार व अभिमानकी उत्पन्न करनेवाली न हो। विवेकपूर्वक दान देनेसे ही दातार-पात्र दोनोंके धर्मवृद्धि और परम्परासे सच्चे-सुखकी प्राप्ति होती है।

अन्यमतोंमें गऊ, स्त्री, हाथी, घोड़ा, रथ, मकान, सोना, तिल, दासी और भूमि ये दस प्रकारके दान कहे हैं। सो ये रागद्वेषादि भावोंके बढ़ाने वाले, पंच पापोंमें प्रवृत्ति करानेवाले आलस्य, प्रमाद, उन्मत्तता, रोगादिके मूल हैं। आत्महितके बाधक संसारके बढ़ानेवाले और मोक्षमार्गसे विमुख करनेवाले से। इनसे दाता व पात्र दोनोंके धर्मकी हानि होती है। इसलिये ये कुदान कभी भूलकर भी न करना चाहिए। इनका लेना-देना धर्मका अंग नहीं है. इनके देने-लेनेमें धर्म मानना मिथ्या है, ऐसा प्रश्नोत्तरश्रावकाचार तथा पद्मनंदिपच्चीसी आदि ग्रंथोंमें स्पष्टरूपसे कहा है। सागारधर्मामृतमें भी कहा है कि नैष्ठिक श्रावकको भूमि आदि दश प्रकार के दान भूलकर भी नहीं देना चाहिये, क्योंकि इससे सम्यक्त्वका घात तथा हिंसा होती है। अतएव जब सम्यक्त्वका भी घात होता है तो ये दश प्रकारके दान सम्यक्त्वीको भी नहीं देना चाहिये।

[४ दान देने की विधि]

पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रामें जो द्रव्य व्यय व उत्तम क्रियायें की जाँय वे उत्कृष्ट परिणामोंपूर्वक, परमार्थबुद्धिसे, शास्त्रोक्त-पद्धति-सहित विनययुक्त, धर्मप्रभावनाके अभिप्रायसे की जाँय।

पात्रदत्ति—उत्तम पात्र (मुनि) को प्राशुक-शुद्ध आहार नवधाभक्तियुक्त (विधिपूर्वक) देकर अपना धन्य भाग मानना चाहिये। दातारको नित्य भोजनसमय रसोई तैयार करके, सब आरम्भ तजि, सर्वभोजन-सामग्री शुद्ध स्थानमें रख, प्राशुक जल से भरा हुआ, ढंका हुआ लोटा लेकर अपने द्वारपर पात्र हेरनेके लिये णमोकार मंत्र जपते हुए खड़ा होना योग्य है। दानके विना गृहस्थके चूल्हा-चौका स्मशान समान है, क्योंकि यत्नाचार करते हुए भी उसमें नित्य छह कायके हज़ारों जीव जलते हैं। अतएव आहार दान देनेसे ही गृहस्थ का चौका सफल है। उपर्युक्त प्रकार पात्र हेरनेकी द्वारापेक्षण संज्ञा है। जब मुनि अपने द्वारके सन्मुख आवें तो, "स्वामिन्! अत्र तिष्ठ२ अन्न जल शुद्ध" ऐसा कहकर आदरपूर्वक अपने गृहमें अतिथिको प्रवेश करावे, इसको प्रतिग्रहण या पडगाहना कहते हैं॥ पश्चात् पात्रको [१] उच्चस्थान अर्थात् पाटला (चौकी) पर स्थित करे प्राशुक जलसे [३]चरण धोवे (अंग पोंछे), अष्ट द्रव्यसे [४]पूजन करे, अष्टांग* [५]नमस्कार करे, [६]मनशुद्धि, [७]वचनशुद्धि,

*दोहा-शिर, नितंब, उर पीठ, करजुगल जुगल पद टेक।
अष्ट अंग ये तन विषैं, और उपंग अनेक॥ १॥

ँकायशुद्धि, और ँभोजनशुद्धि×करे। इस प्रकार नवधाभक्ति एवं शुद्धिपूर्वक सर्व प्रकार के भोज्य पदार्थ अलग २ कटोरीमें रखकर थालीमें लेकर मुनिराज के सन्मुख खड़ा होवे और ग्रास बना-बना कर उनकी हस्तांजलीमें देवे (वृद्ध विद्वानोंका वाक्य है कि अन्नके एक ग्रास बाद हस्तांजलीमें प्रासुक जलका एक ग्रास देवे) मुनि उत्कृष्ट ३२ ग्रास लेते हैं। जब भोजनकर चुकें, और ग्रास हस्तमें न लें, तब जलके ग्रास देवे तथा उनका मुंह-हाथ अच्छी तरहसे धोवे, पोंछे। कमंडलको धोकर-साफकर प्रासुक जल* भरदेवे। यह बात ध्यानमें रहे कि मुनिराज तथा उत्कृष्ट श्रावकके पधारनेसे भोजन करलेनेके समय तक घरमें दलना, पीसना, रसोई आदि कोई भी आरम्भसम्बन्धी

× भोजन शुद्धिमें द्रव्य-क्षेत्रकाल भावकी शुद्धिपर ध्यान रखना चाहिये अर्थात् भोजनके पदार्थ शुद्ध मर्यादित तथा रसोई बनानेकी सामग्री, बर्तन, लकड़ी वगैरह शुद्ध निर्जन्तु होना चाहिये। रसोई बनानेवाला रसोईके बनानेकी विधिका ज्ञाता, धर्मबुद्धि हो। रसोई करने तथा आहार देनेका स्थान, चंदोवा सहित, मिट्टीसे लिपा हुआ, स्वच्छ, निर्जन्तु होना चाहिये। रसोई ठीक समय पर तय्यार होकर सामायिकके पेश्तर २ (दश और ग्यारह बजेके बीचमें) देना चाहिये। पवित्र और उत्साहित चित्त होकर अपनी योग्यतानुसार, अपनी गृहस्थीके लिये तय्यार हुए भोजनमेंसे पात्रदान करे, पात्रके निमित्त न बनावे। आहार में कोई भी पदार्थ सचित्त न हो॥

*जल एक उकाली आवे ऐसा गर्म होनेपर उतार कर ठंडा करले। यही जल भोजनके समय देने तथा कमण्डलमें भरनेके काम लावे।

काम तथा अन्तराय होने सरीखे काम न करे। यदि कमंडल पीछी या शास्त्रकी आवश्यकता देखे, तो बहुत आदर एवं विनय पूर्वक देवे। यह मुनिके आहार दानकी विधि है॥ आर्यिका भी उत्तम पात्र हैं। वे बैठकर मुनिकी नांई करपात्रमें आहार करती हैं। सो उनको भी उनके योग्य आदर-भक्ति पूर्वक आहार दान करे। पीछी, कमंडल सफेद साड़ी, की आवश्यकता देखे तो देवे, यदि पात्रको कोई रोग हो, तो भोजनके साथ या अलग, जैसा योग्य हो औषधि देवे॥

मध्यम पात्र ऐल्लक बैठकर करपात्रमें और क्षुल्लक पात्रमें लेकर भोजन करते हैं। (इसकी विधि ग्यारहवीं प्रतिमामें स्पष्ट कही है)। इनको इनके योग्य तथा ब्रह्मचारी या व्रती श्रावक को उनके योग्य प्रतिग्रहण करके आदर, यथायोग्य विनय एवं भक्ति-पूर्वक आहार दान करे। वस्त्र, पिछौरी, लंगोटी, कमंडल, पीछी, शास्त्र आदि जो उनको चाहिये सो उनके योग्य देवे, कमण्डल तथा धातुपात्रमें प्रासुक जल भर देवे। इनको अष्टांग नमस्कार या पूजन करनेकी शास्त्राज्ञा नहीं है। पूजनकी विधि तो केवल निर्ग्रन्थ-मुनियोंके लिये ही कही गई है।

(नोट) दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमावालोंको तथा मुनिराज को उनके निमित्त बना हुआ "उद्देशिक आहार" नहीं देना चाहिये, अपने घरमें जो नियमित आहार बने, उसीमेंसे देना चाहिये।

समदत्ति—सामान्य आदार-सत्कार एवं हर्षपूर्वक अपने बराबरीके साधर्मियोंकी सहायता धन-वस्त्र, स्थानादिसे करना चाहिये. अपना बड़प्पन बताना, अभिमान करना और उनका निरादर करना योग्य नहीं, क्योंकि धर्मपद्धतिकी मुख्यतापूर्वक उनकी सहायता की जाती है।

दयादत्ति—दुखित व भूखे जीवोंको दयापूर्वक औषधि, अन्न, वस्त्र देना योग्य है। नकद पैसा न देना चाहिये। नकद देनेसे वे लोभके वश पैसा एकत्र करते जाते और उनका सदुपयोग नहीं करते, जिससे वह द्रव्य व्यर्थ जाता है, अथवा वे दुरुपयोग करते हैं जिससे उल्टा पाप लगता है। हट्टे-कट्टे, मिथ्यात्वी, दुर्गुणी, मस्त लोगोंको दान देना दयादत्ति नहीं, किन्तु पापदत्ति है। इनको दान देनेके बदले धनको अंधकूप में डाल देना अच्छा है। दातारको चाहिये कि बहुत विवेक पूर्वक अपने परिश्रम एवं न्यायसे कमाये हुए द्रव्य का सदुपयोग करे।

[आहार के ४६ दोष]

यहां आहारदानका प्रकरण आया है, इसलिये दाता व पात्र दोनोंके जानने तथा दोषोंसे बचनेके लिये आहार सम्बन्धी ४६ दोषोंका वर्णन श्री मूलाचारके अनुसार किया जाता है।

सोलह उद्गम दोष—जो दातार और पात्र दोनोंके

अभिप्रायसे आहारमें उत्पन्न होते हैं। यथा—(१) षट्काय के जीवोंके वधद्वारा आहार बनाना सो अधःकर्म नामक महान दोष है (२) साधुका नाम लेकर भोजन तैयार करना सो उद्देशिक दोष है (३) संयमीको देख भोजन बनानेका आरंभ करना सो अध्यदि दोष हैं (४) प्राशुक भोजनमें अप्राशुक भोजन मिलाना सो पूति दोष है। (५) संयमीके भोजनमें असंयमीके योग्य भोजनका मिलाना सो मिश्र दोष है (६) रसोईके स्थानसे अन्यत्र अपने वा परके स्थानमें रक्खा हुआ भोजन लाकर देना सो स्थापित दोष है (७) यक्षनागादिके पूजन निमित्त बना हुआ भोजन देना सो बलि दोष है (८) पात्र को पड़गाहे पीछे कालकी हानि-वृद्धि करना अथवा नवधा-भक्तिमें शीघ्रता वा विलंब करना सो प्रावर्तित दोष है (९) अंधेरा जान मंडप आदिको प्रकाशरूप करना सो प्राविशकरण दोष है (१०) अपने पास वस्तु नहीं, परकी उधार लाकर देना, सो प्रामिशिक दोष है (११) अपनी वस्तुके बदले दूसरे गृहस्थसे वस्तु लाकर देना सो परिवर्तक दोष है (१२) तत्काल देशांतरसे आई हुई वस्तु देना सो अभिघट दोष है (१३) बंधी वा छांदा लगी हुई वस्तुको खोलकर देना, सो उद्भिन्न दोष है (१४) रसोईके स्थानसे ऊपरकी मंजिलमें रक्खी हुई वस्तु नसेनीपर चढ़, निकालकर देना सो मालारोहण दोष है (१५) उद्वेग-त्रास-भयका कारण

भोजन देना सो अच्छेद्य दोष है (१६) दातार असमर्थ हो, सो अनिसार्थ दोष है।

सोलह उत्पादन दोष—जो पात्रके आधारसे उत्पन्न होते हैं। यथा-[१] गृहस्थको मंजन-मंडन-क्रीडनादि धात्री-दोषका उपदेश देकर आहार ग्रहण करना धात्री दोष है [२] दातारको परदेशके समाचार कह, आहार ग्रहण करना सो दूत दोष है [३] अष्टांगनिमित्त-ज्ञान बताय, आहार ग्रहण करना सो निमित्त दोष है [४] अपना जाति-कुल-तपश्चरण बताय आहार ग्रहण करना सो आजीविक दोष है। [५] दातारके अनुकूल बातें कर, आहार लेना सो वनीपक दोष है [६] दातारको औषधि बताय आहार लेना सो चिकित्सा दोष है [७,८,९, १०] क्रोध, मान, माया, लोभपूर्वक आहार लेना सो क्रोध, मान, माया, लोभ दोष है [११] भोजनके पूर्व दातारकी प्रशंसा करना सो पूर्वस्तुति दोष है [१२] आहार किये पीछे स्तुति करना सो पश्चात् स्तुति दोष है [१३] आकाश-गामिनी आदि विद्या बताकर भोजन करना सो विद्या दोष है। [१४] सर्प, बिच्छू; आदिका मंत्र बताकर आहार लेना सो मंत्र दोष है [१५] शरीरकी शोभा (पुष्टता (निमित्त चूर्णादि बताय आहार ग्रहण करना सो चूर्णदोष है [१६] अवशको वश करनेका उपाय बताकर आहार लेना सो मूल-कर्म दोष है।

चतुर्दश आहार सम्बन्धी दोष—(१) यह भोजन योग्य है या अयोग्य ? खाद्य है या अखाद्य ? ऐसी शंकायुक्त आहार ग्रहण करना सो शंकित दोष युक्त है (२) सचिक्कण हाथ या बर्तन पर रक्खा हुआ भोजन ग्रहण करना सो मृक्षित दोषयुक्त है (३) सचित्त पत्रादि पर रक्खा हुआ भोजन करना सो निक्षिप्त दोषयुक्त है (४) सचित्त-पत्रादि से ढंका हुआ भोजन करना सो पिहित दोषयुक्त है (५) दान देने की शीघ्रता कर अपने वस्त्र को नहीं संभालना या भोजनको देखे बिना देना सो संव्यवहरण दोषयुक्त है (६) सूतकादियुक्त अशुद्ध आहार लेना सो दायक दोषयुक्त है (७) सचित्त से मिला आहार लेना सो उन्मिश्रदोष युक्त है (८) अग्नि करि परिपूर्ण नहीं पका वा जला हुआ भोजन अथवा तिल- दुल हरड से स्पर्श-रसगंध-वर्ण बिना बदला जल लेना सो अपरिणत दोषयुक्त है (९) गेरू, हरताल, खडी, आदि अप्राशुक द्रव्यसे लिप्त बर्तन द्वारा दिया हुआ आहार लेना सो लिप्त दोपयुक्त है (१०) दातार द्वारा पात्र के हस्त में स्थापित किया हुआ आहार पाणिपात्र में से गिरता हो अथवा पाणि पात्रमें आये हुए आहारको छोड़ और आहार लेकर ग्रहण करना सो परित्यजन दोषयुक्त है (११) शीतल-भोजनमें उष्ण या उष्ण-भोजनमें शीतल भोजन अथवा जल मिलाना सो संयोजन दोषयुक्त है (१२) गृद्धिता से प्रमाणसे अधिक भोजन करना सो अप्रमाण

दोषयुक्त है (१३) गृद्धितायुक्त आहार करना सो अंगार दोष-युक्त है (१४) भोजन प्रकृति विरुद्ध है ऐसे ग्लानियुक्त भोजन करना सो धूम दोषयुक्त है।

[दान का फल]

निर्दोष एवं विधि पूर्वक पात्र दान करनेसे गृहस्थोंके आरंभ सम्बन्धी षट्कर्म-जनित पापक्षय होजाते और सातिशय पुण्य का संचय होता है। तपस्वी-मुनियों को नमस्कार करनेसे उच्च गोत्रका बंध होता, दान देनेसे दानान्तरायका क्षयोपशम होता और भक्ति करनेसे सुन्दर रूप और स्तुति करनेसे कीर्ति होती है। पात्रको दिया हुआ दान उत्तम फल फलयुक्त वृक्षके समान सुखदाई और मनवांछित फलको उत्पन्न करनेवाला होता है। दानके फलसे मिथ्यादृष्टि भोगभूमिके सुख, सम्यग्दृष्टि स्वर्गके सुख भोगता हुआ परंपरासे मोक्ष पाता है। दानके फलकी महिमा यहां तक है कि तीर्थंकर-भगवानको प्रथम पारणा करानेवाला तद्भवमोक्षगामी होता है।

कुपात्र-दानके फलसे कुभोग भूमिके सुख तथा समदत्ति और दयादत्तिसे पुण्य का बंध होकर स्वर्गके सुख मिलते हैं। इसके विपरीत अपात्रोंको दान देना पाप बंध करनेवाला उल्टा दुखदाई है क्योंकि इससे मिथ्यात्व तथा पापकी वृद्धि होती है जिससे दाता और पात्र दोनोंको नीच गति की प्राप्ति होती है।

यहां पर यह प्रश्न उत्पन्न होसकता है कि इस कलिकालमें योग्य-पात्र की प्राप्ति तो दुर्लभ होगई, फिर हम किसकी वैयावृत्ति करे ? किसको दान देवें ? उसका समाधान यह है कि यदि उत्तम पात्र न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रोंकी यथा-योग्य सेवा-सहायता करो, उनके श्रद्धान, ज्ञान, चारित्रकी वृद्धिका पूरा-पूरा यत्न करो, जिससे वे उत्तम पात्र बननेके उत्साही हों। इसके सिवाय पंच-परमेष्ठी गर्भित जिनबिम्बकी पूजन करो जो उत्तम दान एवं उत्कृष्ट वैयावृत्यके फलको देने-वाले हैं।

जिनेन्द्रपूजन करनेका अभिप्राय केवल वैयावृत्य और दान द्वारा पुण्य बंध करके स्वर्गसुखोंकी प्राप्ति करना मात्र ही नहीं है किन्तु चित्तवृत्तिको संसारसे फेरकर, वीतराग रूप करके धर्मध्यान, शुक्लध्यानमें लगाकर परमात्मपनेकी प्राप्ति करना है। जिस प्रकार किसी सांसारिक कार्यको समुचित रीतिसे करने से वह सफल होता है, उसी प्रकार अनुभवपूर्वक एकाग्रचित्त करके पंच-परमेष्ठीके दर्शन, पूजन, वंदना करनेसे मोक्ष सरीखे अलौकिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसा जानकर प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है कि यथा शक्ति नित्य धार्मिक षट्कर्मोंमें प्रवृत्ति करे। सो ही शास्त्रोंमें कहा है :—

श्लोक—देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने-दिने ॥१॥

अर्थ—गृहस्थोंको, देवपूजा गुरु-उपासना, स्वाध्याय संयम, तप और दान ये षट्-कर्म, नित्य करना चाहिये।

[जैनियोंका मूर्तिपूजन]

वर्तमानमें कितने ही मत ऐसे भी हैं जो मूर्तिपूजनका निषेध करते हैं। वे मूर्तिपूजनका अभिप्राय समझे विना मूर्ति-पूजकोंको बुतपरस्त अर्थात् पाषाणपूजक ठहराते हैं। उनको यह बात ज्ञात नहीं है कि मूर्ति अर्थात् स्थापना-सत्य माने विना सांसारिक एवं पारमार्थिक कोई भी कार्य नहीं चल सकते। प्रत्यक्ष ही देखो कि अक्षर जो लिखे जाते हैं, वे जिस पदार्थ के द्योतक याने मूर्तिस्वरूप हों, उसी पदार्थका ज्ञान उन अक्षरों के देखनेसे होता और तदनुसार ही हर्ष विषाद होता है। जैसे निंदा या गालीके द्योतक अक्षरोंको पढकर अप्रसन्नता और प्रशंसारूप अक्षरोंको पढ़कर चित्तमें प्रसन्नता होती है अथवा फोटोकी तसवीर या पत्थरकी स्त्री-पुरुषकी सुन्दर मूर्ति देखकर मन प्रसन्न होता और कुरूप-डरावनी मूर्तिको देखनेसे भय और घृणा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार नक्शेके विना केवल भूगोलकी पुस्तक पढ़नेसे यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार मूर्तिके विना सांसारिक एवं पारमार्थिक कार्योंका समुचित रीति से बोध तथा उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसके लिये इतना ही कहना बस होगा कि मूर्तिनिषेधक लोग भी फोटो (तसवीर) तथा स्मारक मूर्तियोंके द्वारा असली पदार्थका बोध करते हैं

और तदनुसार ही बर्ताव करते हैं। अब विचारनेकी बात केवल इतनी ही है कि मोक्षमार्गके प्रकरणमें मूर्ति किसकी और किस आकारकी होनी चाहिये और उसकी पूजन करनेका अभिप्राय क्या होना चाहिये। इत्यादि बातोंको भलीभांति जाने विना मूर्तिपूजनसे जो लाभ होना चाहिये, सो कदापि नहीं हो सकता, इसलिये इस विषयको भलीभांति जानना जरूरी है। इसके लिये इतना कहना ही बस होगा कि यदि सूक्ष्म दृष्टिसे जैनियोंके मूर्ति स्थापन एवं मूर्तिपूजन सम्बन्धी अभिप्राय ध्यान में लाये जांय, तो कदाचित् भी कोई उन्हें बुतपरस्त नहीं कह सकता; किन्तु उन्हें पूर्ण तत्त्वज्ञानी, सत्य-खोजी और सच्चा मुमुक्षु कह सकता है। अतएव यहां जैनमत-सम्बन्धी मूर्तिपूजन का अभिप्राय संक्षिप्त रूपसे कहा जाता है।

प्रगट रहे कि मूर्तिपूजाके विषयमें जैनियोंके उद्देश्य और सिद्धान्त ये हैं कि जिन महात्माओंने संसार अर्थात् जन्म-मरणकी परिपाटीको बढ़ाने वाले, रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाले विषय कषायोंको त्याग दिया और परम वीतरागता (शांति) अंगीकार की, जिन्होंने अशुभ-शुभ दोनों प्रकारके कर्मोंको संसार-बन्धनके लिये बेडी सदृश जान त्याग दिया, जिन्होंने एकाग्र ध्यान (समाधि) के बलसे सर्वज्ञ पदको प्राप्त किया और शुद्धात्मरूप-परमात्मा हुए। ऐसे सर्वज्ञ, परमात्मा, कर्मशत्रु-विजेता वीरोंकी ध्यान-मुद्राका सदा स्मरण होता रहे,

उनके सद्‌गुणोंके प्राप्त करनेकी सदा इच्छा उत्पन्न होती रहे, जैनी लोग इसी अभिप्रायसे उनकी तादृश (उन्हींके समान) विरागतापूर्ण मूर्ति स्थापना करते हैं। उनका सिद्धांत है कि ऐसी मूर्तिके दर्शन द्वारा परमात्माके गुण चिंतवन करना और उनके समान सद्‌गुणी बननेकी इच्छा करना ही आत्मोन्नतिका मूल साधन है।

कुछ लोग मूर्तिपूजनका इस प्रकार असली अभिप्राय "आत्मीक उन्नतिके" जाने विना जैनियोंको मूर्तिपूजक कहकर उनकी निन्दा करते हैं। परन्तु अपनी तरफ नहीं देखते कि आप स्वतः सांसारिक बुतपरस्त बन रहे हैं जो सांसारिक कार्यों (युद्धादि वा द्रव्यदान) द्वारा किंचित् प्रसिद्ध पुरुषोंकी मूर्ति-फोटो आदिकी स्थापना कर उनकी स्तुति-प्रशंसा करते तथा उनकी मूर्ति पर फूल, माला आदि चढाते हैं।

यह बात भी ध्यानमें लाने योग्य है कि जैनी लोग मूर्तिके दर्शन, पूजन करते हुए पाषाण, पीतल आदि की स्तुति नहीं करते, कि "हे पाषाण या पीतलकी मूर्ति! तू अमुक खानि से निकाली जाकर अमुक कारीगरके द्वारा इतने मूल्यमें अमुक जगह तय्यार कराई जाकर हम लोगोंके द्वारा स्थापित होकर पूज्य मानी गई है" किन्तु वे लोग संसारविरक्त मोक्षगामी परमात्माकी तदाकृति मूर्तिके आश्रय उसके सद्‌गुणोंकी स्तुति तथा पजन करते और उसीके समान मोक्ष प्राप्त करनेकी भावना

करते हैं। वे उन मोक्षमार्गी सच्चे वीरोंकी मूर्तिके दर्शन करके यह शिक्षा लेते हैं कि यह मुद्रा ध्यान करनेकी है, जब हम संसार, शरीर, भोगोंसे सर्वथा विरक्त होकर इस नग्न दिगम्बर मूर्ति सरीखे ध्यानारूढ होंगे, तभी अपने आत्मस्वरूपमें लीन होकर शान्तिरसका आस्वादन कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। पुनः उनके मनमें वीतराग मूर्तिके देखनेसे इस प्रकार शुद्धात्मस्वरूप के ध्यानकी भावना उत्पन्न होती है कि मेरे आत्मामें जबतक रागद्वेषरूप मल लगा हुआ है तबतक ही संसारमें भ्रमण करता नाना प्रकार दुखी होता हुआ जन्म-मरण कर रहा हूं, जिस समय रागद्वेष विकार मुझसे दूर हो जायगा, उस समय मैं अपने स्वरूपमें ऐसा निश्चल लीन हो जाऊंगा, जैसी कि यह पाषाणकी वीतराग मूर्ति ध्यानस्थ है।

प्रगट रहे कि जैनमतमें मूर्ति चाहे पद्मासन हो, चाहे खड्गासन किन्तु, स्त्री-वस्त्र-शस्त्र-आभूषण आदि परिग्रहरहित नासाग्रदृष्टि, पूर्ण वैराग्यसूचक, नग्न दिगम्बर, ध्यानारूढ होती है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मोक्ष प्राप्तिके लिये ऐसी शान्त अवस्था धारण करना बहुधा सभी मतावलम्बी स्वीकार करते हैं।

यहां कोई कहे कि वीतराग सर्वज्ञकी मूर्तिके नित्य अभिषेक (प्रक्षाल) पूर्वक पूजन करनेकी क्या आवश्यकता है? उसका समाधान—इस विषयमें जैनमतका विज्ञान बहुत विज्ञता-

से भरा हुआ है। मूर्तिके प्रक्षाल करनेका अंतरंग अभिप्राय तो यह है कि ऐसी पवित्र ध्यानस्थ-मुद्राके अति निकटवर्ती होने-से उसकी वीतरागता पूर्णरूपसे दरशती है। उसके स्पर्श करने से चित्त आह्लादित होता है मानो साक्षात् अर्हंतदेवका ही स्पर्शन किया और चरणोदक लगानेसे मस्तक तथा सम्पूर्ण शरीर पवित्र होकर मनमें साक्षात् तीर्थंकर भगवानके अभिषेक करने सरीखी भावना उत्पन्न होती है। पुनः प्रक्षाल करनेका बाह्य कारण ये भी है कि मूर्तिपर कूड़ा, कचरा, जाला, मैल, दाग न लगने पावे क्योंकि आच्छादन होनेसे मूर्तिकी वीतरागता बिगड़ती और स्पष्ट-दर्शनमें बाधा आती है।

गृहस्थोंको गृह-सम्बन्धी जंजालोंके कारण अनेक संकल्प, विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, जिससे एकाएक आत्मध्यानमें उनका चित्त एकाग्र नहीं हो सकता, इसलिये उन्हें सांसारिक अशुभ आलंबनोंके त्यागने और पारमार्थिक शुभ आलंबनोंमें लगनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। अतएव गृहस्थको जिन-पूजासे बढ़कर दूसरा कोई प्रबल धार्मिक अवलम्बन नहीं है, इसी कारण शास्त्रोंमें गृहस्थको धार्मिक षट्कर्मोंके आरम्भमें ही देवपूजन करनेका उपदेश है। पूजन करनेसे पूजनके द्रव्य एकत्र करने, धोने, चढ़ाने, पाठ-मंत्रादि बोलने, पूज्य परमेष्ठी के गुणोंके चिंतवन करनेमें जितने समय तक चित्त लगा रहता है, उतने काल तक परिणाम पुण्यरूप रहते, सांसारिक विषय-

कषायकी ओर चित्त नहीं जाने पाता, जिससे महान् पुण्यबंध और पापकी हानि होती है तथा उतने काल तक संयम (इन्द्रियोंका जीतना) और तप (इच्छाका निरोध) होता है। जिससे आत्मीक शक्तियां सबल और निर्मल होती हैं।

जैनमतमें अष्टद्रव्य (जल, सुगंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल) से पूजन करनेकी आज्ञा है। इनको परमात्मा या गुरुके सन्मुख चढ़ानेका अभिप्राय, पूजकोंके सांसारिक तापोंके दूर करनेकी इच्छा है। इसी हेतुसे ये अष्टद्रव्य पृथक्-पृथक् मंत्रों द्वारा परमात्माके सन्मुख क्षेपण किये जाते हैं और भावनाकी जाती है कि "इन जल, सुगंध, अक्षतादि द्रव्योंको हमने अनादिकालसे सेवन किया, परन्तु हमारे तृषा क्षुधादि सांसारिक ताप दूर नहीं हुए। अतएव हे प्रभु ? ये द्रव्य आपके सन्मुख क्षेपण कर चाहते हैं कि आपकी तरह हम भी क्षुधा, तृषा, मोह, अज्ञानादि दोषोंसे रहित होकर आप सरीखी निर्दोष और उत्कृष्ट दशाको प्राप्त होवें"

इस विषयमें श्री रत्नकरण्डश्रावकाचारमें श्रीमान् पं० सदासुखजीने भी इस प्रकार कहा है। यहां कोई आशंका करे कि भगवान् अरिहंत तो आयु पूर्णकरि लोकके अग्र भाग मोक्ष स्थानमें जा विराजे हैं, धातु-पाषाणके स्थापनरूप प्रतिविम्बमें आते नहीं, अपना पूजन-स्तवन चाहते नहीं, अपने अनंत ज्ञान, अनंत सुखमें लीन तिष्ठे हैं, किसीका उपकार, अपकार

करते नहीं, पूजन-स्तवनादि करनेवालेसे राग और निन्दा करने वालेसे द्वेष करते नहीं। अपना पूजन स्तवन तो मान कषाय से संतापित, अपनी बड़ाईका इच्छुक, स्तवन करनेसे संतुष्ट होनेवाला, ऐसा संसारी (रागी-द्वेषी) होय सो चाहे। तो फिर किस प्रयोजनसे उनकी पूजनकी जाती है? उसका समाधान— जो भगवान् वीतराग तो पूजन स्तवन चाहते नहीं परन्तु गृहस्थका परिणाम शुद्ध-आत्मस्वरूपकी भावनामें तो लगता नहीं, साम्यभावरूप रहता नहीं, निरालंब ठहरता नहीं, इसलिये परमात्म-भावनाका अवलम्बन कर वीतराग स्वरूपके धातु, पाषाणमय प्रतिबिम्बमें संकल्प कर परमात्माका ध्यान-स्तवन-पूजन किया जाता है। उस समय कषायादि संकल्पके अभाव से, दुर्ध्यानके छूटनेसे, परिणामोंकी विशुद्धताके प्रभावसे देव, मनुष्य, तिर्यंच तीन शुभ आयु विना शेष कर्मोंकी स्थिति घट जाती है तथा पुण्यरूप कर्म प्रकृतियोंमें रस बढ़ जाता, और पाप प्रकृतियोंका रस सूख जाता है। भावार्थ, पापकर्मका नाश होकर सातिशय पुण्यकर्मका उपार्जन होता है।

फिर यह भी विचारनेकी बात है कि यथार्थमें पुण्य-पापके बंधके कारण तो अपने शुभाशुभ भाव हैं। और यह नियम है कि जैसा बाह्य अवलंबन मिलता, बहुधा वैसे ही भाव होते हैं। यद्यपि भगवान् वीतराग मूर्तिमें आते जाते नहीं, किसीका उपकार-अपकार करते नहीं, तो भी उनकी

वीतराग मूर्तिका ध्यान-पूजन-नामस्मरण करना, रागद्वेष नाशने को निमित्त कारण है इससे जीवका परम उपकार होता है। जिस प्रकार अचेतन सुवर्ण, मणि, माणिक्य, रूपा, महल, वन, बाग, नगर, पाषाण, कर्दम, श्मशान आदि देखने, नाम स्मरण करने, अनुभव करनेसे राग-द्वेष उत्पन्न होता, वैसे ही जिनेंद्रकी परमशांत मुद्राके दर्शनसे ज्ञानी पुरुषोंके वीत-रागता उत्पन्न होती है। संसारमें जितने मात्र मत हैं, सब वीतरागता ही को मोक्षमार्ग बताते हैं अतएव मोक्षके इच्छुक पुरुषोंको पंचपरमेष्ठीकी पूजन, दर्शन, स्तवन, वंदना नित्य करना उचित है।

पुनः पूजनमें जो जल, चन्दन, अक्षतादि चढाया जाता जाता है सो भगवान भक्षण करते नहीं, पूजा किये विना अपूज्य रहते नहीं, वासना लेते नहीं। जैसे राजाकी भेंट नजर निछरावल करके आनन्द मनाते हैं उसी प्रकार भगवान अरि-हंतके सन्मुख (अग्रभाग में) हर्षपूर्वक अष्ट द्रव्योंका अर्घ चढ़ाया जाता है।

पूजन के योग्य नव देव हैं :—१ अरिहंत २ सिद्ध ३ आचार्य ४ उपाध्याय ५ सर्वसाधु ६ जिनवाणी ७ जिन-धर्म ८ जिन प्रतिमा ९ जिनमन्दिर। सो अरिहंत प्रतिबिम्ब में ही ये नव देव गर्भित हो जाते हैं, क्योंकि आचार्य, उपा-ध्याय साधु तो अरिहंत ही की पूर्व अवस्था है और सिद्ध होते

हैं सो अर्हन्त पूर्वक ही होते हैं। अरिहंतकी वाणी सो जिन-वचन, और वाणी द्वारा प्रगट हुआ जो वस्तु स्वरूप सो जिन-धर्म है। अर्हन्तका बिम्ब सो जिनप्रतिमा और वह जहां तिष्ठैं, सो जिनालय है। इस प्रकार नव देव गर्भित जिनबिम्ब तथा उसके ऋषभादि नाम, सम्मेदशिखरादि क्षेत्र; पंचकल्याणादि काल और रत्नत्रय, दशलक्षणधर्म, षोडशकारणादि भाव (गुण) नित्य ही पूजने योग्य हैं। पवित्र जलको झारीमें धारण करके अर्हन्त प्रतिबिम्बके अग्रभागमें ऐसा ऐसा ध्यान करे कि "हे जन्म-जरा-मरणको जीतनेवाले जिनेन्द्र, मैं जन्म, जरा, मरणरूप त्रिदोषके नाशार्थ, आपके चरणारविन्दकी अग्रभूमिमें जलकी तीन धारा क्षेपण करूं हूं; आपका चरण-शरण ही इन दोषोंके नाश होनेका का कारण है।" इत्यादि आठों द्रव्योंके चढानेके पद बोलकर भावसहित भगवान् के अग्रभागमें द्रव्य चढ़ावे। इस प्रकार देश-कालकी योग्यता-नुसार पवित्र निर्जन्तु एकादि अष्ट द्रव्यसे पूजन करे, परिणामों को परमेष्ठीके ध्यानमें युक्त करे; स्तवन पढ़े, नमस्कार करे।

जिस प्रकार जैनेतर लोग परमात्मामें भूख, तृषा, सोने, जागने आदि दोषोंकी कल्पनाकर उनकी निवृत्तिके लिए जल चन्दनादिसे पूजन करते हैं, वैसा अभिप्राय जैनियोंका नहीं है। क्योंकि परमात्मा (उत्कृष्ट आत्मा) के न तो ये उपा-धियां ही हैं न इनका उपचार है। जैनमतकी पूजा केवल

पारमार्थिक सिद्धिके लिए ही है। उसके पूर्ण अभिप्राय पूजा के प्रत्येक पदके पढ़नेसे भलीभांति झलकते हैं। जो अलौकिक और सच्चे सुखके साधक हैं।

यद्यपि जिनपूजा करनेमें पुण्यरूप शुभपरिणामोंके रहनेसे उनके फलस्वरूप सांसारिक सुख-सम्पदाकी स्वयमेव ही प्राप्ति होती है, तथापि सांसारिक भोग-संपदाकी इच्छासे धर्म-साधन करना जिनमतका उद्देश्य नहीं है, क्योंकि विषय भोगोंकी वांछा करनेसे उल्टा पुण्यका अंश हीन होता है। अतएव सांसारिक सुखोंकी इच्छा रहित होकर अपने आत्मीक सुखकी प्राप्तिके लिए ही परमात्माकी पूजन करना सन्मार्ग है, जिनमतका पवित्र उद्देश्य है।

यहां कोई सन्देह करे कि जब जैनमतका उद्देश "अहिंसा धर्म" है और आरम्भ करनेमें थोड़ी या बहुत हिंसा होती ही है। तो फिर पूजनके आरम्भका उपदेश क्यों? उसका समाधान—आरम्भयुक्त द्रव्यपूजन आदि शुभ कार्य गृहस्थ करते हैं, आरम्भ-त्यागी मुनि कदापि नहीं करते। तो भी "त्रस हिंसाको त्याग वृथा थावर न सँहारे" के अनुसार पूजादि सम्पूर्ण क्रियाओंमें गृहस्थोंको अति यत्नाचार सहित प्रवर्तनेकी आज्ञा है जिससे बुद्धिपूर्वक पाप अल्प भी न हो और पुण्य विशेष हो। यद्यपि सम्यग्ज्ञानी गृहस्थ शुद्धोपयोगको ही इष्ट समझता है, तथापि गृहस्थपनेमें अशुभ त्याग शुभमें प्रवृत्ति होना ही सम्भव है।

प्रत्येक गृहस्थको पूजन या दर्शन करनेके लिये अपनी शक्ति अनुसार थोड़ा-बहुत द्रव्य अवश्यमेव अपने घरसे ले जाना चाहिये, खाली हाथ महात्माओंके दर्शनोंको जाना योग्य नहीं। दर्शनके समय जो एक—दो आदि द्रव्य चढ़ाये जाते हैं सामान्यतः उसका नाम भी पूजन है। सोही प्रथमानुयोग शास्त्रोंमें जहां-तहां तिर्यंचों एवं शूद्रों द्वारा पुष्प-फलादि चढ़ाकर पूजन करना लिखा है। इस अभिप्रायको लेकर बिना चरणानुयोगकी सम्मतिके शूद्रादिकको भी पचांगी पूजन करने का अधिकारी ठहराना ठीक नहीं, यद्यपि सामान्य रीतिसे पूजन (आदर) करनेके सभी अधिकारी हैं तथापि शास्त्राज्ञानुसार प्रत्येकको अपने-अपने पदस्थके अनुसार इसका सम्पादन करना चाहिये, अस्पर्शशूद्र केवल दर्शन ही करें। स्पर्शशूद्र एकादि द्रव्य चढ़ाकर दर्शन करें। द्विजवर्ण अभिषेक-पूर्वक पंच प्रकारी पूजन करें।

जो द्रव्य ममत्वरहित होकर उन महात्माओंके सन्मुख क्षेपण किया जाता है वह अति निर्मल है इसलिए उसे "निर्माल्यद्रव्य" कहते हैं। उस द्रव्यपर चढ़ानेवालेका कुछ भी अधिकार या स्वामित्व स्वतः लेने या किसीको देनेका नहीं रहता, इसलिए उसको चाहे सो ले जावे, परन्तु अपने तईं किसी भी रीतिसे अपनाना अत्यन्त अयोग्य और पापजनक है। ऐसा करनेसे इसी भवमें कुष्टादि रोग, दारिद्र्यादि दुःख प्राप्त

होते और भविष्यके लिए तीव्र पापका बंध होता है।

यहां कोई प्रश्न करे कि भगवानके सन्मुख चढ़ाये हुए द्रव्यको ग्रहण करनेसे महापाप क्यों होता है? उसका उत्तर-भगवानको चढ़ाया हुआ द्रव्य यद्यपि महापवित्र, मस्तकपर चढ़ाने योग्य है तथापि अपनाने योग्य नहीं है क्योंकि निर्ममत्व होकर (त्याग करके) महात्माओंके सन्मुख अर्पण किया गया है इसलिये अग्राह्यके अधिकारी बनना महापापका कार्य है।

[दानके विषयमें विचारणीय बात]

यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर जिससमय धर्मके जिस अंगकी न्यूनता दिखाई दे, उस समय उसीको पुष्ट करे, जिससे श्रद्धान, ज्ञान, चारित्रकी वृद्धि हो। एक समय ऐसा था जबकि राजप्रबन्ध ठीक-ठीक न होनेसे लूट-खसोट का डर रहता था और लोग अबकी तरह अकेले या दो-चार आदमी मिलकर यात्राको नहीं जा सक्ते थे। उस समय धर्मात्मा-श्रीमान लोग सर्वप्रकार रक्षाका प्रबन्ध करके यात्राके लिये संघ निकालते थे, निर्धनोंको मार्ग व्यय देते तथा संघके सभी लोगोंकी यथोचित सहायता करते हुए आप धर्मसाधन करते और सर्वसंघको धर्मसाधन कराते थे। पश्चात् एक समय ऐसा आया जब धर्मद्रोहियोंके द्वारा जैनमन्दिरों, जैनमूर्तियों, जैनशास्त्रोंकी हानि होने लगी।

तब धार्मिक धनाढ्योंने मन्दिरों, मूर्तियों, शास्त्रोंकी कमी देखकर मंदिर बनाने, मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा कराने और शास्त्र-भंडार स्थापित करनेकी ओर रुख फेरा। अब वह समय आ-गया है कि यात्राका मार्ग अति सुलभ होगया है, मंदिर—मूर्ति-प्रतिष्ठा आवश्यकतासे कई गुणी अधिक होचुकी, शास्त्र-भंडार भी छोटे-बड़े जहां तहां मौजूद हैं। इस समय सबसे अधिक आवश्यकता सच्चरित्र जैन विद्वान् बनाकर उनके द्वारा जैनधर्मके तत्त्वोंके सर्वसाधारणमें प्रचलित करने तथा धर्मसे अनजान लोगोंको धर्म स्वरूप बताकर सच्चे जैनी बनानेकी व प्राचीन ग्रन्थोंकी खोजकर उनके जीर्णोद्धार करने तथा सुलभतासे मिलनेके प्रयत्न करनेकी है इसलिए हरएक धर्मोत्साही पुरुषको मुख्यतापूर्वक विद्या-वृद्धि, चारित्र-सुधार और धर्मके प्रचारमें अपनी योग्यतानुसार तन, मन. धन लगाना चाहिये। यद्यपि हालमें लोगोंकी दृष्टि विद्यावृद्धिकी ओर कुछ-कुछ झुकने लगी है और प्रयत्न भी होने लगा है। परन्तु चारित्र जो दिन-दिन हीन हो रहा है उसके सुधारकी ओर पूरी-पूरी उपेक्षा होरही है। लोग यद्यपि अभीतक जातिभय और लोकभय एवं धर्मलज्जासे खुलासा तौर पर अभक्ष्य-भक्षण करने और दुराचारमें लगनेसे डरते हैं, तथापि सत्संगके अभाव और कुसंग के प्रभावसे उस ओर लोगोंकी रुचि बहुत बढ़ रही है। बहुत लोगोंने गुप्तरूपसे ऐश-आराम, आलस्य,

लोभ, विषयलम्पटताके वशीभूत होकर शस्त्रोक्त आचार-विचारों को सर्वथा छोड़ही दिया है यदि ऐसे नाजुक समयमें चारित्र सुधारकी ओर उन्नतिशील, धर्मात्मा या धनाढ्य पुरुष ध्यान नहीं देंगे, तो थोड़े ही दिनोंमें जातिबन्धन टूटकर वर्णभेद मिटने और लोगोंके प्रत्यक्ष रीतिसे मांसभक्षी, मदिरापानी आदि व्यसनोंसे युक्त होजानेकी आसंका हैं। देखिये ! इस अभक्ष्य-भक्षण और असदाचारके प्रभावसे ही दिन-दिन देश में अनेक रोगोंकी वृद्धि हो रही है, लोग अशक्त और पौरुष-हीन होते जाते हैं, धर्मकी रुचि घटती जा रही है; मुनि-आर्यिका एवं उत्कृष्ट श्रावकोंके होनेका मार्ग बन्द-सा हो रहा है, जिससे धर्मकी मूर्ति दिन-दिन क्षीण होती जारही है। अतएव धर्मज्ञ एवं धर्मोत्साही पुरुषोंको सदाचारके प्रचारमें कटिबद्ध होना चाहिये और मन्दिर, यात्रा पूजा, प्रतिष्ठादिकी भी आवश्यकतानुसार सम्हाल करना चाहिये। प्राचीन जिनमंदिरों—धर्मशालाओंका जीर्णोद्धार, तीर्थक्षेत्रों, जिनमंदिरों, सरस्वतीभंडारोंका प्रबंध, प्राचीन ग्रन्थोंकी खोज और उनका जीर्णोद्धार, असहाय जैनी भाइयोंको आजीविकाकी स्थिरतापूर्वक धर्मसाधनके सन्मुख करना आदि धर्मके अंगोंको भी दृढ़ करते रहना चाहिये।

[पात्रदानके पंचातीचार*]

(१) दानमें दी जानेवाली वस्तु हरित पत्रमें रखना (२)

*तत्त्वार्थसूत्रजीमें अनादरकी जगह परव्यपदेश अर्थात् दूसरेसे भोजन

हरित पत्रसे ढांकना (३) अनादरसे दान देना (४) दानकी विधि भूल जाना या दान देनेकी सुधि न रखना (५) ईर्ष्या बुद्धिसे दान देना।

प्रगट रहे कि ये अतीचार पात्रके आहारदानकी मुख्यता से कहे गये हैं अतएव अतीचार बचाने और अतिथि-संविभाग व्रतको निर्दोष पालनेके लिये दातार संबंधी जो-जो दोष बताये गये हैं उनको न लगने देना चाहिये।

लाभ—अतिथिसंविभाग अर्थात् दान देनेसे लोभादि कषायोंकी मंदता होती तथा धर्म और धर्मात्मामें अनुरागरूप परिणाम होनेसे तीव्र पुण्यबंध होता है तथा पात्रके शरीरकी स्थिरता होनेसे धर्मसाधन होकर उसे भी स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्ति होती है।

[व्रती श्रावकके टालने योग्य अन्तराय×]

(१) देखनेके—१ गीला चर्म २ हड्डी ३ मांस ४ चार अंगुल रक्तकी धार ५ मदिरा ६ विष्ठा ७ जीवहिंसा ८ गीली

देनेको कहकर आप और काममें लगजाना और दानकी सुधि भूल जानेकी जगह आहारका समय टाल आहार देना कहा है सो इन दोनोंका प्रयोजन एक ही है केवल शब्द मात्रका अन्तर है।

× सिद्धभक्ति किये पीछे अंतराय माना जाता है (२) जिसके दोबार भोजन करनेका नियम हो, वह अंतराय होनेपर अंतर्मुहूर्त पीछे पुनः भोजन कर सकता है, ऐसा ब्र० ब्र० शीतलप्रसादजीने त्रिवर्णाचारके आधारसे अपने "गृहस्थ धर्म" में लिखा है।

पीव (राध) ९ बड़ा पंचेन्द्री मरा हुआ जानवर (मुर्दा) १० मूत्र, इनके देखनेसे अंतराय होता है।

(२) स्पर्शके—१ चर्मादि अपवित्र पदार्थ २ पंचेन्द्री बड़ा पशु ३ अव्रती पुरुष* ४ रजस्वला स्त्री ५ रोम या केश ६ पंख ७ नख ८ आखड़ी भंग करनेवाले पुरुष या शूद्रका स्पर्श हो जाय अथवा अपने शरीर या हाथसे कोई छोटा-बड़ा त्रस जीव अचानक मर जाय या मरे हुएका स्पर्श हो जाय तो अंतराय होता है।

(३) सुननेके—१ मांस २ मदिरा ३ अस्थि ४ मरण होनेकी आवाज ५ अग्नि लगने आदि उत्पातके शब्द ६ अति कठोर "इसको मारो-काटो आदि" शब्द ७ करुणाजनक रोने का शब्द ८ स्वचक्र-परचक्रके गमनका शब्द ९ रोगकी तीव्रता का शब्द १० धर्मात्मा पुरुषके उपसर्गके समाचार ११ मनुष्य के मरनेके समाचार १२ नाक-कान छिदने (कटने) का शब्द १३ चांडालका शब्द १४ जिनबिम्ब, जिनधर्म और धर्मात्माके अविनयका शब्द १५ किसी अपराधीके फांसीके समाचार। इन के सुननेसे अन्तराय होता है।

(४) मनके संकल्पके—भोजन करते समय ऐसा विचार उत्पन्न हो, कि यह अमुक भोज्य पदार्थ चाम-मांस-हाड़-रक्त

---

*जिसका निंद्य तथा भ्रष्ट आचरण हो, जो जिनधर्म रहित हो, सप्त-व्यसन सेवन करनेवाला तथा अष्ट मूलगुणरहित हो, सो अव्रती जानना।

मदिरा-मल-मूत्र आदि निषिद्ध पदार्थ सरीखा है, ऐसी ग्लानि होने अथवा भोजन समय मल-मूत्र करनेकी शंका होनेसे अंतराय होता है।

(५) भोजनके—यदि कोई त्यागा हुआ पदार्थ भोजन (खाने) करनेमें आ जाय तो भोजन तजे।

[व्रती श्रावकके करने योग्य विशेष क्रियाएँ]

(१) विशेष हिंसाके, निंद्य तथा निर्दयताके धंधे न आप करे, न औरोंको करावे, और न इनकी दलाली करे। यथाः– लाख-मोम-गोंद-लोहा-शोरा-सीसा-हथियार-जूता बेचना आदि। खातका ठेका लेना, वृक्ष काटना, घास काटना, तेल पेरना, हलवाईगिरी करना, वनकटी करना आदि। शराब–गांजा–अफीम आदि मादक पदार्थोंका ठेका लेना-बेचना। गाड़ी, घोड़ा आदिके किरायेका धंधा करना।

यद्यपि व्रतप्रतिमामें केवल संकल्पी त्रस-हिंसाका त्याग होता है, आरंभीका नहीं। तथापि अयत्नाचार पूर्वक होनेवाली आरम्भी हिंसा भी संकल्पीके भावको उत्पन्न करती है, ऐसा शास्त्रोंका वाक्य है। जैसे, राज्य करना क्षत्रियका आरंभ है अतएव प्रजाकी रक्षाके लिये युद्ध करना, इस प्रकारकी विरोधी हिंसाका त्याग करना उसके लिए अशक्य है, तथापि इसमें यत्नाचारका अत्यंत अभाव है। युद्ध महान् आरम्भ और हिंसाका कारण है। युद्धकर्त्तासे सामायिक, प्रोषधादि व्रतोंका निर्विघ्न

और यथायोग्य पालन होना असंभव है, इसलिये व्रती स्वतः अपने तईं युद्ध न करे, सेनापति, कुटुम्बी, भृत्यादि जो युद्ध करने योग्य हों, सो करें। इसी प्रकार प्रचुर आरंभ और हिंसा का मूल खेतीका धंधा है, इसमें भी यत्नाचारका अभाव आदि युद्धके सदृश सभी दोष उत्पन्न होते हैं अतएव व्रती पुरुष खेती अपने हाथसे न करे, जिसके परंपरासे होती आई हो, वह खेत बेंचे, अपने कुटुम्बी, भृत्यजन आदिसे करावे अथवा इस धंधेको छोड़कर और कोई हिंसारहित धंधा करे। सागार-धर्मामृतमें ऐसा भी कहा है कि जघन्य श्रावक अपने तथा अन्य के द्वारा पशुओंका ताड़न-पीड़नादि न करे। और कृषिमें यह बात मुख्यपनेसे होती ही है अतएव खेती करना व्रतीके योग्य नहीं है।

यहां कोई सन्देह करे, कि कृषि वाणिज्यादि आरम्भका त्याग जब अष्टम प्रतिमामें कहा है तो व्रतप्रतिमामें इसका निषेध कैसा? उसका समाधान—जैसे छठी प्रतिमामें रात्रिभुक्ति त्याग कहा है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पांचवीं प्रतिमा वाला रात्रिभोजन करता होगा, नहीं-नहीं रात्रिभोजनका त्याग तो प्रथम प्रतिमामें ही हो चुका है, छठीमें तो केवल कारित-अनुमोदना सम्बन्धी अतीचारोंका त्याग होता है। इसी प्रकार पांचवीं प्रतिमामें बीज, कंद, मूलादि सचित्त भक्षणका त्याग कहा है इससे कोई ऐसा न समझे, कि चौथी प्रतिमावाला

कन्दमूल खाता होगा, नहीं-नहीं, इनका त्याग दर्शनप्रतिमाके २२ अभक्ष्यमें तथा रहा-सहा व्रत-प्रतिमाके अनर्थदंडत्यागव्रत में हो चुका है, यहां पंचम प्रतिमामें तो केवल सचित्तका त्याग कराया है। इन दोनों दृष्टान्तोंसे भलीभांति समझमें आजायगा कि सप्तम प्रतिमावाला ब्रह्मचारी होकर कदापि अपने हाथसे खेती नहीं करता, भला वह सचित्तत्यागी, रात्रिभुक्तित्यागी, ब्रह्मचारी होकर हल-बखर लेकर खेत जोते और प्रत्यक्ष छोटे-बड़े हिलते-चलते त्रस जीवोंका निर्भयता पूर्वक घात करे, यह कैसे संभव हो सकता है? कदापि नहीं।

इसमें संदेह नहीं कि अल्प आरंभी, अल्प परिग्रही श्रावक ही भावशुद्धिपूर्वक अणुव्रतोंका पालन कर सकता है। कषाय मंद होकर जिस-जिसप्रकार प्रतिमा बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही इन्द्रियोंके विषय, आरंभ, परिग्रह घटते जाते हैं। यहां कोई प्रश्न करे कि जिसका धंधा ही खेती या युद्धका हो, वह क्या करे? उसका समाधान—जो परिणामोंकी विशुद्धतापूर्वक अहिंसादि अणुव्रत, सामायिक आदि शील पालना चाहे तो खुद अपने हाथसे ऐसी दीर्घ हिंसा एवं आरंभके कार्य न करे, अपने कुटु-म्बी, परिकर, नौकर-चाकरों को करने दे और आप ऐसे धंधे छोड़ अल्प आरंभ-परिग्रहके धंधे करे।

(२) आंखों दीखते त्रस जीवोंका घात न करे। जितने कार्य गृहसम्बन्धी या धर्मसम्बन्धी व्रतीके करने योग्य हों, सब

में यत्नाचार पूर्वक देख-शोधकर प्रवृत्ति करे, क्योंकि अयत्नाचार-पूर्वक प्रवृत्ति करने से हिंसा न होते हुए भी हिंसा सम्बन्धी पापास्रव होता है।

(३) एक जीवको मारडालने से बहुत जीवों की रक्षा होती है, ऐसा मानकर सर्प, बिच्छू, सिंहादि हिंसक जीवोंको न मारे। प्रश्नोत्तरश्रावकाचारमें स्पष्ट कहा है कि व्रत प्रतिमा-वाला, शत्रुको भी मूकी-लाठी आदि से नहीं मारता तो सिंहादि का मारना कैसे संभव है? कदापि नहीं। इसी प्रकार देव, गुरु, धर्मके निमित्त भी कभी भूलकर हिंसा न करना चाहिये और न दुखी जीवोंको दुखसे छूटजानेके अभिप्रायसे मारना चाहिये।

(४) सदा उठते-बैठते-चलते-फिरते कोई भी कार्य करते इस बातका विचार रखना चाहिये कि मेरे ही समान सब जीवों को सुख-दुख व्यापता है, इसलिये जिस प्रकार रोजगार धंधोंमें हिंसा, झूठ आदिकी प्रवृत्ति कम होती देखे, उसी तरह शरीर तथा कुटुम्बका पालन करता हुआ प्रवर्ते, इसीलिये व्रती श्रावक को "अल्पसावद्यआर्य" संज्ञा है। सागारधर्मामृतमें भी कहा है कि व्रती अल्पसावद्ययुक्त आजीविका करे।

(५) हिंसा तथा व्रतभंग से बचनेवाली नीचे लिखी बातों पर ध्यान देवे. (१) रात्रिका बनाया हुआ भोजन भक्षण न करे (२) जाति-बिरादरीके बड़े-बड़े जीमणों (जेंवनारों, दाव-

तों, गोटों) में भोजन न करे, क्योंकि वहां शुद्ध-अशुद्ध, भक्ष्य-अभक्ष्य, मर्याद-अमर्याद, छनापानी-अछनापानी आदि बातोंका कुछ भी विचार नहीं रहता (३) रसोई बनाते या जीमते वक्त शुद्ध, धोया हुआ वस्त्र पहिने (दौ. कि. को.) (४) नीच तथा निकृष्ट धंधे करनेवालों से लेने-देने, बैठक-उठक आदि व्यवहार न रक्खे(५)बाग-बगीचेमें भोजन अथवा गोट न करे(६) पशु-मनुष्यादिका युद्ध न देखे (७)फूल न तोड़े [८]जलक्रीडा न करे [९]रात्रिको खेलकूद तथा व्यर्थ दौड-भाग न करे[१०] जहां बहुत स्त्रियां एकत्र होकर विषय-कषाय बढानेवाले गीत-गान करती हो ऐसे मेलेमें न जावे और न विषय-कषाय वर्धक नाटक खेलादि देखे [११] होली न खेले [१२] गाली न देवे, हँसी-मसखरी न करे [१३] चमड़ेके जूते न पहिने [१४] ऊनी वस्त्र न पहिने [१५] हड्डीके बटन आदि पदार्थ काममें न लावे [१६] धोबी से कपड़े न धुलावे* [१७] पानीके नलोंके डांटों में यदि चमडेका पर्दा लगा रहता हो तो नलका पानी दर्शन प्रतिमाधारीको न पीना चाहिये। यदि चमड़ा न लगा हो और जीवाणी (बिलछानी) डालनेका सुभीता न हो तो व्रतप्रतिमाधारी न पीवे, क्योंकि जीवाणीको उसी जल स्थानमें डाले बिना, त्रसहिंसाका दोष आता है (१८) धर्मसंग्रहश्रावकाचार में कहा है कि व्रती अनछने जलसे स्नान तथा शौच न करे (१९)

---

*अगर कपडे धोना हो तो जलस्थान से अलग छनेपानी से धोवे ।।

व्रती श्रावक उत्तम वंश अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके हाथ का भरा हुआ जल पीवे, जो विधिपूर्वक जल छानना जानता हो (दौ. कि. को.) (२०) घड़ी दो दिन रहेसे घड़ी दिन चढ़े तक हिंसाकी निवृत्तिके लिए आहार-पानी न लेवे (२१) जिस देश या क्षेत्रमें व्रतभंग होता हो वहां न जावे (२२) व्रती मौनसहित*अन्तराय टाल भोजन करे (२३) दर्शन-पूजन दान पूर्वक भोजन करे (२४) रातको स्नान न करे, इसमें विशेष त्रस हिंसा होती है। (दौ. कि. को.) (२५) व्रत प्रतिमासे लेकर ११ वीं प्रतिमा तक रात्रिको एकांत स्थानमें नग्न ध्यान धर सकता है। दिनको तथा सर्व स्त्री पुरुषोंके आने जानेके स्थानमें ध्यान न धरे (पीयूषवर्षश्रावकाचार)।

व्रती श्रावक सात जगह मौन रक्खे—(१) भोजन-पान (२) स्नान (३) मलमोचन (पेशाब-पखाना) (४) मैथुन (५) वमन (६) पूजन (७) सामायिकके समय। तथा ७ जगह चँदेवा बांधे-(१) चूल्हा अर्थात् रोटी बनानेकी जगह तथा भोजन करनेकी जगह (२) परिंडा (घिनौची) पर (३) घट्टी (चक्की) पर

*व्रती श्रावकको भोजनके समय कोई भी चीज़ लेनेके लिये भौंह, आंख, हुंकार, हाथ पांव आदि का इशारा न करना चाहिये, नाहीं करने लिये इशारा करने की रोक नहीं है। **मौन** रखके तथा **अंतराय** पालनेमें जिह्वाइन्द्रिय वश होती, सन्तोष भावना पलती, वैराग्य दृढ़ होता, संयम पलता, चित्त स्थिर रहनेसे एषणासमिति पलती तथा वचनकी सिद्धि आदि अनेक अतिशय उत्पन्न होते हैं।

[४] ऊखली पर [५] अनाज आदि रसोईके सामान साफ करनेकी जगह पर [६] सोने बैठनेकी जगह पर [७] सामायिक-स्वाध्याय करनेकी जगह पर ।

(१) अस्पर्श शूद्रोंके दर्शन प्रतिमा तक होसक्ती है, वे व्रत प्रतिमा पालन नहीं कर सक्ते, क्योंकि उनके धंधे ऐसे निकृष्ट, हिंसायुक्त तथा मानसिक वासनायें ऐसीअसंस्कृत [संस्कार-रहित] होती हैं जिससे वे व्रत धारण करने को समर्थ नहीं हो सक्ते* । यद्यपि प्रथमानुयोगके ग्रंथोंमें कई अस्पर्श शूद्रोंके व्रत पालने का वर्णन आया है सो उसपर जब अच्छी तरह पूर्वापर विचार किया जाता है, तो निश्चय होता है कि यह बात सामान्य रीतिसे कोई एक आखडी पालनेकी अपेक्षा कही गई है । अथवा दर्शन प्रतिमामें कहे अनुसार स्थूल-पापोंके त्यागरूप व्रतोंके धारण करनेकी अपेक्षा कही गई है । ऐसे ही अभिप्रायको लेकर जल छानकर पीनेकी मुख्यता प्रगट करनेके लिये पं० सदासुखजी ने श्रीरत्नकरंडश्रावकाचार की भाषा टीकामें लिखा है कि "खेती करते हुए हजारों मन

*इसीप्रकार स्पर्श-शूद्र,ऐलक तथा मुनि-व्रत धारण नहीं कर सकते । पूर्व महर्षियों ने पने सूक्ष्मदर्शी ज्ञान-नेत्र द्वारा जिस द्रव्यमें जिस क्षेत्र काल के आश्रय जितने उत्कृष्ट या निकृष्ट भाव होने की शक्ति देखी, उतने ही भावके साधन निमित्त उसी मर्यादा तक बाह्य क्रियाचरणों (व्रतों) के धारण करने का उपदेश दिया है ।

अनछना पानी खेतोंमें पिलावे, परन्तु आप एक बूंद भी अन-छना पाणी न पीवे" सो ऐसा सामान्य व्रत दर्शन प्रतिमामें ही सम्भव है। इसीप्रकार कई जगह अव्रतियोंको श्रावक या श्रावकोत्तम कहा है सो सामान्यरीतिसे छद्मस्थ ज्ञानगोचर मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यके त्यागकी अपेक्षा जानना चाहिये।

(२) तत्त्वार्थबोध तथा दौलत क्रिया कोषमें कहा है कि तिर्यंच मध्यम व्रत प्रतिमा पालन कर सक्ता है सो उसका भाव यह हैं कि वह सामान्यरीति से व्रत पालन करसक्ता है अर्थात् छने हुए पानी और शुद्ध आहारकी जगह डोहला पानी तथा सूखे तृण, पत्ते खाकर अपना व्रत निर्वाह कर सकता है इससे विशेष व्रत पालनेको असमर्थ है।

(३) सागार-धर्मामृत तथा धर्मसंग्रह-श्रावकाचार आदि में कहा है कि गृहत्यागी व्रती, पंचाणुव्रतको मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना इन नव भंगों मे पालन कर सकता है परन्तु गृहवासी व्रती मन-वचन-काय, कृत-कारित इन छह ही भंगों से पालन कर सकता है, उसके अनुमोदना सम्बन्धी त्याग दशवीं प्रतिमामें होता है। इससे ऐसा प्रगट होता है कि व्रत प्रतिमासे भी यदि कोई ग्रहत्यागी होना चाहे तो हो सक्ता है। यह ग्रहत्यागी-व्रती सादे, वैराग्यसूचक वस्त्र पहिने जिससे दूसरे लोग उसे ग्रहत्यागी जान योग्य सहायता-वैयावृत्यादि करें। चौमासा करे, विशेष गमनागमन न करे, क्योंकि

गृहस्थोंके तो कुटुम्बपालनके लिये उद्योग-आरम्भ करनेके कारण सदा गमनागमन तथा विशेष कर बरसातमें जहां तहां जाने-आने सम्बन्धी विशेष हिंसा होती है परन्तु गृहत्यागीके गृहारम्भ रहा नहीं, इसलिये कारणके अभाव होने से कार्य का अभाव होना ही चाहिये। यहां कोई प्रश्न करे कि गृह-त्यागी भोजनादि निर्वाह कैसे करे? उसका समाधान-जो विना दीनता दिखाये, विना भिक्षा मांगे, भोजन-वस्त्र प्राप्त होने की अपनी (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी) योग्यता देखे, तो गृहत्यागी होवे। सिवाय इसके सप्तमी प्रतिमा तक रसोई संबंधी आरम्भ कर सक्ता और अष्टमी प्रतिमा तक रुपया पैसा पास रख सक्ता है, इसलिये जो कोई आदरपूर्वक भोजन-वस्त्रादि दे तो ले ले, नहीं तो आप अपने दामोंसे आवश्यक वस्तु आदि मोल ले लेवे तथा अपने हाथ से रसोई बनाकर भोजन करे, परन्तु दूसरोंके सन्मुख दीनता न दिखाता फिरे और न अनादर पूर्वक भोजनवस्त्रादि ग्रहण करे, क्योंकि जैनधर्ममें सिंहवृत्तिरूप त्यागका उपदेश है, इसलिये जिस प्रकार धर्मकी हँसी व निन्दा न हो, परिणाम उत्कृष्ट एवं उत्साहरूप रहें, उसी प्रकार योग्यतानुसार धर्मसाधन करे।

[व्रत प्रतिमा धारण करनेसे लाभ]

पंचाणुव्रत धारणके लाभ बताते हुए कह ही चुके हैं कि व्रतोंके धारण करनेसे लोकमें प्रामाणिकता (विश्वास), यश,

बड़प्पन, सुख समृद्धिकी प्राप्ति होती है, किसी प्रकार सामाजिक, राजनैतिक आपदायें* नहीं आ सकती। समाजमें वेश्यानृत्य, आतिशबाजी, फिजूल खर्ची, कन्या विक्रय, जालसाजी आदि हानिकारक कुरीतियां नहीं रह सकतीं, पुनः गुणव्रतों-शिक्षाव्रतोंके भलीभांति पालन करनेसे ऊपरकी प्रतिमाओं का धारण करना सहज हो जाता है। पाप-अंश घटता और पुण्य-अंश बढ़ता है, धर्मकी निकटता एवं शांतिसुखकी प्राप्ति होती है। तीव्र सातिशय पुण्यबंध होकर परलोकमें उत्कृष्ट सांसारिक अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती और अन्तमें निराकुलित सुखके पुंज मोक्षपदकी प्राप्ति होती है।

[तृतीय सामायिक प्रतिमा]

सामायिक व्रतमें कह ही आये हैं कि रागद्वेष रहित होकर शुद्धात्मस्वरूपमें उपयोग को स्थिर करना सो यथार्थ सामायिक है। इस सामायिककी सिद्धिके लिये श्रावक अवस्थामें द्वादश अनुप्रेक्षा, पंच परमेष्ठी, आत्माके स्वभाव-विभावोंका चिंतवन एवं आत्मस्वरूपमें उपयोग स्थिर करने का अभ्यास करना, सो सामायिकप्रतिमा है।

सामायिकके आदि अन्तमें एक एक नमस्कार, चारों दशाओंमें नव नव णमोकारमंत्र सहित तीन तीन आवृत्ति, एक एक शिरोनति (प्रणाम) करे, शरीरसे निर्ममत्व होता हुआ सब जीवोंसे

* पिनलकोड [ताजीरात हिन्द] की कोई दफा नहीं लग सकती।

समताभाव रक्खे, आर्त्त-रौद्र ध्यान तजे और खड्गासन या पद्मासनमेंसे कोई एक आसन मांडे, मन-वचन-कायके तीनों योगों की निर्दोष-प्रवृत्ति सहित प्रभात मध्याह्न सांयकाल तीनों संध्याओं में नियम पूर्वक नियत समयपर तथा नियत समय तक निरतिचार सामायिक करे. इसप्रकार आत्महित के लिये परिणामोंकी विशुद्धिताका इच्छुक सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक कहाता है।

सामायिक बाधारहित स्थानमें करे. सामायिक के समय अल्प वस्त्र रक्खे. शरीर, मस्तक, गला सीधा तथा स्थिर रक्खे, दोनों पावोंमें चार अंगुलका अंतर रखकर काष्ठस्तंभवत् स्थिर खडा हो या पद्मासन से बैठे, इधर-उधर न देखे, नासाग्रदृष्टि रखता हुआ सामायिकमें चित्त लगावे।

सामायिकके प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, सामायिक, स्तुति, वन्दना, कायोत्सर्ग इन षट्कर्मोंको भले प्रकार सम्हाले, इनका अनुभव करे, तप* संयमका अभ्यास करे। जिसप्रकार सामा-

---

*सांसारिक विषयोंकी इच्छारहित होकर आत्माको तपाना(निर्मल करना) सो तप है, तप बाह्य-अंतरंग दो प्रकारके है। बाह्य तप १ अनशन उपवास। २ ऊनोदर [भूखसे कम खाना]। वृत्तिपरिसंख्यान [यथाशक्ति गृहस्थके योग्य अटपटी आखडी लेना] ४ रसपरित्याग [घी शक्कर, दूध, दही, नमक, तेल इन छहों रसोंमें कोई एक दो आदि रस छोडना]। ५ विविक्त शय्यासन [जहां ध्यान-स्वाध्यायमें विघ्न के कारण न हों, ऐसे स्थानमें सोना, बैठना]। ६ कायक्लेश [कायोत्सर्ग करना, शीत, उष्णादि परीषह

यिक संयमके योग्य-पात्र मुनि हैं परन्तु श्रावक भी योग्यता-नुसार अभ्यास रूप सामायिक करते हैं, उसी प्रकार तप-संयमके योग्य-पात्र तो मुनि ही हैं तथापि इनका यथासंभव अभ्यास श्रावकों को भी करना चहिये।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि सामायिक-व्रत और सामायिक प्रतिमामें क्या अन्तर है? उसका समाधान-शिक्षाव्रत में समयकी मर्यादा अथवा शाम-सुबह-दोपहरको नियमित समय से कुछ आगे-पीछे, कालका अंतर पडने सम्बन्धी दोष आता था, अथवा सामायिकव्रती कदाचित् (कभी) कारण विशेषसे प्रातःकाल संध्याकाल दो ही समय सामायिक करता था परन्तु यहां प्रतिमारूप होनेसे नियमपूर्वक त्रिकाल यथावत् सामायिक करता है। सामायिक व्रतमें लगनेवाले उपर्युक्त

सहना। **अंतरंग तप**—१ प्रायश्चित-[लगे हुए दोषों को दंड लेकर निर्मल करना]। २ विनय-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप तथा उनके धारकों का विनय करना]। ३ वैयावृत्य-[चार प्रकार संघकी सेवा-सहायता करना]। ४ स्वाध्याय [शास्त्रों का यथारीति अध्ययन करना]। ५ व्युत्सर्ग [शरीरसे महत्व छोड़ना]। ६ ध्यान-[आत्म—चिंतन करना, धर्म-ध्यान करना]।

इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकते हुए छः कायके जीवोंकी रक्षा करना सो **संयम** है। वह दो प्रकार का है [१] इन्द्रियसंयम अर्थात् स्पर्शन-रसना घ्राण-चक्षु-श्रोत्र मन इन छहों को वश करना [२] प्राणिसंयम अर्थात् पृथ्वीकाय-जलकाय अग्निकाय वायुकाय-वनस्पतिकाय-त्रसकाय के जीवों की रक्षा करना।

दोष ऐसे नहीं थे, जिनसे सामायिक व्रत भंग हो जाय, केवल सूक्ष्म-मलरूप थे, अतः यहां उनका अभाव हुआ। भावार्थ-सामायिक प्रतिमावाला निर्दोष सामायिक करे और नीचे कहे हुए ३२ दोष न लगावे, उपसर्ग आने पर भी प्रतिज्ञासे न टले और रागद्वेषरहित हुआ सहन करे।

[सामायिक सम्बंधी ३२ दोष]

[१] अनादरसे सामायिक न करे [२] गर्वसे सामायिक न करे [३] मान-बड़ाईके लिये सामायिक न करे [४] दूसरे जीवोंको पीड़ा उपजाता हुआ सामायिक न करे [५] हिलता हुआ सामायिक न करे [६] शरीरको ठेढ़ा रखता हुआ सामायिक न करे [७] कछुवेकी नांई शरीरको संकोचता हुआ सामायिक न करे [८] सामायिकके समय मछलीकी नांई नीचा-ऊँचा न हो [९] मनमें दुष्टता न रखे (१०) जैनमतकी आम्नायके विरुद्ध सामायिक न करे [११] भय-युक्त सामायिक न करे [१२] ग्लानि सहित सामायिक न करे [१३] मनमें ऋद्धिगौरव रखता हुआ सामायिक न करे [१४] जाति कुलका गर्व रखता हुआ सामायिक न करे [१५] चोरकी नांई छिपता हुआ सामायिककी क्रिया न करे [१६] सामायिकका काल व्यतीत होने पीछे सामायिक न करे अर्थात् समयपर करे [१७] दुष्टतायुक्त सामायिक न करे [१८] दूसरेको भय उपजाता हुआ सामायिक न करे [१९]

सामायिकके समय सावद्य वचन न बोले [२०] परकी निंदा न करे [२१] भौंह चढ़ाकर सामायिक न करे [२२] मनमें संकुचाता हुआ सामायिक न करे [२३] दशों दिशाओंमें इधर-उधर अवलोकन करता हुआ सामायिक न करे [२४] स्थानके देखे-शोधे विना सामायिकको न बैठे [२५] जिस तिस प्रकार सामायिकका काल पूरा न करे [२६] सामायिक की सामग्री लँगोटी-पूजणी-क्षेत्र आदिके मिलनेपर या न मिलने पर सामायिकमें नागा न करे [२७] वांछायुक्त हुआ सामायिक न करे [२८) सामायिकका पाठ हीन न पढ़े अथवा सामायिक का काल पूरा हुआ बिना न उठे [२९] खंडित पाठ न पढ़े [३०] गूंगेकी नांई न बोले [३१] मैंढककी नांई ऊंचे स्वर से टर्र-टर्र न बोले [३२] चित्त चलायमान न करे।

सामायिक करनेवाला अपने साम्यभावके निमित्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अनुकूल मिलावे, साम्यभावके बाधक कारणों को दूर ही से छोड़े, जैसा कि सामायिक व्रतमें विस्तारसे कहा गया है।

रेल, मोटर, जहाज आदि जिसका चलना, ठहरना अपने आधीन न हो ऐसी, पराधीन सवारीमें बैठकर मुसाफिरी करने से सामायिककी प्रतिज्ञाका नियम रूपसे पालन होना असंभव है। सामायिकके समय पराधीन-सवारी चलते रहनेसे क्षेत्रका कोई प्रमाण नहीं रह सकता, सामायिककी प्रतिज्ञायें हर प्रकार

नहीं पल सकती और न अपने द्वारा होनेवाली हिंसा रुक सकती है। मुसाफिर उतरते-बैठते, लड़ते-भिड़ते धकियाते हैं तथा सवारीके चलनेमें भी धक्के लगते हैं जिससे मन, वचन, काय की स्थिरता [निश्चलता] नहीं रह सकती। इस प्रकार साम्य-भावके बाधक अनेक कारण उपस्थित होते हैं। उपर्युक्त पराधीन सवारियोंमें बैठनेमे चाहे नाममात्र सामायिक भले ही करली जाय, परन्तु सामायिक रूप क्रियाका जो फल होना चाहिये, सो कुछ भी नहीं होता। अतएव या तो सामायिकका काल छोड़ अन्य समय ऐसी सवारी द्वारा गमनागमन करे या अपनी घरू (स्वतंत्र) सवारी रक्खे। अथवा जो बहु-आरंभी, बहुपरिग्रही होनेके कारण पराधीन सवारी छोडनेको असमर्थ हो, जिसको समय-बेसमय अचानक ही यहां-वहां जाना पडता हो, वह व्रत प्रतिमा ही धारणकर यथाशक्य सामायिकव्रतका पालन करे क्योंकि बिना परिणामोंकी निर्मलताके नाममात्र सामायिक प्रतिमा धारण करलेनेसे तो कुछ लाभ नहीं। यहां तो परिणामोंकी निर्मलता नित्य नियमित रूपसे ही नहीं, किन्तु उन्नतिरूप होना चाहिये। यही अन्तर यथार्थमें सामायिक व्रत और सामायिक प्रतिमामें है। धर्म धारण करना आत्मकल्याण के लिये है, ख्याति-लाभ पूजाके लिये नहीं है। अतएव जिसप्रकार विषय-कषाय घटनेकी तथा परिणामों में वीतरागता और शांति उत्पन्न होनेकी पद्धति आचार्यों ने

बताई है, उसे ध्यानमें रखकर धर्मसाधन करना मुमुक्षुओंका परम कर्तव्य है।

लाभ—सामायिक प्रतिमा धारण करनेसे प्रतिदिन त्रिकाल, उत्कृष्ट छह-छह घड़ीतक हिंसादि पापास्रव रुकते, और आत्म-विचार, तत्त्वविचारमें चित्त स्थिर होता है, जिससे सातिशय पुण्यबंध होकर स्वयमेव ही सांसारिक तथा पारमार्थिक सुखों-की प्राप्ति होती है।

[चतुर्थ प्रोषध प्रतिमा]

प्रोषध—शिक्षाव्रतमें प्रोषधोपवासकी विधि विस्तारपूर्वक वर्णन करही आये हैं, वही सब क्रिया यहां समझना चाहिये। यद्यपि वहां पर भी मल दोष न लगनेकी पूरी खबरदारी रक्खी जाती थी, तो भी कारण विशेषसे प्रोषध-व्रतमें एक बार उष्ण-जल लेने अथवा एकासना करनेकी भी प्रतिज्ञा लेकर तदनुसार ही व्रत पालन किया जाता था, अब यहां प्रोषध प्रतिमा प्रतिज्ञारूप है, इसलिये परीषह-उपसर्ग आनेपर भी शक्तिको न छिपाकर प्रत्येक अष्टमी-चतुर्दशीको यथाशक्य उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्य प्रोषधोपवास कर सामायिकवत् १६ पहर तक आहार, आरम्भ, विषय, कषाय रहित होकर उत्कृष्ट प्रवृत्ति करना चाहिये।

प्रोषधोपवासके दिन यथासंभव मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति रोके, यदि प्रवृत्ति करनाही पड़े तो शुभ और समितिरूप करे।

हरएक वस्तु देख-शोधकर उठावे-धरे। मल, मूत्रका त्याग ऐसे स्थानमें करे, जहां जीवोंको बाधा न हो और न नये जीव उपजें।

लाभ-प्रोषधप्रतिमाके धारण करनेसे नित्य-नैमित्तिक सामायिकके कालके अतिरिक्त एक माहमें चार दिनका समय निराकुलतापूर्वक धर्मध्यान करने तथा आत्मस्वरूपमें उपयोग लगानेके लिये और भी मिलता है, जिससे पाप अंश की कमी और पुण्य अंशकी वृद्धि होती है। यह क्रिया मोक्ष-मार्गकी पूरी सहकारिणी है।

[पाँचवीं सचित्त-त्याग प्रतिमा]

जो दयालु पुरुष कच्चे (सचित्त) कन्द, मूल, फल, शाक, शाखा, करीर (अंकुर अथवा गाभा) पुष्प, बीज आदि भक्षण करनेका त्याग करता है वह सचित्तत्याग प्रतिमाधारी कहाता है।

सचित्तभक्षण का त्याग स्वदया [आत्मदया] परदया एवं जिह्वा वश करने अथवा अन्य२ इन्द्रियोंके दमनार्थ किया जाता है। जो सचित्त त्यागी हैं, वे श्री जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा और प्राणियोंकी दया पालते हुए धर्ममें तत्पर होते हुए अति कठिनतासे जीती जानेवाली रसना-इन्द्रियको वश करते हैं।

कच्ची वनस्पति, कच्चा जल और बीज* इन सब सचित्त

* सूखा बीज योनिभूत होनेसे शास्त्रोंमें उसे सचित्त कहा गया है और हरा बीज तो सचित्त है ही।

पदार्थोंको अचित्त होनेपर भक्षण करनेका अभिप्राय यही है कि जिससे स्थावर कायके जीव भी भक्षण करनेमें न आवें और अचित्त पदार्थोंके भक्षण करनेका रसना इन्द्रियका स्वभाव पड़ जाय। इसीलिये जलको गर्म करके अथवा तिक्त द्रव्य डालकर, तरकारीको सुखाकर, सिझाकर या छोटे-छोटे टुकड़े करके उसमें सर्वांग तिक्त द्रव्यका असर पहुंचाकर तथा बीजको बांटकर या पीसकर अचित्त करके खाते हैं।

यहां "कन्द-मूलादि सचित्त भक्षण न करे" यह कहा है, इससे कोई ऐसा न समझ ले कि चौथी प्रतिमावाला सचित्त कन्दमूल खाता होगा, इसलिये पांचमी प्रतिमावालेके लिये इस अनन्त काय (कन्द-मूलादि) को अचित्त करके भक्षण करनेकी विधि बताई है। नहीं-नहीं! कन्दमूलादि अनंतकाय वा पुष्पादि त्रसजीवोंसे सशंकित वनस्पतियोंका त्याग तो भोगोपभोग परिमाणव्रतमें ही हो चुकता है, यहां तो केवल सचित्त त्याग और अचित्त भक्षणकी विधि होनेसे सामान्य रीतिसे कन्दमूल-पुष्प-फलादि सभी सचित्त वनस्पतियोंके नाम-मात्र आचार्योंने कहे हैं। सचित्तत्यागीने पहिले भोगोपभोग परिमाण व्रतमें जितनी सचित्त-वस्तुओंके भक्षण करनेका प्रमाण किया हो, उन्हींको अचित्त हुई खावे और जिनका अचित्त-सचित्त दोनों भंगोंसे त्याग कर दिया हो, उनको अचित्त भी न खावे। इसी अभिप्रायको लेकर सकलकीर्ति श्रावकाचारमें

कहा है कि सचित्तत्यागी, भोगोपभोगपरिमाण व्रतमें त्यागकी हुई वनस्पतियोंको अचित्त भी न खावे।

[प्राशुक (अचित्त) करनेकी विधि]

गाथा

सुक्कं, पक्कं, तत्तं आमललवणेहि मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं, तं सव्वं फासुयं भणियं ॥१॥

अर्थ—सूखा हुआ, अग्नि तथा धूप द्वारा पका हुआ, गर्म हुआ, खटाई—लवण मिश्रित हुआ, यंत्रद्वारा छिन्न-भिन्न अर्थात् टुकड़े-टुकड़े हुआ, पिसा हुआ, दला हुआ, रगड़ा या बांटा हुआ, निचोड़ा हुआ ये सब आचार्यों द्वारा प्राशुक कहे गये हैं।

(नोट) सचित्तत्यागी धूप द्वारा पके हुए फलोंमें गुठली (बीज) सचित्त होनेके कारण, फलोंमेंसे अलग हुआ गूदा भक्षण करते हैं। यदि गूदा सशंकित सचित्त हो तो छिन्न-भिन्न हुआ तथा लवणादि तिक्तद्रव्य-मिश्रित हुआ खाते हैं।

सचित्तत्यागी अपने हाथसे यत्नाचारपूर्वक रसोई बना सकता है अर्थात् अन्न-जल-सागादि सामग्री अचित्त करके खा सकता है क्योंकि इस प्रतिमामें केवल जिह्वा इन्द्रियकी लोलुपता घटानेका मुख्योद्देश है, आरंभ त्यागका नहीं। ज्ञानानंदश्रावकाचारमें भी कहा है कि "सचित्त भक्षण करनेका त्याग तो पांचमी प्रतिमाधारीके होना है और शरीरादिकसे स्पर्श

का त्याग मुनिके होता है" इससे सिद्ध हुआ कि इस प्रतिमा में सचित्तभक्षणमात्रका त्याग है। तो भी सागारधर्मामृत और धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें कहा है कि "सचित्त त्यागी, सचित्त वस्तुका भक्षण करना तो दूर रहे किन्तु पाँवसे भी न छूवे, पृथ्वी, अग्नि, पवन कायादिकी दया पाले"। क्रियाकोषेमें भी कहा है कि "हाथ-पांव धोनेको सचित्त मिट्टी न लेवे। इन उपर्युक्त वाक्योंसे यद्यपि परस्पर विरोधसा जान पड़ता है, तथापि विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि अपने प्रयोजनके वश रसोई बना सकता है। जल, अन्न, साग तरकारी आदि प्राशुक करके भक्षण कर सकता है। क्योंकि यहां आरम्भका त्याग नहीं है, तौभी निरर्थक एकेन्द्रीकी भी हिंसा नहीं करता।

सचित्तत्यागी रसोईमें ऊपरसे नमक डालकर न खावे क्योंकि नमक सदा सचित्त कहा गया है। मिट्टीसे दांत न मले, सूखा फल भी बीज सहित न खावे, क्योंकि उसमें बीज सचित्त होता है। पुनः सचित्त-त्यागी किसी प्रकारका सचित्त दूसरोंको भी न खिलावे, ऐसा स्वामिकार्त्तिकेय अनुप्रेक्षा और समाधितंत्रमें कहा है।

लाभ—सचित्तत्याग प्रतिमा धारण करनेसे जिह्वा इन्द्रिय वशमें होती, और दया पलती है। वात-पित्त-कफका प्रकोप न होनेसे शरीर नीरोग रहता। शारीरिक-शक्ति बढ़ती, कामवासना मन्द पड़ती है जिससे चित्तकी चंचलता घटती

है। अतएव सचित्तत्याग पुण्यबंधका कारण तथा धर्मध्यान में सहकारी होनेसे परंपरया मोक्षकी प्राप्तिका भी निमित्त कारण है।

[छठी रात्रि-भुक्तित्याग प्रतिमा]

इस प्रतिमाका शास्त्रोंमें दो प्रकारसे वर्णन किया गया है। एक तो कृत-कारित-अनुमोदनासे रात्रि भोजनका त्याग करना। दूसरे दिनको स्त्री-सेवनका त्याग करना। ये दोनों प्रकारके त्यागी रात्रिभुक्तित्यागी कहाते हैं। इनका स्पष्ट स्वरूप इस प्रकार है—

(१) यद्यपि मांस-दोषकी अपेक्षा दर्शन प्रतिमामें और बहु-आरम्भजनित त्रस-हिंसाकी अपेक्षा व्रत प्रतिमामें रात्रिको खाद्य-स्वादादि चारों प्रकारके आहारका अतीचारों सहित त्याग हो जाता है तथापि पुत्र-पौत्रादि कुटुम्बी तथा अन्य जनों-के निमित्तसे कारित-अनुमोदनासम्बन्धी जो दोष आते हैं, उनके यथावत्-त्यागकी प्रतिज्ञा यहां होती है। अथवा श्री ज्ञानानंद-श्रावकाचारमें ऐसा भी कहा है कि स्पर्श-शूद्रकी अपेक्षा रात्रि-भोजन सम्बन्धी सर्व प्रकारके अतीचारोंका त्याग यहां होता है। रात्रिभुक्त त्यागी अपने पुत्रादि कुटुम्बियों तथा घर आये हुए पाहुनोंको भी रात्रि भोजन नहीं कराता, न करते हुओंकी अनुमोदना करता है। यहां तक कि रात्रिको भोजन-अन्नादिका दान भी नहीं करता [वर्द्धमानपुराण]।

(२) इस प्रतिमावाला मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनु-मोदनासे दिनको स्त्री सेवनका त्यागी होता है। इससे कोई ऐसा न समझ ले कि पांचवीं प्रतिमावाला दिनको स्त्री सेवन करता होगा, नहीं! यहां तक इस सम्बन्धी कोई सूक्ष्म अती-चार रूप दूषण लगते थे, यहां उनका भी त्याग हुआ (किसन. क्रिया कोष)। सागारधर्मामृतमें स्पष्ट कहा है कि इस प्रतिमा-वाला स्त्रीके ऋतुमती होनेपर चतुर्थ-स्नानके पीछे, संतानो-त्पत्तिके निमित्त रात्रिको कदाचित् ही सेवन करता है यह अत्यन्त विरक्त, काम-इन्द्रिय दमन करनेवाला होता है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीकामें यह भी कहा है कि इस प्रतिमावाला रात्रिको गृहसम्बन्धी व्यापार, लैन-दैन वाणिज्य-व्यवहार व गृहस्थीसम्बन्धी चूल्हा, चक्की आदि षटकर्मोंका आरम्भ न करे अर्थात् सावद्य (पाप के) व्यापारों-को छोड़े। दौलत-क्रियाकोषमें रात्रिको मौन करना भी कहा है। सो उसका भाव ऐसा भासता है कि भोजन-व्यापारादि संबंधी विकथा न करे, धर्मचर्चाका निषेध नहीं। समावितंत्रमें कहा है कि रात्रिको गमन न करे। सो यहां भी धर्मकार्यके लिये यत्नाचार-पूर्वक गमनका निषेध न जानना, अन्य सांसा-रिक कार्योंके लिये गमनागमनका निषेध जानना।

लाभ—जो पुरुष इस प्रकार निरतिचार रात्रिभोजनत्याग करता है, उसको रात्रिभोजनसंबंधी संपूर्ण पापास्त्रव रुक जाते

और संयमरूप रहनेसे पुण्यका बंध होता है, पुनः दिनको कामसेवन सम्बन्धी दोषोंके निवारण करनेसे शारीरिक बल, तेज, कान्ति बढ़ती और वीर्यान्तरायका विशेष क्षयोपशम होकर ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करनेमें सहायता पहुंचती है ।

[सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा]

जो ज्ञानी पुरुष, स्त्रीके शरीरको मलका बीजभूत, मलको उत्पन्न करनेवाला, मलप्रवाही दुर्गंधयुक्त, लज्जानक निश्चय करता हुआ सर्व प्रकारकी स्त्रियोंमें मन-वचन-काय, कृत कारित अनुमोदनासे काम सेवन तथा तत्सम्बन्धी अतीचारोंका त्याग करता और ब्रह्मचर्यकी दीक्षामें आरूढ़ होता है सो ही ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी कहाता है ।

ब्रह्मचारीके चेतन-अचेतन सर्व प्रकारकी स्त्रियोंसे उत्पन्न हुए मैथुनके दोषोंके त्यागसे नीचे लिखे अनुसार शीलके अठारह हजार भेद होते हैं । यद्यपि इन दोषोंका त्याग पाक्षिक अवस्थासे ही आरम्भ हो जाता है, तथापि स्त्री-सेवनका सर्वथा त्याग न होनेसे यथार्थ ब्रह्मचर्य नाम नहीं पा सकता, निरतीचार त्याग इसी प्रतिमामें होता है । यहां वेदकषायकी इतनी मंदता हो जाती है कि जिससे काम वेदना सम्बन्धी मूर्च्छा उत्पन्न ही नहीं होती । यही मंदता क्रमशः बढ़ते २ नवमें गुणस्थानमें-वेदकषायका सर्वथा अभाव हो जाता है, जिससे आत्मा वेद कषाय जनित कुशीलकी मलिनतासे रहित हो जाती है ।

[शीलके १८००० भेद]

देवी-मनुष्यनी-तिर्यंचनी तीन प्रकारकी चेतन स्त्रियोंको मन वचन काय तीनों योगों करके कृत-कारित-अनुमोदना द्वारा स्पर्शन-रसन-घ्राण चक्षु श्रोत्र पंचेन्द्रियोंके वशीभूत होकर आहार भय मैथुन परिग्रह चार संज्ञाओं युक्त, द्रव्य भाव दो प्रकारसे अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषाय करके सेवन करने से (३×३×३×५×४×२×१६) १७२८० भेदरूप दोष चेतन स्त्रीसम्बन्धी कुशीलके होते हैं।

चित्र या लेप मिट्टीकी काष्ठकी पाषाणकी बनी हुई तीन प्रकारकी अचेतन स्त्रियोंके मन काय* दो योगों द्वारा कृत-कारित अनुमोदना करके, पंच इन्द्रियोंके वशीभूत, ४ संज्ञायुक्त द्रव्य-भाव दो प्रकार सेवन करनेसे (३×२×३×५×४×२) ७२० भेदरूप दोष अचेतन स्त्री सम्बन्धी कुशीलके होते हैं।

इस प्रकार चेतन-अचेतन दोनों सम्बन्धी अठारह हजार कुशीलके भेद हुए। इन भेदों द्वारा लगते हुए कुशीलके दोषों

*अष्टपाहुड़के शीलपाहुड़की टीकामें स्पष्ट कहा है कि अचेतन स्त्रीके वचन नहीं होता, इससे कोई उससे कुशील सम्बन्धी वचन नहीं कहता। पुनः चर्चा समाधानमें अचेतन स्त्री सम्बन्धी भंग इस प्रकार भी कहे हैं। चित्राम काष्ठ पाषाणकी तीन प्रकार स्त्रियोंको, मन करि, कृत-कारित अनुमोदना करि, पंचेन्द्रियके वश, १६ कषाय युक्त होकर विषयकी वांछा से [३ × १ × ३ × ५ × १६] ७२० भेद होते हैं।

का जैसा २ त्याग होता जाता है, वैसे २ ही शीलगुण प्राप्त होते जाते हैं।

यहां चेतन स्त्रीसंबंधी भेदोंमें प्रश्न उत्पन्न होता है कि देवांगनाका मनुष्यके कायद्वारा सेवन कैसे संभव है? उसका समाधान—कोई देवांगना किसी मनुष्यके पास किसी कारण विशेषसे आवे जैसा कि रामचन्द्रजीके पास सीताका जीव सीतेन्द्र देवांगनाका रूप धारण कर आया था, या कोई मनुष्य मन्त्रबलसे किसी देवांगनाको वश करे और परिणाम बिगड़नेसे आलिंगन करे या पकड़ लेवे तो, धातु उपधातु रहित वैक्रियक शरीर और औदारिक शरीरका संभोग असंभव होते हुए भी स्पर्शन मात्रसे काय सम्बन्धी कुशीलका दोष संभव हो सकता है।

यहां दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अचेतन स्त्री संबंधी भेदोंमें चित्राम काष्ठ पाषाणकी स्त्रियोंका त्याग कराया, सो इनसे कुशीलसेवन कैसे सम्भव हो सकता है? उसका समाधान—केवल स्त्री सेवन करना ही कुशील नहीं है किन्तु मूर्च्छापूर्वक मन-वचन-कायकी कुशील सेवनरूप प्रवृत्तिरूप होने से भी कुशीलका दोष आता है।

[शीलव्रतकी नव बाड़ी]

ब्रह्मचर्यव्रतको निर्दोष पालन करनेके लिये नीचे लिखी हुई शीलकी रक्षक नव बाड़ोंकी रक्षा करना आवश्यक है, जैसे

बाड़ी खेतकी रक्षा करती, वैसे ही ये नव बाड़ी शीलकी रक्षा करती हैं। अन्यथा इनके भंग करनेसे शीलव्रतका भंग होना सम्भव है।

कवित्त—तिय थल वास, प्रेम रुचि निरखन, देख रीझ भाखन मधु बैन। पूरव भोग केलि रसचिंतन, गरुय अहार लेत चित चैन। कर शुचि तन शृंगार बनावत, तिय पर्यंक मध्य सुख सैन। मन्मथ-कथा, उदर भर भोजन, ये नव बाड़ि जान मत जैन।

अर्थ—[१] स्त्रियोंके सहवासमें न रहना [२] स्त्रियों को प्रेम रुचिसे न देखना [३] स्त्रियोंसे रीझकर मीठे २ वचन न बोलना [४] पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका चिंतवन न करना [५] गरिष्ठ आहार नहीं करना [६] शृंगार-विलेपन करि शरीर सुन्दर न बनाना [५] [७] स्त्रियोंकी सेज पर न सोना [८] काम-कथा न करना [९] भरपेट भोजन न करना, ये शीलकी रक्षक ९ बाड़ी जैनमतमें कही है।

इसी प्रकार श्री ज्ञानार्णवमें भी ब्रह्मचारीको नीचे लिखे हुए मैथुनके १० दोष टालनेका उपदेश है। [१] शरीर-शृंगार करना [२] पुष्टरस सेवन करना [३] गीत, नृत्य, वादित्र, देखना-सुनना [४] स्त्रियोंकी संगति करना [५] स्त्रियों में किसी प्रकार काम भोगसम्बन्धी संकल्प करना [६] स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको देखना [७] स्त्रीके अंगोंके

देखनेका संस्कार हृदयमें रखना [८] पूर्वमें किये हुए भोगोंका स्मरण करना [९] आगामी काम-भोगोंकी वांछा करना [१०] वीर्य पतन करना।

[ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विशेष बातें]

ब्रह्मचारीको शीलकी रक्षा निमित्त नीचे लिखी बातोंपर ध्यान देकर वर्तना चाहिये।

[१] भूलकर भी स्त्रियोंके सहवासमें न रहे [२] जहां स्त्रियां एकत्र होकर रागभावरूप गान करती हों ऐसे मेलोंमें न जावे (३) स्त्रियोंके मनोहर अंग न देखे (४) रागभावपूर्वक स्त्रियोंसे वार्तालाप न करे (५) पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण न करे (६) कामोद्दीपक, गरिष्ठ और भरपेट* भोजन न करे (७) शौकीनोंकी भांति मल-मल कर न नहावे, साधारण रीतिसे शरीरकी शुद्धतामात्रके लिए नहावे (८) शौकसे कांचमें मुँह आदि न देखे (९) शरीरका साज शृंगार न करे (१०) रागभाव उत्पन्न करनेवाले सुन्दर-सुन्दर चटकीले-चमकीले, रंगीन, अंगा, पगड़ी आदि वस्त्र तथा आभरण न पहिने सादे उदासीनता सूचक वस्त्राभरण पहिने (११) शौकके

* ब्रह्मचारीको नित्य एक बार भोजन करना योग्य है जलपानका नियम रक्खे। अन्यमतोंमें भी ब्राह्मणको दिनमें एक बार भोजन करना कहा है। उसका अभिप्राय यही है कि "ब्रह्मचारी नित्य एक बार भोजन करे।

वास्ते कपड़ेके भी जूते न पहिने, छतरी न लगावे* (१२) सुगंध, तेल, फुलेल, अतर, विलेपनादि कामोत्तेजक पदार्थोंके सूंघने लगानेका त्याग करे (१३) चेहरेपर सुन्दरता लानेके लिये रुचिपूर्वक सम्हाल-सम्हाल कर बाल न बनावे, यत्नाचारपूर्वक साधारण रीतिसे क्षौर करावे, गृहत्यागी हो तो सम्पूर्ण डाढी, मूंछ, माथेके बालोंका मुंडन करावे केवल चोटी मात्र रक्खे (१४) स्त्रियोंकी सेजपर न बैठे (१५) स्त्रियोंके नृत्य-गायनादि न देखे-सुने (१६) कामकथा तथा रागभाव पूर्वक स्त्रियों सम्बन्धी चर्चा न करे (१७) मनमें कामविकार चेष्टा न करे (१८) वचनसे कामविकाररूप वार्ता न कहे (१९) कायसे कामविकार चेष्टा न करे (२०) किसीकी हँसी दिल्लगी न करे (२१) शृंगार, हास्य, कामरूप कथा कहानी न कहे और न ऐसे काव्य-नाटक-उपन्यासादि पढ़े सुने [२२] पलंग पर या कोमल बिस्तर पर न सोवे, साधारण वस्त्र-भूमि-चटाई आदि सामान्य-बिस्तरपर सोवे (२३) आराम-कुर्सी-गद्दे तकिये आदि कोमल, आराम देनेवाले आसनपर न बैठे (२४) अपने बिस्तरपर अन्य किसीको न सुलावे, अकेला ही सोवे (२५) ताम्बूल केशरादि कामोद्दीपक वस्तुयें न खावे (२६)

* चमड़ेके जूते पहिननेका त्याग तो दूसरी प्रतिमामें हो गया था। यहां कपड़ेके जूते भी शौकसे न पहिने, अगर पहिने तो उदासीनरूप पहिने। और अष्टमी प्रतिमामें जूता छतरीका सर्वथा त्याग करे।

उदासीनतापूर्वक अल्पारंभ रक्खे (२७) स्त्रीवाचक सवारी हथिनी, घोड़ी, ऊंटनी आदिपर न बैठे (२८) वस्त्र अपने हाथ से धो लेवे और बहुत मलीन होनेपर उन्हें अलग कर दूसरे ग्रहण करे (२९) पाखानेपर पाखाना तथा मूत्रपर मूत्र न करे, जहां तक संभव हो व्रत-प्रतिमा ही मे इसे तजै और गृहत्यागी व्रती तो अवश्य ही तजे (३०) काष्ठादिकी दंतोन न करे सामान्य रीतिसे कुरला करे (धर्मसं० श्रा०) (३१) दांतोंमें मिस्सी, आंखोंमें अंजन शौकसे न लगावे, औषधि रूप त्याग नहीं है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य प्रतिमावाला बाह्य विरागरूप रहे और अंतरंग विकार भावोंको तजे।

सागारधर्मामृत तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थोंमें नीचे लिखे अनुसार पांच प्रकारके ब्रह्मचारी कहे हैं, इनमेंसे सप्तम प्रतिमावाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी जानना। क्योंकि यह ब्रह्मचर्यको धारण कर फिर त्यागता नहीं तथा ऊपरकी प्रतिमाओं के धारण करनेका इच्छुक रहता है। शेष चार प्रकारके ब्रह्मचारी, नियमित-काल (विद्या पढ़ने) तक ही ब्रह्मचारी रह कर पीछे उसे त्याग गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं।

(१) उपनयन ब्रह्मचारी—जो यज्ञोपवीत लेकर ब्रह्मचर्ययुक्त हो विद्याध्ययन करे, शास्त्रपाठी होकर पश्चात् गृहस्थाश्रम धारण करे। इसका विशेष वर्णन श्रीआदिपुराणमें इस प्रकार

है । जिनभाषित क्रियाके समूहकर, अन्तरंगकी शुद्धतापूर्वक यज्ञोपवीत धारे । भलीभांति पढा है जिनसूत्र जाने । यज्ञोपवीत धारणके भेष और व्रत-दीक्षाका देवगुरुकी साक्षीसे विधिवत् प्रतिपालक होय । भेष-शुम्ल वस्त्र और यज्ञोपवीत । देवपूजादि-षट्कर्म ये व्रत और शास्त्रोक्त श्रावकके व्रत सो दीक्षा है । इस से ज्ञात होता है कि दर्शन प्रतिमाके नियमोंको धारण करने वाला ही यज्ञोपवीतका अधिकारी है । जबतक पढ़े, सिर नंगा, चोटीमें गांठ, गलेमें जनेऊ, कटिमें तीन तागेका डोरा, पवित्र उज्ज्वल धोती पहरे तथा १ दुपट्टा ओढ़े, इसके सिवाय और कोई वस्त्राभूषण न पहिने, पढ़नेके पीछे गृहस्थ बने ।

(२) अदीक्षित ब्रह्मचारी—जो किसी भेषको धारण किये विना ही ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करे, पश्चात् गृहस्थ बने ।

(३) अवलम्ब ब्रह्मचारी—जो क्षुल्लक सरीखा रूप धारण करके विद्याभ्यास करे, पश्चात् गृहस्थाश्रमी हो । इससे मालूम होता है कि किसीको क्षुल्लक विद्वानके पास रहकर विद्या पढना हो, तो उसी सरीखा भेष बनाकर भी पढ़ सक्ता है और पढ़ने पीछे गृहस्थाश्रमी हो सक्ता है ।

(४) गूढ़ ब्रह्मचारी—जो बाल्यावस्थामें मुनिभेष धारणकर मुनियोंके पास पढ़े, पश्चात् माता, पिता, बन्धुओंके आग्रहसे व कठिन क्षुधा, तृषादि परिषहोंके न सह सकनेके कारण

स्वयमेव व राजादिके द्वारा प्रेरित होकर गृहस्थाश्रमी बने। इससे मालूम होता है कि किसीको मुनियोंके संघमें रहकर विद्या पढना हो, तो उन सरीखा भेष बनाकर भी पढ सक्ता है और पढनेके पीछे गृहस्थाश्रमी हो सक्ता है।

(५) नैष्ठिक ब्रह्मचारी—जिसने आजन्म ब्रह्मचर्य अंगीकार किया हो, जो चोटी यज्ञोपवीत युक्त श्वेत या लाल वस्त्र धारण करे, कटिमें कोपीन रक्खे, देवपूजादि धर्मध्यानमें निरन्तर सावधान रहे। ये भिक्षावृत्ति, अभिक्षावृत्तिसे दो प्रकारके होते हैं (सा. ध.)। यहां ऐसा जान पड़ता है कि गृहवासी-ब्रह्मचारी भिक्षावृत्ति नहीं करते जो गृहत्यागी हैं, वे ही भिक्षावृत्तिपूर्वक आहार ग्रहण करते हैं।

वर्तमानमें जोगी—कनफड़ा ब्रह्मदंडी आदि अन्यमतके भेषी लाल (गेरुवां) वस्त्र धारण कर भेष बनाते हैं, इससे जैनधर्म के ब्रह्मचारीको ऐसा भेष धारण करना सन्देहजनक होता है। सिवाय इसके आदिपुराणमें सफेद वस्त्र धारण करना भी तो लिखा है, अतएव सफेद वस्त्र धारण करना ही श्रेष्ठ है।

सागारधर्मामृतमें नैष्ठिक ब्रह्मचारीको चोटीमात्र रखना, एक वस्त्र ओढना तथा लँगोटी लगाना कहा है। पार्श्वनाथपुराण में डाढी—मूछ-माथेका मुन्डन क्षुल्लक करावे, ऐसा कहा है। समाधितंत्रमें परिग्रह त्यागीको सादे वस्त्र पहिरनेकी और अनुमति त्यगीको धोती-दुपट्टा तथा पोन्या रखनेकी आज्ञा

है। इनसब उपर्युक्त बातोंपर सूक्ष्मरीति पूर्वक विचार करनेसे स्पष्ट होता है, कि गृहत्यागी-ब्रह्मचारी चोटी मात्र रक्खे, लँगोटी लगावे तथा एक वस्त्र ओढनेका नियम पालन करे और गृहवासी-ब्रह्मचारी जब अष्टमी, नवमी दशवीं प्रतिमामें गृहत्यागी हो अथवा क्षुल्लक हो, तब इस प्रकारका भेष धारण करे। परन्तु जबतक गृहमें रहे तब तक सादे वस्त्र पहिरे, डाड़ी मूछ माथेके बाल घुटवावे या ना घुटवावे, उदासीन रूप रहे। आदिपुराणमें चोटी रखने वाले ब्रह्मचारीको भिक्षाभोजी कहा है, इससे भी सिद्ध होता है कि भिक्षाभोजी भेष रक्खे और गृहवासी वैराग्य-युक्त सादे वस्त्र पहिने।

लाभ—स्त्रियोंके वशवर्तीपना होनेसे अंतरंगमें दाह और पापकी वृद्धि होती है, सुख-शांतिका नाश होता है। अतएव जो धार्मिक पुरुष, स्त्री सम्बन्धी पराधीनता छोड़ दुर्जय काम को जीत ब्रह्मचर्य पालते हैं, वही सच्चे साहसी सुभट हैं। युद्ध में प्राण विसर्जन करने वाले शूर उनके सामने तुच्छ हैं। क्योंकि ऐसे युद्ध-शूर काम द्वारा जीते हुए हैं, अतएव इस जगज्जयी युद्ध काम सुभटको जिन ब्रह्मचारियोंने जीता, वे ही मोक्षमार्गी महासुभट, धन्य हैं। इस ब्रह्मचर्यके प्रभावसे वीर्यान्तराय कर्म का विशेष क्षयोपशम होकर आत्म शक्ति बढती, तप उपवासादि परीषह सहज ही जीती जातीं, गृहस्थाश्रम सम्बन्धी आकुलता घटती, परिग्रहकी तृष्णा घटती, इंद्रियां वशमें होतीं, यहांतक

कि वाक् शक्ति स्फुरायमान हो जाती है। ध्यान करनेमें अडिग चित्त लगता और अतिशय पुण्यबन्धके साथ-साथ कर्मोंकी निर्जरा विशेष होती, जिससे मोक्षनगर निकट हो जाता है।

[अष्टम आरंभत्याग प्रतिमा]

जो श्रावक हिंसा से अति भयभीत होकर आरंभ* को परिणामोंमें विकलता उत्पन्न करनेवाला जान गृहसम्बन्धी सम्पूर्ण आरम्भ स्वयं नहीं करता और न दूसरोंसे कराता है, सो आरम्भत्याग प्रतिमाधारी है। इसके मन-वचन-काय, कृत-कारित से गृहसम्बन्धी पापारंभका त्याग होता है, अनुमोदना (अनुमति) का त्याग नहीं होता। अनुमोदनाका अर्थ सम्मति सलाह या अभिप्राय देना है, आज्ञा देना नहीं है। यथाः—"यह काम तुमने भला किया या बुरा किया" "इसमें हानि होगी, इसमें लाभ होगा" आदि। यदि पुत्रादि व कुटुम्बी, घरके काम काजकी वा व्यापार सम्बन्धी सलाह पूछे तो सम्मतिरूप उसके हानि लाभ बता देवे, परन्तु उस कामके करनेकी प्रेरणा न करे। यदि भोजन सम्बन्धमें पूछे, तो अपनी त्याग-आखडी बता देवे या अनिष्ट हानिकारक वस्तुओंका निषेध कर देवे, परन्तु अमुक-अमुक वस्तु बनाना, ऐसी आज्ञा न देवे।

आरंभत्यागी हिंसा से भयभीत हो सन्तोष धारण कर धन-सम्पदासे ममत्व घटाता हुआ सर्व प्रकारके व्यापार-धंधे करना

*जिन क्रियाओं में षट्काय के जीवोंकी हिंसा हो, सो आरंभ है।

छोडे तथा गृहारंभ नहीं करे। भावार्थः—गृहसम्बन्धी षट्कर्म अर्थात् पीसना, दलना, कूटना, छड़ना, रसोई बनाना, बुहारना झाडना, जल भरना आदि गृहारंभ तथा व्यापार-धंधे आदि आजीवी आरंभ नहीं करे। उद्यमी-आरम्भी दोनों प्रकारकी हिंसा तजे।

यहां यत्नाचारपूर्वकपूजनादि सम्बन्धी अल्पारम्भका त्याग नहीं है (सा. ध.) तथा यह भी कहा है कि ये पूजा आदि धर्मकार्य हिंसायुक्त न हों, क्योंकि धर्मारम्भ प्राणिवधका अंग नहीं है, धर्मारंभ वही है जहां प्राणिरक्षा संभव हो। भावार्थः— जल भरना, द्रव्य धोना आदि आरंभ न करे। द्रव्य चढावे, पूजा करे।

यहां कोई सन्देह करे कि जब आरंभ-त्याग प्रतिमामें सेवा-कृषि- वाणिज्यादि आरम्भका त्याग हुआ है तो सप्तम प्रतिमा तक कृषि तथा युद्ध सम्बन्धी आरंभ करता होगा? उसका समाधानः—यह बात सम्भव नहीं होती कि सचित्त भक्षणको त्याग, ब्रह्मचर्य धार, उदासीन अवस्था अंगीकार कर स्वयं हल बखरसे खेत जोते बोवे, या युद्ध करके सहस्रों जीवोंका आखों देखते घात करे। श्री सर्वार्थसिद्धि टीकामें भाषाटीकाकार पं० जयचन्दजीने कहा है कि कुटुम्बके शामिल रहनेसे यहांतक कुछ अतिचार दोष लगते थे, सो यहां उनका यथावत् त्याग हुआ। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारकका सामान्य गृहस्थों

की नांई अन्य व्यापार धंधोंमें भी संलग्न रहना संभव नहीं, क्योंकि जैसी-जैसी कषाय घटती जाती है तदनुसार ही आरम्भ भी घटता जाता है।

आरम्भत्यागी अपने हाथ से भोजन बनाता नहीं, और न दूसरोंसे कहकर बनवाता है। अपने घर या पराये घर न्योंता हुआ जीमनेको जाता है और जिह्वा इन्द्रियके स्वाद में आसक्त न होता हुआ लघु भोजन करता है।

आरंभत्यागीको चाहिये कि अपने गृहमें जो द्रव्य हो, उसमें अपनी इच्छानुसार कुटुम्बका योग्य विभाग करके अपने योग्य आप ग्रहण करे, अन्य धनसे ममत्व तजे और नया धन उपार्जन नहीं करे, अपने पासके धनको दान-पुण्य-यात्रादि धर्मकार्योंमें लगावे। यदि भाग्य-योगसे अपने पासका धन चोरी चला जाय, नष्ट हो जाय, तो कर्मोदयका ऋण चुका जान संतोष करे, आकुल-व्याकुल न हो।

यहां कोई प्रश्न करे कि धन पास रक्खे, तो धंधा करेही करे अथवा रोटी बनावे-बनवावे ही, नहीं तो धन रखने से क्या प्रयोजन? इसका उत्तर-यह जो अल्प धन अपने पास रखता है, वह धर्मानुकूल दान, पुण्य, तीर्थादिमें व्यय करने तथा अपने वस्त्रादि लेनेके लिये रखता है। उस धनको वह हिंसा आरंभके कार्योंमें कदाचित् भी नहीं लगाता, क्योंकि इससे उसकी प्रतिज्ञा भंग होती है।

फिर कोई प्रश्न करे कि आरम्भत्यागीको घरके या अन्य लोग भोजनको न बुलावें तो वह क्या करे? अथवा कोई साथका त्यागी बीमार हो जाय तो भोजन बनाकर खावे, खिलावे, या नहीं? इसका समाधान—प्रथम तो यह बात असंभव है कि सच्चे धर्मात्मा-त्यागीको आहारकी योग्यता न मिले, अवश्य मिले ही मिले। दूसरे त्यागीको भी चाहिये कि जिस क्षेत्रमें धर्मसाधनकी अनुकूलता (सहायता) देखे, वहां श्रावकसमूहके साथ रहे। आगमका भी तो यही उपदेश है कि अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की योग्यता देखकर हरएक व्रत-आखडी-प्रतिज्ञा धारण करे, क्योंकि विना योग्यताके त्यागी या प्रतिमाधारी होनेसे कुछ भी कल्याण नहीं होता, कषाय, ममत्वभाव तथा इनके बाह्य अवलंबनोंको छोड़ने और विरागता के साधक कारणों को मिलानेसे ही प्रतिमा धारण करनेका यथार्थ फल होसकता है।

सप्तम प्रतिमा तक अपने हाथसे कुल काम अपनी आजीविका सम्बन्धी कर सकता है। भोजन बनाना, सवारी आदि पर चढ़कर इधर-उधर जाना आदि आरंभ कर सकता है परन्तु इस प्रतिमामें इन सब आरंभोंका त्याग होजाता है इसलिये जिसकी आरंभ रूप प्रवृत्ति करनेकी इच्छा हो अथवा जो अपनी योग्यता आरम्भ-त्याग निभने योग्य न देखे, सो सप्तम प्रतिमारूप ही रहे, जैसे अनुकूलता देखे, वैसा करे। जब देखे

कि मैंने सर्व आरम्भका काम पुत्रादिकों को साप दिया, मेरी आम्भ करने रूप कषाय घट गई, मेरे पुत्र-पुत्रवधु आदि कुटुम्बी हर्षपूर्वक मुझे भोजनादि देकर निर्वाह करेंगे तथा साधर्मी भाई भोजन-पानादि सहायता में सावधान रहेंगे, तब इस आरम्भ-त्याग प्रतिमाको धारण करे।

आरम्भत्यागी घोड़ा, ऊंट, गाड़ी, बग्घी, पालकी आदि सर्व प्रकारकी सवारी तजे, ऐसा सभी शास्त्रों*का मत है, क्योंकि इससे प्रमाद तथा हिंसा की उत्पत्ति होती है। इसीमें मोटर रेल, जहाज आदि की स्वतन्त्र या परतंत्र सवारियां भी गर्भित हैं। ये सब सवारियां आरंभत्यागी की स्वतन्त्रता-तथा विरक्तताको मूलसे नाश करनेवाली और धर्म का अपमान करानेवाली हैं।

यद्यपि यहां सर्व प्रकारके बाहनों की सवारी करनेका निषेध है तथापि नदी पार होनेके लिये नाव पर बैठकर जाने का निषेध न जानना क्योंकि नदी पार जाना अनिवारित है, इसमें प्रमाद-जनित दोष नहीं है। केवल हिंसाजनित अल्प दोष हैं, जिसके लिये प्रतिक्रमण विधान की परिपाटी है।

[आरंभत्याग सम्बन्धी विशेष बातें]

(१) अपने पुत्र-पुत्री आदिकी सगाई, विवाहका आरम्भ

* अमितगति श्रावकाचार, गुरूपदेश श्रावकाचार, भगवती आराधना आदि।

आप स्वयं न करे, यदि कुटुम्बी आदि करें और सम्मति मांगे तो देना ठीक ही है। (२) वस्त्रादिक न अपने हाथसे धोवे न दूसरों से धुलावे, मलिन होने पर दूसरे धारण कर लेवे। (३) स्थान-मकान आदि बनाने सम्बन्धी निष्प्रयोजन बहु आरम्भ* का निषेध तो व्रतप्रतिमा में ही है, यहां अल्पारम्भ भी न करे (४) हलकी कीमतके सादे वस्त्र पहिने (५) दीपक न जलावे× (६) रात्रिको गमन न करे, व्रतप्रतिमा ही से देखकर चलना, रात्रिको कम गमनागमन करना करना, दीपक यत्नाचारसे रखना आदि कार्य यथासंभव हिंसा बचाकर किये जाते हैं, क्योंकि गृहारम्भ के कारण इन कामोंके किये विना चल नहीं सकता, अब आरम्भत्याग होनेसे इन कामों की जरूरत भी नहीं रही (७) पंखा न हिलावे (८) स्नान न करे, परन्तु पूजा के लिये अथवा स्पृश्य के छूजाने पर तथा सूतक में शुद्धता निमित्त सामान्य रीतिसे स्नान करने का निषेध नहीं (९) वैद्यक, ज्योतिष, धातु, रसादिक नहीं करे (१०) कुएसे जल भरकर या या खानसे मिट्टी खोदकर न लावे। (११) चौमासे*में यहां वहां

---

* आवश्यकतासे अधिक शौक तथा बड़प्पनके वास्ते मकान न बनवाना।

× कोई २ कहते है कि स्वाध्यायके वास्ते दीपक और धर्मकार्यके निमित्त प्राशुक भूमिमें गमनकर सकता है।

* असाढ़की अष्टान्हिकाके आरम्भसे कार्तिककी अष्टान्हिकाके

ग्रामान्तरमें भ्रमण न करे, यद्यपि व्रतप्रतिमा से ही हिंसाके भयसे बहुधा चौमासे में यहां वहां ग्रामान्तरमें भ्रमण न करता हुआ एक ही ग्राममें यत्नाचार पूर्वक धर्म सेवन करता था, परन्तु गृहारम्भके कारण सर्वथा नियमरूप नहीं था अब आरंभ त्याग होनेपर चौमासे भर एक ही स्थानमें रहकर धर्मध्यान करे। और गृहत्यागी तो व्रत प्रतिमासे ही इसका विचार रक्खे।

लाभ—असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, शिल्पादि षट् आजीवी कर्मों और पंचसून सम्बन्धी आरम्भ क्रियाओंके त्याग करनेसे हिंसादि-पापोंका अभाव होता, संयमरूप रहनेसे पुण्यबन्ध होता और सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि आरम्भ सम्बन्धी विकल्पोंके अभावसे आत्मकार्यमें चित्तवृत्ति भली भांति स्थिर होने लगती है जो परंपरया आत्मकल्याणका कारण है।

[नवम परिग्रह-त्याग प्रतिमा]

जो धार्मिक श्रावक रागद्वेषादि अभ्यन्तर परिग्रहोंकी मन्दतापूर्वक क्षेत्र-वस्तु आदि दश प्रकारके बाह्य परिग्रहोंमेंसे आवश्यक वस्त्र और पात्रके सिवाय शेष सब परिग्रहोंको त्यागता है और सन्तोषवृत्ति धारण करता है, वह परिग्रहसे विरागी परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी है।

अंत तक चौमासा कहाता है। इसमें वर्षाके कारण त्रस जीवोंकी प्रचुर उत्पत्ति होती है।

बाह्य परिग्रह दश प्रकारके हैं यथाः—(१) क्षेत्र-खेत, बाग, बगीचा आदि (२) वास्तु—घर, महल, हवेली, किला आदि रहनेके स्थान (३) हिरण्य—चांदीके गहने तथा रुपया आदि मुद्रा (४) सुवर्ण-सोनेके गहने तथा मुहर—गिन्नी आदि सुवर्ण मुद्रा (५) धन-गाय, भैंस, घोड़ा आदि पशु (६) धान्य—चावल, गेहूँ आदि अनाज (७) दासी-नौकरानी, हजूरनी (८) दास-नौकर, चाकर, हजूरिया (९) कुप्य—कपास, सन, रेशम आदि सर्व प्रकारके वस्त्र (१०) भांड—सर्व प्रकारके बर्तन।

इन उपर्युक्त दश प्रकारके बाह्य-परिग्रहोंके त्यागनेमें मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद* ये १४ प्रकारके अंतरंग-परिग्रह भी क्रमशः मन्द पड़ने लगते हैं क्योंकि बाह्य-परिग्रहका त्याग कारणरूप और अंतरंग परिग्रहकी मन्दता एवं अभाव होना कार्यरूप है।

बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारका परिग्रह पापोत्पत्ति तथा आकुलताका मूल है ऐसा निश्चयकर बाह्य परिग्रहको छोड़ते हुए अपने मनमें अति आनन्द माने और ऐसा विचार करे कि आजका दिन धन्य है जब मैं आकुलताओं और बन्धनोंसे छूटा।

---

* किसी-किसी ग्रन्थमें एक ही वेद कहकर शेष दो वेदोंके स्थानमें राग, द्वेष कहे हैं।

प्रगट रहे कि बाह्य परिग्रहका त्याग अंतरंग मूर्च्छाके अभावके लिये किया जाता है। यदि किसीके पास बाह्य परिग्रह कुछ भी न हो और अंतरंगमें मूर्च्छा विशेष हो, तो वह परिग्रही है, क्योंकि यथार्थमें मूर्च्छा ही परिग्रह है। अतएव भेदविज्ञानके बलसे अंतरंग-मूर्च्छाको मंद करते हुए बाह्य-परिग्रह छोड़ना चाहिये, तभी परिग्रहत्यागजनित निराकुलित-सुख की प्राप्ति हो सकती है।

परिग्रह-त्याग प्रतिमावाला केवल शीत-उष्णकी वेदना दूर करनेके निमित्त अल्प मूल्यके सादे वस्त्र के सिवाय अन्य सब धन धान्यादि परिग्रह मन-वचन-काय कृत-कारित अनुमोदनासे त्यागे। छोटे पना (अर्ज) की ६ हाथ लम्बी (समाधितंत्र) धोती पहिननेको रक्खे, एक धोती तथा पछेवड़ा ओढनेको रक्खे, शिरपर बांधनेको एक अंगोछा (पोत्या) तथा नरम पूंजणी या एक छोटा सफेद रुमाल (अलफी) पृथ्वीपरके आगंतुक जीवोंकी रक्षा (अलग करने) के निमित्त रक्खे। बिस्तर न रक्खे, चटाई पर सोवे। अल्पमूल्यका तांबे या पीतलका जलपात्र तथा एक भोजनपात्र रक्खे (भगवती) आराधना)। घरका भार पंचोंकी साक्षीपूर्वक पुत्र-भाई-भतीजे आदिको, जो गृहस्थी चलाने योग्य हो, सौंपे। जो दान-पुण्य करना हो, करे, और सबसे क्षमाभावपूर्वक धर्मसाधनकी आज्ञा लेवे। और ऐसा निश्चय करे कि अब मेरा—इनका

कुछ भी सांसारिक सम्बन्ध नहीं रहा, अन्य साधर्मियों सरीखे इनको भी समझे, अपना पराया घर एकसा समझे, भोजन अपने या पराये घर न्योंता हुआ जाकर करे।

[परिग्रहत्याग प्रतिमा सम्बन्धी विशेष बातें]

परिग्रहत्यागीको इन बातोंपर भी ध्यान देना चाहिये (१) स्त्री-पुत्रादि औषधि, आहार-पान आदि देवें, वस्त्रादि धोवें तथा शारीरिक सेवा-टहल करें तो ठीक न करें तो आप उन पर दबाव न डाले और न अप्रसन्न हो। (२) जो गृहत्यागी हो तो कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि-हानिका सूआ सूतक न माने, परन्तु जो गृहवासी हो तो गृहस्थीमें शामिल होनेके कारण सूआ सूतक माने* (३) अव्रतीसे× टहल न करावे (४) लौकिक वचन न कहे (५) रागादियुक्त मकान-मठ आदिमें न रहे (६) नौकर-चाकर नहीं रक्खे (७) परिग्रहत्यागीको द्रव्य-पूजनकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि द्रव्यपूजनमें मुख्यता त्याग-धर्मकी है सो अब धनादि परिग्रहका सर्वथा त्याग हो गया, अतएव भावपूजन ही करे (८) जिस प्रकार अशुद्धता और अमर्यादपूर्वक वर्तमान बड़ी-बड़ी जेंवनारोंमें रसोई बनती है

* जान पड़ता है कि व्रतप्रतिमा से लेकर किसी भी प्रतिमामें गृह-त्यागी होनेपर उसके कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि-हानिका सूआ सूतक नहीं माना जाता, क्योंकि अब उसके कुटुम्ब सम्बन्ध नहीं रहा।

× जिसके अष्टमूल गुणोंका धारण न हो, सो अव्रती जानना।

ऐसी रसोई प्रथम प्रतिमावाला भी न जीमे, क्योंकि उसमें पंच उदम्बर, तीन प्रकारका दोष आता है। हां ! यदि मर्याद और शुद्धतापूर्वक बने, तो नवम प्रतिमावाला तक न्योंता हुआ जाकर जीम सकता है (९) थाली, अँगूठी आदि सर्व प्रकारका गहना तजे (१०) विना दिया जल, मिट्टी भी न लेवे (अष्टमी प्रतिमा में हिंसा-आरम्भके कारण लेनेका त्याग था, यहां परिग्रह अपेक्षा निषेध है) ।

लाभ—परिग्रहसे आरम्भ, चिन्ता, शोक, मदादि पाप उपजते हैं; मूर्च्छा (चित्तकी मलीनता) का कारण है। अत-एव सन्तोष निमित्त मूर्च्छाको घटाना और परिग्रह त्याग करना आवश्यक है। परिग्रहत्याग प्रतिमाके धारण करनेमें गृहस्था-श्रम सम्बन्धी सर्व भार उतर जाता है, जिससे निराकुलताका सुखानुभव होने लगता है।

[दशवीं अनुमतित्याग प्रतिमा]

जो पुरुष आरंभ परिग्रहकी अर्थात् सांसारिक सावद्य-कर्म विवाहादिक तथा गृह बनवाने, बनिज, सेवा आदि कामोंके करनेकी सम्मति व उपदेश नहीं देता, अनुमोदना नहीं करता, समबुद्धि है, वह श्रावक अनुमतित्याग प्रतिमाधारी कहाता है।

नवमी प्रतिमा तक स्त्री-पुत्रादिको गृहस्थी सम्बन्धी पंच सूनों, षट् आजीवी कर्मों, मिष्ट भोजन व विवाहादि करनेकी सम्मति देता था, अनुमोदना करता था, सो अब नहीं

देवे और न उनके किये हुए कामोंकी "भला किया या बुरा किया" आदि अनुमोदना करे।

उदासीनता पूर्वक स्त्री-पुत्रादिसे अलग निज घर, चैत्यालय अथवा मठ-मंडपादिमें रहकर धर्मध्यान करे, कुटुम्बी अथवा अन्य श्रावकोंके घर जीमनेके समय बुलानेपर भोजन कर आवे, न्योंता न माने, अपने अंतराय कर्मके क्षयोपशमके अनुसार कड़ुवा, खारा, खट्टा, अलूणा जैसा भोजन प्राप्त हो, उसीमें सन्तोष करे। रागद्वेष न करे। भला-बुरा न कहे।

किसीके पुत्रजन्म, द्रव्यलाभ, विवाह आदि शुभ कार्योंका अथवा मारना, पीड़ा देना, बांधना आदि अशुभ कार्योंका चिंतवन न करे। लौकिक (पाप) कार्यका उपदेश वा आदेश न करे। ईर्यासमितिपूर्वक गमन करे, भाषासमितिसहित वचन बोले। यद्यपि पांचों समितियोंका विचार व्रत प्रतिमासे ही यथायोग्य रक्खा जाता है तथापि यहांसे इन दो समितियों पर और भी विशेषरूपसे ध्यान देवे।

गृहत्यागी ब्रह्मचारी गृह त्यागनेपर और गृहवासी, दशवीं प्रतिमा धारण करनेपर कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि-हानिका सूआ-सूतक न माने, क्योंकि गृहस्थपनेसे अलग हो गया।

प्रगट रहे कि ऐलक-क्षुल्लक कहीं भी जावे तो सदा पीछी, कमंडल साथ रक्खे, क्योंकि ये उसका चिह्न (बाह्य मुद्रा) है। उसी प्रकार दशवीं प्रतिमावाला जीवोंकी रक्षा निमित्त नरम

पूंजड़ी या रूमाल और शौच निमित्त जलपात्र रक्खे। पहिरने वा ओढ़नेके लिये छह २ हाथ वस्त्र रखनेकी आज्ञा है। चटाई पर सोवे।

ग्यारहवीं प्रतिमामें उद्दिष्ट त्याग होनेके कारण तथा अचानक ही आहार (भिक्षा) के लिये निकलनेके कारण इनकी भिक्षुक संज्ञा कई ग्रन्थोंमें कही गई है। सागारधर्मामृत और धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें भोजनमें अनुमति त्याग होनेके कारण दशवीं प्रतिमावालेको भी भिक्षुक संज्ञा कही है। वह ठीक ही है परन्तु यथार्थमें सच्चे भिक्षुक मुनि ही हैं।

लाभ—गृहचारा सम्बन्धी आरम्भकी अनुमोदना करनेमें भी पापका संचय और आकुलताकी उत्पत्ति होती है, अतएव अनुमति–त्याग होनेसे पंच–पापका नव–कोटिसे त्याग होकर पापास्त्रव-क्रियाएँ सर्वथा रुक जाती हैं। पुनः आकुलताके अभाव होनेसे चित्तकी विकलता दूर होती, जिससे मन वश होकर इच्छानुसार धर्मध्यानमें शीघ्र स्थिर होने लगता है।

[ग्यारहवीं उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा]

जो (गृहवासी) अनुमतित्यागी श्रावक, चारित्रमोहके मन्द हो जानेसे उत्कृष्ट चारित्र अर्थात् दर्शनाचार-ज्ञानाचार-चारित्राचार-तपाचार और वीर्याचार इन पंचाचारोंकी प्राप्ति एवं रत्नत्रय की शुद्धता निमित्त, पिता-माता भाई-स्त्री-पुत्रादि परिजनसे क्षमा कराकर, वनमें जानेकी आज्ञा ले गुरुके निकट जाकर उद्दिष्ट-

त्याग प्रतिमा (प्रतिज्ञा) धारण करता है, वह उद्दिष्टत्यागप्रतिमा धारक कहाता है।

यदि कालदोषसे निर्ग्रन्थ-गुरुका समागम न मिले तो श्रीजिनेन्द्र देवकी प्रतिमाके सन्मुख साधर्मियोंकी साक्षीपूर्वक प्रतिज्ञा लेवे। इसी प्रकार जो पुरुष दशवीं प्रतिमा तक गृह-वासी रहा हो, वह ऊपर कहे अनुसार कुटुम्बियोंसे भी आज्ञा लेवे और जिसने पहिले ही गृहत्याग कर दिया हो, उसे कुटु-म्बियोंसे क्षमा कराने वा आज्ञा लेनेकी आवश्यकता नहीं। सिवाय इसके ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि आपको वैराग्य उत्पन्न हो और कुटुम्बी आज्ञा न दें तो उद्दिष्ट-त्याग या मुनि-व्रत अंगीकार न कर सके, किन्तु आज्ञा मांगने और उनको भी संसार-शरीर-रोगोंकी अनित्यता बताने और उनसे राग घटाने की पद्धति है, सो जैसा देखे वैसा करे।

उद्दिष्ट आहार त्यागी मन-वचन-काय, कृत कारित अनुमो-दना सम्बन्धी दोष रहित, भिक्षाचरणपूर्वक, याचना-रहित आ-हार ग्रहण करे। अपने निमित्त* बनाया हुआ, अभक्ष्य, सचित्त तथा सदोष आहार न ले। यमरूप हरी तथा रसादिकके त्याग का परिपालन करे। पानी बरसतेमें आहारको नहीं निकले,

* यदि मालूम पड़ जाय कि गृहस्थने यह भोजन मेरे ही निमित्त बनाया है तो ग्रहण न करे और अन्तराय माने। इसी प्रकार पीछी, कमंडल, वसतिका भी अपने निमित्त बनाई हुई जाने, तो ग्रहण नहीं करे।

क्योंकि इससे ईर्यापथ शुद्धि नहीं पलती तथा आहारमें अति-गृद्धता सूचित होती है। आहारको जावे तब न तो जल्दी-जल्दी चले, न धीरे-धीरे। समभावसे चले। इधर-उधर न देखे, नीची दृष्टिसे जीव-जन्तुओंकी रक्षा करता हुआ मौन-सहित, ईर्यासमिति पालता हुआ जावे।

यद्यपि सागारधर्मामृतमें उत्कृष्ट श्रावक होनेकी अपेक्षा अनुमतित्यागीको भी अतिथि कहा है। तथापि उत्कृष्ट श्रावक एवं उद्दिष्टत्यागी ऐलक-क्षुल्लकसे ही यथार्थमें अतिथिपना आरंभ होता है। क्योंकि इनके आहार तथा गमनागमनकी तिथि नियत नहीं रहती। ये उद्दंड आहार-विहार करते हैं, इसीलिये अचानक ही भोजनके लिये निकलते हैं। यथार्थमें उत्कृष्ट अतिथि मुनि ही हैं क्योंकि अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्वोंमें प्रोष-धोपवासका भी उनके नियम नहीं, इसलिये वे सार्थक नाम धारक अतिथि हैं।

उद्दिष्टत्यागी जब आहारके निमित्त निकले और द्वारापेक्षण करता हुआ श्रावक यथायोग्य नवधाभक्ति एवं विधिपूर्वक पड-गाहे तो उद्दिष्टत्यागीको उचित है कि दाताका उत्साह वा योग्य भक्तिभाव देखकर योग्य क्षेत्र-कालमें शुद्ध लघु भोजन शान्तभाव पूर्वक करे।

जल—भोजन एक ही वार लेवे, दांतौन कुरला भी न करे, जो अंतराय हो जाय तो उस दिन उपवास करे। मुनि-

संघमें या अपने समान त्यागियोंके संघमें रहे, अकेला भ्रमण न करे, क्योंकि दूसरे संयमीकी सहायताके विना व्रत दूषित हो जाना संभव है।

सांसारिक विषय-कषायोंके कारणोंसे अलग वन-मठ-मंडप वस्तिकादि एकान्त स्थानमें रहे। बस्तीमें न रहे। रात्रिको एकान्त स्थानमें ध्यान धरे।

शौचके निमित्त अल्प-मूल्यका तथा चौड़े मुंहका कमंडल रक्खे, जिसमें धोने, साफ करनेके लिये हाथ अच्छी तरह जा सके। भोजन-पात्र साधारण रक्खे, जिसमें न शौकीनी मालूम पड़े न बिलकुल लघुता। भूमि, शरीर, संस्तर, पुस्तकादिको शोधने तथा जीवोंकी रक्षा निमित्त पिच्छिका (पीछी) और पढ़ने के लिये आवश्यकीय शास्त्र-पुस्तकादि रक्खे।

माथा उघाड़ा रक्खे। सोनेके लिये चटाई, बिछौना आदि न रक्खे, क्योंकि ये पदार्थ द्रव्य-साध्य हैं; प्रमाद, भय, आकुलता तथा हीनताके उत्पन्न करनेवाले हैं। प्राशुक भूमि, काष्ठ के पटिये या पाषाणकी शिलापर अर्धरात्रि पीछे अल्प निद्रा ले। बीमारी आदिमें अन्य कोई चटाई बिछा देवे, या पियार-का संस्तर कर देवे, तो उसपर लेटे।

श्रावक दशामें दिवसमें प्रतिमायोग अर्थात् नग्न होकर ध्यान धरना वर्जित है, इसी प्रकार पीयूष वर्ष श्रावकाचारमें वीरचर्या अर्थात् कठिन-कठिन आखड़ी लेनेका भी निषेध किया

गया है। रात्रिको एकान्तस्थानमें प्रतिमा योग धार ध्यान कर सकता है (वसुनंदि श्रावकाचार)।

इस उद्दिष्टत्याग प्रतिमाके दो भेद हैं (१) क्षुल्लक (२) अहिलक या ऐलक। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है :—

[क्षुल्लक]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा स्पर्श-शूद्र-क्षुल्लकवृत्ति, धारण करने के पात्र हैं। शूद्र–क्षुल्लक लोहेका और उच्चवर्णका क्षुल्लक पीतल का पात्र रक्खे*। यहां कोई कहे कि शूद्र—क्षुल्लक लोहेका पात्र रक्खे सो ठीक है, परन्तु उच्च कुलवालेको पीतलके पात्र रखने की क्या आवश्यकता है? उसका समाधान–प्रथम तो इसप्रकार के पात्र रखना द्विजवर्ण और शूद्रवर्णकी पहिचानके चिन्ह हैं। दूसरे यदि उत्तम वर्णवाला पात्र न रक्खे और दातारके बर्तनमें ही भोजन करे और बर्तन झूठा छोड़ आवे, तो वह बर्तन मँजने के लिये जब चाहे तबतक पड़ा रहे, जिससे त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसा होना संभव है। इसलिये वह अपने पात्रमें ही भोजन करके अपने हाथसे ही तत्काल मांजकर लेता आवे, दूसरोंसे न मँजावे। ऐसा सागारधर्मामृतादि श्रावकाचारोंमें कहा है। इस

---

* इस प्रतिमामें उत्तमवर्ण और शूद्रकी पहिचानके लिये लोह पात्र तथा पीतल-पात्र का चिन्ह होनेसे प्रगट होता है कि यहां द्विज क्षुल्लक यज्ञोपवीत नहीं रखता होगा, दशवीं प्रतिमा तक पहिनता होगा। इसी कारण यहां यज्ञोपवीतके चिन्हके अभावमें पात्रका चिन्ह कहा गया है।

से दोनों प्रकारके क्षुल्लकोंको पात्र रखना आवश्यक है।

सफेद वस्त्रकी लँगोटी लगावे, खंड वस्त्र अर्थात् एक पन्ने की ३ हाथ लम्बी पिछोड़ी ओढ़नेको रक्खे, जिससे शिर ढँके तो पांव उघडे रहें और पांव ढँके तो शिर उघड़ा रहे। लँगोटी बांधनेके लिये डोरेकी करधनी (कणगती) कमरमें रक्खे। कमंडल, पीछी और पठन-पाठनके लिये शास्त्र रखना योग्य ही है।

केश दूसरे, तीसरे, महीने उस्तरा (छुरा) से मुडावे या कतरनीसे कतरावे, अथवा लोंच करे। डाढी, मूंछ नहीं रक्खे। कांख तथा नीचेके बाल न कतरावे न बनवावे (वसुनंदि श्रावकाचार)।

सागारधर्मामृतादि श्रावकाचारोंमें क्षुल्लकके आहारके दो भेद किये हैं (१) एकभिक्षानियम जो एक ही घर भोजन करना। (२) अनेकभिक्षानियम—जो पांच घर या अधिक घरोंसे भिक्षापात्रमें भिक्षा लेकर जब उदर भरने योग्य होजाय, तब आखिरी घर प्राशुक जल लेकर भोजन कर लेना और पात्र मांज लेकर चले आना। सो ठीक ही है, क्षुल्लक उच्चकुली व स्पर्श शूद्र दोनों प्रकारके होते हैं। उच्चकुलवाला एक ही घर भोजन करे और शूद्र कुलवाला पांच या अधिक घरका भोजन पात्रमें ले, एक जगह बैठकर करसक्ता है, ऐसा ज्ञानानन्द-श्रावकाचारमें कहा है और यह बात वर्तमान कालकी

मर्यादाके अनुकूल भी है।

सात मुहूर्त दिन चढे आहारको जावे—मार्गमें खडा न रहे, न अति शीघ्रतासे चले न अति मंदतासे। प्रगट रहे कि मुहूर्त २ घड़ी अर्थात् ४८ मिनटका होता है इसलिये इस हिसाबसे सात मुहूर्तके ५॥ घंटे होते हैं। सुबहसे ५॥ घंटे बाद अर्थात् ११॥ बजे आहारको जाना असम्भव है, क्योंकि ये उनकी मध्यान्हकी सामायिकका काल है। आहारको सामायिकके पेश्तर या पीछे जाना योग्य है। इसलिये इस दोषको दूर करने के लिये यदि यहां मुहूर्तका प्रयोजन घड़ी लिया जाय तो ठीक हो सक्ता है अर्थात् ९बजेके लगभग देव वंदना करके आहारको जावे, १०बजे तक पहुंचे और १०॥या ११ बजे तक लौट आकर मध्यान्हकी सामायिक करे।

यहां कोई कहे कि सात मुहूर्त दिन चढका अभिप्राय दो पहरकी सामायिकके पीछे आहारको जानेका है, तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि ऐसा होता तो शास्त्रोंमें सुबहसे ९-१० मुहूर्त पीछे आहारको जानेका स्पष्ट उल्लेख होता, सो ऐसा कहीं भी नहीं कहा। जहां तहां मध्याह्नकी देववंदना करके जाना कहा है सो मध्याह्नकाल ९ बजेसे ३ बजे तक कहाता है। इस प्रकार ७ मुहूर्त दिन चढ़े आहारको जाना किसी तरह भी संभव नहीं होता। सिवाय इसके गृहस्थोंके आहारका समय भी तो प्रातःकाल १०-११ बजेके बीच है।

उसी समय धर्मात्मा गृहस्थ पात्र-प्राप्तिके लिये द्वारापेक्षण करते हैं। इसलिये गृहस्थोंके भोजनके पूर्व ही पात्रदान होना संभव है भोजन किये पीछे तो गृहस्थ लोग प्रायः काम-धंधोंमें लग जाया करते हैं।

कई ग्रन्थोंमें अपराह्नकाल अर्थात् दो पहरके पीछे चार बजे भी आहार लेनेको जानेकी आज्ञा है, सो गृहस्थोंके ब्यालू अर्थात् अपराह्नकालके भोजनके पूर्व संभव है। भावार्थ—जो प्रातःकाल भिक्षानिमित्त न गया हो तो अपराह्नकालमें जावे।

भिक्षाको जावे तब गृहस्थके आंगने तक जावे, जहांतक सब लोग विना रोक-टोक जा सकते हों, दरवाजा बंद हो तो खोले नहीं। दाता देख लेवे और पडगाहे तो ठीक; नहीं तो तत्काल दूसरे घर चला जाय। भोजन निमित्त किसी प्रकारका इशारा या प्रार्थना न करे, दीनता न दिखावे। यदि अंतराय हो जाय तो उस दिन उपवास करे।

श्रावक विधिपूर्वक पडगाहे तो गृहमें जाकर हाथ-पांवसे शुद्ध हो, यथास्थान बैठ निज पात्रमें एषणा समिति पूर्वक अंतराय* टाल भोजन करे। पात्र मांज, लेकर अपने स्थान आवे और लगे हुए दोषोंको गुरुके निकट आलोचना करे।

चारों पर्वोंमें पूर्व-प्रतिज्ञावत् प्रोषधोपवास अवश्य करे (सागारधर्मामृत)। यहां शंका होती है कि अतिथिका लक्षण

* अंतराय विना थालीमें अन्न न छोडे।

ऐसा कहा है कि जिसके पर्वमें प्रोषधोपवास करनेका नियम न हो, आहार-विहारकी तिथि नियत न हो, वह अतिथि है (धर्म-संग्रह श्रा.)। फिर अनुमतित्यागी तथा क्षुल्लक, ऐलकको अतिथि कहते हुए भी पर्वमें प्रोषधोपवासकी आवश्यकता बताई है सो यह पूर्वापर विरोध कैसा ? उसका समाधान—यथार्थमें उत्कृष्ट अतिथि मुनि ही हैं, उनके वृत्तिपरिसंख्यान आदि कठिन २ तप होते हैं, इसलिये वे अष्टमी चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करने के लिये वाध्य नहीं हैं परन्तु आरम्भिक अतिथि उद्दिष्टत्यागी को कठिन २ आखड़ी लेने व तप करनेकी आज्ञा नहीं है इसलिये ये प्रोषधोपवास करनेके लिये वाध्य हैं।

षट् आवश्यक नित्य अवश्य पाले। ईर्या समिति रूप चले। भाषा समिति बोल बोले। विकथा न करे, धर्मोपदेश देवे, शास्त्र पढ़े अथवा मौन रक्खे, आत्मचिंतवन करे, शक्ति के अनुसार तप करे। अपने बैठने आदिके स्थानको कोमल उपकरणसे प्रतिलेखन करे। नहावे-धोवे नहीं। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ इन दश प्रकारके ऋषियोंकी वैयावृत्ति करे।

[ऐलक]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों द्विज (उत्तम) वर्ण ही ऐलकवृत्ति एवं मुनिपद धारण करनेके अधिकारी हैं। शूद्र वृत्ति धारण नहीं कर सकते क्योंकि उनके ऐसे उत्कृष्ट परिणाम

नहीं हो सकते। शास्त्रोंमें ऐलकका दूसरा नाम आर्य भी कहा है, और आर्य उत्तम वर्णोको कहते हैं, इससे भी सिद्ध होता है कि उत्तम तीन वर्ण ही ऐलक पद धारण कर सकते हैं। ऐलक सदा मुनिपद धारण करनेका अभिलाषी रहता है।

ऐलक कोपीन (लंगोटी) लगावे, उसके बांधनेको कमरमें डोरा (कणगती) रक्खे, दया निमित्त पीछी और शौच निमित्त कमंडल सदा साथ रक्खे। बैठकर कर-पात्रसे अथवा एक हाथमें गृहस्थ (दाता) भोजन रखता जाय और बैठा हुआ ऐलक दूसरे हाथमे उठा-उठाकर भोजन करता जाय, खड़े होकर भोजन न करे, क्योंकि खड़े-भोजन करनेकी विधि मुनियोंके लिये है, श्रावकके लिये नहीं है।

डाढी, मूंछ तथा माथेके बालोंका उत्कृष्ट दो माह, मध्यम तीन माह और जघन्य चार माहमें लोंच करे, इससे अधिक दिनोंके लिए शास्त्राज्ञा नहीं है।

आहारको जाय, तब ईर्यापथ-शुद्धिपूर्वक जाय, गृहस्थके आंगनमें जाय "अक्षयदान" कहे (ज्ञाना. श्राव.)। गृहस्थ पडगाहे तो ठीक, नहीं तो अन्य गृह चला जाय* यदि अंतराय हो जाय तो उस दिन उपवास करे। ऐलक एक ही घरका आहार ले (समाधि-शतक, प्रश्नो. श्रा.)। इससे भी

* किसनसिंह—क्रियाकोषमें कहा है कि ऐलक-क्षुल्लक पांच घरसे अधिक गोचरीके लिए नहीं जाय।

सिद्ध होता है कि द्विजवर्णको एक-भिक्षा-नियम अर्थात् एक ही घरका भोजन लेना योग्य है।

चारों पर्व में उपवास करे। दिवसमें प्रतिमायोग अर्थात् नग्न होकर ध्यान न करे। रात्रिको नियमपूर्वक प्रतिमायोग धारण करे।

सागारधर्मामृत तथा पीयूषवर्ष श्रावकाचारमें इनको भी वीरचर्या करनेका निषेध किया हैं अर्थात् जान-बूझकर कठिन-कठिन परीषह उपसर्गके सामने न जावे। सन्मुख आये उपसर्ग-परीषहको जीते। त्रिकाल-योग न धरे अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा, शीत ऋतुकी परीषह जीतनेके सन्मुख न हो और न कठिन-कठिन आखडी करे।

सदा आत्मध्यानमें तत्पर मुनि-संघमें रहे। उद्दिष्ट-त्यागी को शास्त्रोंमें मुनिका लघुभाई कहा है। अतएव ग्यारहवीं प्रतिमाका अभ्यास कर अवश्यमेव मुनिव्रत अंगीकार करना योग्य है।

लाभ—उद्दिष्टत्याग करनेसे पांचों पाप तथा परतंत्रताका सर्वथा अभाव हो जाता है, इस प्रतिमाके अंतमें अणुव्रत, महाव्रतोंको स्पर्शने लगते है। व्रत प्रतिमासे जिस प्रकार इन्द्रियविषयोंमें मूर्च्छा मन्द हो जाती और आरम्भ-परिग्रह घटते जाते हैं, वैसा-वैसा साम्यभाव बढ़ता हुआ यहां उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त होकर मानों सामायिक-संयमके स्पर्शनेको हाथ फैलाता

है। निराकुलता-जनित स्वानुभवका आनन्द आने लगता है। इस प्रकार श्रावकधर्मके पालक जीव नियमसे सोलहवें स्वर्ग तक जाकर महर्द्धिक देव अथवा इन्द्रादिका उच्च पद पाते हैं, क्योंकि जिस जीवके देवायु-सिवाय अन्य आयुका बंध हो जाता है उसके परिणामोंमें श्रावकव्रत धारण करने योग्य निर्मलता होती ही नहीं और जो श्रावकधर्मके धारक होते हैं, उनके नियमसे देवायुका ही बंध होता है। अतएव व्रती श्रावक निश्चयसे देव पर्याय पाकर वहांसे चय, मध्यलोकमें चक्रवर्ती, मंडलीक आदि उत्कृष्ट होकर मुनिव्रत धारणकर मोक्षको प्राप्त होता है।

नोट—बहुधा देखा जाता है कि कितने भोले भाई अंतरंगमें आत्मकल्याणकी इच्छा रखते हुए भी विना तत्त्वज्ञान प्राप्त किये, दूसरोंकी देखा-देखी श्रावकधर्मकी ग्यारह-प्रतिमाओं में कही हुई प्रतिज्ञाओंमेंसे कोई दो, चार प्रतिज्ञायें अपनी इच्छानुसार नीची ऊंची, यद्वा-तद्वा धारणकर त्यागी बन बैठते हैं और मनमानी स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं जिससे स्वपर-कल्याणकी बात तो दूर ही रहे, उल्टी धर्मकी बड़ी भारी हंसी व हानि होती है। ऐसे लोग "आप डुबंते पांडे, ले डूबें यजमान" की कहावतके अनुसार स्वतः धर्म-विरुद्ध प्रवृत्तिकर अपना अकल्याण करते और दूसरोंको भी ऐसा उपदेश दे उनका अकल्याण करते हैं। अतएव आत्म-कल्याणेच्छु सुज्ञ पुरुषोंको

उचित है कि पहिले देव-गुरु-धर्मका स्वरूप अच्छी तरह जानें। पंच-परमेष्ठीका स्वरूप पहिचानें। छः द्रव्य, सात तत्त्वोंके नाम, स्वरूपको भलीभांति समझें। आत्माके विभाव स्वाभावोंको जानें। विभाव तजने और स्वभावकी प्राप्तिके लिये कारणरूप श्रावक तथा मुनिव्रतकी साधक बाह्य-अंतरंग क्रियाएं वा उनके फलको जानें, पीछे यथाशक्य चारित्र अंगीकार करें। भावार्थ-श्रावक धर्मकी ११ कक्षाओं (प्रतिमाओं) का अभ्यास करके पीछे मुनिव्रत धारणकर कर्मोंका नाश करें और परमात्मा बन स्वरूपानन्दमें मग्न हों।

[साधक-श्रावक-वर्णन]

व्रती श्रावक (नैष्ठिक) सदा सल्लेखना (समाधि) मरण करनेके उत्साही व अभिलाषी रहते हैं, इसलिये विषयोंकी मूर्च्छा तथा कषायोंकी वासना मन्द करते हुए यथासंभव पूर्णरीतिसे भलीभांति व्रत पालन करते हैं। वहां जो श्रावक संसार-शरीर-भोगोंसे विरक्त होते हुए इन्द्रियोंके विषय तथा कषाय तजकर मन-वचन-कायसे निज-स्वरूपको साधते हुए मरण करते हैं वे साधक श्रावक कहाते हैं।

प्रगट रहे कि मरण पांच प्रकारके हैं। (१) पंडित-पंडित मरण—जो केवली भगवानके होता है अर्थात् जिस मरणके होनेपर फिर जन्म-धारण नहीं करना पड़ता। (२) पंडित-मरण—जो मरण मुनियोंके होता अर्थात् जिस मरणके होने

पर दो-तीन भवमें मोक्षकी प्राप्ति होती है । (३) बाल-पंडित-मरण—जो देशसंयमी (श्रावक) के होता है और जिसके होने पर सोलहवें स्वर्गतककी प्राप्ति होती है । (४) बालमरण—जो अविरत सम्यग्दृष्टिके होता और बहुधा स्वर्गकी प्राप्ति कराता है । (५) बालबालमरण—जो मिथ्यादृष्टिके होता है और चतुर्गति भ्रमणका कारण है ।

हम कह चुके हैं कि श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे हर कोई भी प्रतिमाधारी समाधिमरण कर सकता है उसका मरण बालपंडित मरण कहाता है । यहां साधक-श्रावकका वर्णन है इसी कारण बालपंडित मरणका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है ।

सल्लेखनामरण, समाधिमरण, संन्यासमरण, ये तीनों एकार्थवाची हैं । भले प्रकार काय-कषायके कृश करनेको सल्लेखना कहते हैं । चित्तको शांत अर्थात् रागद्वेषको मन्दतायुक्त करना समाधि कहाती है । अपनी आत्मासे पर-पदार्थोंको भले प्रकार त्यागना सो संन्यास कहाता है । अतएव काय-कषायको कृश करते हुए, स्वरूपका ध्यान करते हुए, शांतचित्तयुक्त शरीररूपी गृहको त्यागना ही सुमरण है । इस प्रकार सुमरण करनेवाले भव्य पुरुष ही अपने साधे हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्मको साथ ले जाते हैं और अधिक-से-अधिक सात आठ भवमें मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं । इसके विपरीत जो

पुरुष ऐसी उत्तम सर्व-योग्यताको पाकर समाधिमरण नहीं करते, वे मृत्युरूपी कल्पवृक्षको पाकर भी असावधान रह संसार-सागर में डूबते हैं।

जब तक शरीर सर्वप्रकार धर्मसाधनके योग्य रहे, तबतक योग्य आहार-विहारादि द्वारा उसे नीरोग रखते हुए उससे धर्म-साधनमें सहायता लेता रहे, कदाचित् कर्मोदयसे कभी कोई रोग आजाय, तो योग्य औषधि सेवन करे, परन्तु शरीरकी रक्षाके निमित्त अन्याय, अभक्ष्य रूप एवं पदस्थके अयोग्य उपचार कदापि न करे, क्योंकि इससे अपने रत्नत्रयात्मक आत्मिक गुणोंकी हानि होती है। जब देखे कि ऐसा कोई असाध्य-रोग हो गया है, जो धर्मसाधनका बाधक एवं नष्ट करनेवाला है, तो शरीरको अपकारी नौकरकी तरह समझ, निर्ममत्व होता हुआ उसे छोड़नेके लिये तत्पर हो। नाश होने योग्य, अपवित्र शरीरके निमित्त अपने धर्मको हानि कदापि न पहुँचावे और सावधानीपूर्वक समाधिमरण करे। क्योंकि शरीर तो फिर भी मिल सकता है परन्तु नष्ट हुआ रत्नत्रय-धर्म फिर मिलना दुर्लभ है। जो आत्महितैषी रत्नत्रयधर्मकी रक्षाके लिये शरीरकी कुछ परवा नहीं करते; उनका समाधिमरण स्तुति योग्य है। क्योंकि जो फल बड़े-बड़े कठिन व्रत-तप करनेसे प्राप्त होता है, वही समाधिमरण करनेसे सहजमें प्राप्त हो जाता है।

कोई २ अज्ञानी पुरुष समाधिमरणका अभिप्राय अच्छी

तरह समझे बिना धर्मसाधनके योग्य शरीर होते हुए और भले प्रकार धर्मसाधन होते हुए भी अज्ञान वा कषायवश विष, शस्त्रघातादिसे मरते, अग्निमें पड़ते, पर्वतसे गिरते, जीते हुए जमीनमें गड़कर समाधि लेते, झंपापात करते, स्त्रियाँ सती होतीं अर्थात् मरे हुए पतिके साथ जीती जलतीं इत्यादि अनेक प्रकार अनुचित रीतिसे प्राण त्यागनेमें धर्म समझते हैं। इस प्रकार आत्मघात करना निंद्य और नरकादि कुगतिका ले जाने वाला है। हां। जो ज्ञानीपुरुष मरणको सन्मुख होते हुए या चारित्र भ्रष्ट होनेके कारण प्राप्त होते हुए निःकषाय भावपूर्वक शरीर त्याग करते हैं उनका ऐसा सुमरण अज्ञान रागादि कषायों के अभावसे आत्मघात नहीं है किन्तु ज्ञानपूर्वक मन्द कषाय-सहित होनेसे वर्तमानमें सुखका और परम्परया मोक्षप्राप्तिका कारण है।

समाधिमरण दो प्रकारका होता है। सविचारपूर्वक और अविचारपूर्वक।

(१) **सविचार समाधिमरण**—जब शरीर अति वृद्ध हो जाय अर्थात् चारित्रको हानि पहुंचानेवाला बुढ़ापा आ जाय, दृष्टि अति मंद हो जाय, पांवसे चला न जाय, ऐसा असाध्य रोग हो जाय, जिसका इलाज होना असंभव हो, मरणकाल अति निकट आजाय, ऐसी दशाओंमें काय-कषायको कृश करते हुए अन्तमें चार प्रकार आहार त्याग धर्म-ध्यानसहित मरण

करना, सो सविचार समाधिमरण कहाता है।

(२) अविचार समाधिमरण—जब विना जाने अचानक ही देव, मनुष्य, तिर्यंच अथवा अचेतन कृत उपसर्ग आ जाय, घरमें आग लग जाय, निकलनेका कोई उपाय न रहे, बीच समुद्रमें जहाज डूबने लगे, सांप काट खाय, इलाजका कोई अवसर न हो, महावनमें मार्ग भूल जाय, जहांसे बाहिर निकलना असम्भव हो, चारित्र-नाशक शत्रु या प्राणघातक डाकू घेर ले, बचनेका कोई उपाय न रहे, अचानक दुर्भिक्ष आ जाय, अन्न-पान न मिले, ऐसे अचानक कारणोंके आने पर अपने शरीरको तेलरहित दीपकके समान स्वयमेव विनाशके सन्मुख आया जान संन्यास धारण करे। चार प्रकार आहार-का त्याग कर पंचपरमेष्ठीके स्वरूपमें तथा आत्मध्यानमें लव-लीन हो। यदि मरणमें किसी प्रकारका संदेह जाने, तो नियमरूप ऐसी प्रतिज्ञा करे कि "इस रोग-उपसर्ग-अग्नि आदि से जो मृत्यु हो, तो मेरे चार प्रकार आहारका तथा आत्मा सिवाय अन्य सब पदार्थोंमे ममत्व भावका त्याग है, यदि इतने काल तक बचूंगा या इस दुःखसे बचूंगा, तो आहार-पान परिग्रहादि पूर्ववत् या इस प्रकार घटाकर ग्रहण करूंगा"। इस प्रकार एकाएक कायसे ममत्व छोड, शांत-परिणामों युक्त चार प्रकार आहारका त्याग कर समाधिमरण करना, सो अविचार-समाधिमरण कहाता है।

अविचारसमाधिमरण करने वालेको जैसा कुछ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव कर्मयोगसे मिल जाय, उसीमें परिणामोंकी थिरता-पूर्वक आत्म-हित करना योग्य है परन्तु सविचारसमाधिमरण करने वालेको तो समाधिमरणके योग्य द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव मिलाना आवश्यक है। अतएव यहां चारोंका संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है।

द्रव्य—यद्यपि अविरत-सम्यग्दृष्टी तथा व्यवहार-सम्यग्दृष्टि भी अपनी योग्यतानुसार समाधिमरण कर सकते हैं। तथापि साधक-श्रावकके प्रकरणमें व्रतधारकको ही समाधिमरण करने का अधिकारी आचार्योंने बताया है।

क्षेत्र—जिस क्षेत्रमें समाधिमरण करानेमें तथा वैयावृत्ति करनेमें प्रवीण धर्मात्माओंका समागम हो, समाधिमरण करनेके विरोधी राजा-मंत्री आदि न हों। सर्व प्रकारकी अनुकूलता हो, विशेष मोह ममत्वका कारण तथा स्त्री, नपुंसक, पशु आदिका संघट्ट वा कोलाहल न हो, जिस जगह विशेष शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि बाधक कारण न हों, तथा क्षेत्र अपवित्र, असुहावना और दुर्गंधित न हो।

काल—अपना शरीर बहुत वृद्ध तथा इन्द्रियाँ शिथिल होती जान अधिकसे अधिक १२ वर्ष पेश्तरसे समाधिमरण करने योग्य सामग्रीका समागम मिलावे। समाधिमरणके लिये शीत ऋतु बहुत अनुकूल होती है। जिस समय उस क्षेत्रमें

अकाल, मरी आदि चित्त-विक्षेपके कारण उपस्थित हों, उस समय समाधिमरण न माड़े, क्योंकि ऐसे समय समाधिमरण करानेवालों का समागम मिलना व चित्त स्थिर रहना कठिन होजाता है।

भाव—समाधिमरण करने वाले के परिणाम शोक-भय-चिन्ता-मोह-ममत्व रहित, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त, मन्द-कषाय-युक्त, धर्ममें उत्साहवान् तथा आत्मकल्याणकी इच्छा-रूप हों।

यहां कोई प्रश्न करे कि बचपनसे ही धर्मसाधन करने तथा युवा-अवस्थासे ही समाधिमरणके अभ्यास करनेकी क्या आवश्यकता है? जब मरणकाल समीप आवे, तभी धर्म-साधन या समाधिमरण करना योग्य है। उसका समाधान-जो पुरुष बचपन तथा जवानीमें धर्म-मर्म तथा समाधिमरणके स्वरूपसे अज्ञ रहते हैं, वे अन्तसमय धर्मध्यानपूर्वक शरीर छोडनेको समर्थ नहीं होसकते। जिस प्रकार युद्धक्रियाका न जाननेवाला एवं अभ्यासरहित पुरुष युद्धके समय शत्रुके शस्त्रोंका प्रहार देखकर तथा मार-मारके भयंकर शब्द सुनकर युद्धस्थलमें नहीं ठहर सकता और न शत्रुका सामना करके जय पासकता है, उसी प्रकार जिसने पहिले से ही धर्मज्ञानकी प्राप्ति तथा धर्मसाधन न किया हो, समाधिमरण करने योग्य परिणामों की निर्मलता-निर्ममत्व का अभ्यास न किया हो,

समाधिमरणकी क्रिया देखी-सुनी न हो, वह अन्तसमय समाधिमरण नहीं करसक्ता। जैसे मलिन वस्तु पर अच्छा रंग नहीं चढ सकता, उसी प्रकार उसको अंत समय समाधिमरण करनेमें रुचि उत्पन्न होना असंभव है।

भगवती आराधना सारमें कहा है कि "जहांतक संभव हो, समाधिमरण करने वाला अंत समय मुनिव्रत धारण करे। सर्व परिग्रह तजे। देहसे निर्ममत्व हो शिर, डाढी, मूंछके केश लौंच करे, मयूरपिच्छिका धारण करे"। उत्कृष्ट प्रतिज्ञाधारकों को (दशवीं, ग्यारहवीं प्रतिमावालोंको) मुनिव्रत धारण करना सहज है, इसलिए उनको मुनिव्रत धारणपूर्वक ही समाधिमरण करना चाहिये। यदि कोई श्रावक उपसर्ग, परीषह सहनेको असमर्थ हो या ऐसा सुअवसर तथा योग्यता उसे न मिले, तो अपने गृहमें वा गृहस्थ अवस्थामें ही एकांतस्थान में दो-चार धर्मात्माओंको पास रखकर अपना कार्य सुधारे।

प्रथम ही अपने कुटुम्बी आदिको इस प्रकार सम्बोधन कर ममत्व छुडावे, "हे इस शरीरके माता-पिता-स्त्री-पुरुषादि! अब यह शरीर मरण अर्थात् नाशके सन्मुख हुआ है, तुम्हारा अब इससे कुछ भी प्रयोजन सधनेवाला नहीं है, हमारा तुम्हारा इतना ही संयोग था सो पूरा हुआ। संयोग, वियोग की यही दशा एक-एक दिन सबपर बीतने वाली हैं। एक दिन सबको कर्म जनित शरीरादि सामग्री छोड परलोक जाना है।

इसलिये मुझसे मोह-ममत्व छोड़कर शांत भाव धारण करो और मेरे कल्याणके सहायक बनो" इसप्रकार उन्हें समझाकर निर्ममत्व हो, पुत्रादिकको गृहस्थी का भार सौंप, जिसको जो कुछ देना लेना हो; देवे लेवे। दान पुण्य करना हो, करे। पीछे निःशल्य होकर अपने आत्मकार्य में लगे।

समाधिमरण करनेवाला सुहावने तथा स्वच्छ स्थानमें शुद्ध संस्तर* पर पूर्व या उत्तरको मुंह करके बैठे (भगवती आरा०) संपूर्ण परिग्रहसे निर्ममत्व हो, पंच-परमेष्ठीके प्रति अपने पूर्व-कृत दुष्कर्मोंकी आलोचना करे, पश्चात् इस प्रकार द्वादशानुप्रेक्षा का चिंतन करेः—

हे जीव! इस संसारमें किसी भी वस्तुका संयोग स्थिर नहीं है। राजा-राणा-चक्रवर्ती तथा साधारण पुरुष सभी अपनी आयु पूरी करके पर्यायान्तर को प्राप्त होते हैं। तेरी आयु भी क्षण-क्षण घट रही है। यौवन, शरीर, धन, पुत्र, स्त्री, आदिका संयोग जलबुद्बुदवत् क्षणभंगुर है, संसारकी ऐसी अस्थिरता जान फिर तू निश्चित क्यों हो रहा है? अपना आत्महित शीघ्र कर। (अनित्य भावना)।

हे जीव! इस संसारमें तेरा कोई भी सहाई नहीं है, तेरे ही किये हुए पुण्य-पापके अनुसार तुझे सुख-दुख प्राप्त होता है।

---

*स्वच्छ पवित्र पृथ्वी तल पर योग्यतानुसार पियार या घासका बिछौना हो अथवा उस पर ऊपर से एक स्वच्छ वस्त्र या चटाई हो।

देवी, देवता, माता, पिता, कुटुम्बी आदि कोई भी तेरी रक्षा करनेको, तेरे, दुख मिटानेको, समर्थ नहीं हैं। सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति खर्चने परभी एक क्षणकी आयु नहीं बढ़ सक्ती अतएव संसार की इसप्रकार अशरण अवस्था जान तू अपनी संभाल शीघ्र कर। (अशरण भावना)।

हे आत्मन् ! यह जन्म-जरा-मरणरूप संसार अनादि-निधन, अनन्त दुःखोंका सागर और कल्याणरहित, नित्य पंच-परिवर्तन रूप है। चारों गति मरण, शोक, भय, तृष्णामय हैं। संसारमें एक आत्माके सिवाय सब परपदार्थ हैं अतएव सबसे ममत्व छोडकर निजमें ममत्व जोड़ना ही आत्महित है। (संसार-भावना) ।

[पंचपरिवर्तन का स्वरूप]

जन्म-मरण प्रारम्भ करके बार-बार पूर्ण करनेको परिभ्रमण, परिवर्तन या संसार कहते हैं, सो पांच भेद रूप हैं। यथाः— द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। यहां प्रसंगानुसार इनका संक्षिप्त एवं स्थूल स्वरूप कहा जाता है, विशेष स्वरूप श्रीगोमट्टसारसे जानना।

(१) द्रव्यपरिवर्तन—इसका दूसरा नाम पुद्गलपरिवर्तन भी है। इसके दो भेद हैं। नोकर्म-परिवर्तन और कर्म-परिवर्तन।

नोकर्मपरिवर्तन—औदारिक, वैक्रियक, आहारक तीन शरीर संबंधी छः पर्याप्ति होने के योग्य पुद्गल-वर्गणाओंको

नोकर्मवर्गणा कहते हैं। किसी जीवने किसी समय जिन नोकर्म-वर्गणाओंको स्पर्श, रस गंध वर्णादि करि तीव्र, मध्यम, मंद भाव लिये हुए यथासंभव ग्रहण किये। पश्चात् समयोंमें तिन वर्गणाओंकी निर्जरा होती रहती है। इसप्रकार अंनतवार अगृहीत* के समय-प्रबद्धोंको ग्रहण कर-कर छोडे, अंनतवार मिश्र*को ग्रहण कर-छोडे तथा अंनतवार गृहीत* वर्गणाओंके समयप्रबद्ध को भी ग्रहण कर-कर छोड़े। ऐसा करते हुए जिस समय, उन्हीं प्रथम समयमें ग्रहणकी हुई नोकर्म वर्गणाओंको गणनामें उतनी ही तथा वैसे ही स्पर्श, रस, गंध, वर्णादिको लिये हुए ग्रहण करे। ऐसी क्रिया होने के समुदायरूप सम्पूर्ण कालको एक नोकर्म-परिवर्तन काल कहते हैं।

कर्मपरिवर्तन—ज्ञानावरणादि अष्टकर्म रूप होने योग्य पुदगल वर्गणाओंको कर्मवर्गणा कहते हैं। किसी जीवने किसी समय आठ प्रकार कर्मरूप होने योग्य कार्माण-वर्गणा ग्रहण की,

---

* जो परमाणु पहिले कभी ग्रहण न किये हो प्रथम ही नये ग्रहण किये जांय सो अगृहीत, जो पहिले ग्रहण किये जाकर फिर ग्रहण किये जांय सो गृहीत, तथा कुछ नये कुछ पूर्व में ग्रहण किये हुए मिलकर ग्रहण किये जांय सो मिश्र कहाते हैं। प्रगट रहे कि अनादिकाल से एक-एक जीवने अंनत-अंनत पुद्गल, समय-समय ग्रहण किये, तो भी, लोकमें बहुत से अगृहीत परमाणु अब भी मौजूद हैं। अथवा जब नया परिवर्तन शुरु होता है तब पूर्व-परिवर्तन में ग्रहण किये हुए परमाणु भी अगृहीत कहलाने लगते हैं।

समय अधिक आवलीमात्र आबाधा-काल व्यतीत होने पर उनकी निर्जरा होने लगती है। इसके 'अनंतर जैसा अनुक्रम नोकर्म-परिवर्तनमें कहा है, वैसे ही अगृहीत, मिश्र तथा गृहीतके समय प्रबद्धको अंनत-अंनत बार ग्रहण करि-करि छेडे, इस कार करते हुए वह जीव जिस समय प्रथम बार ग्रहणकी हुई कर्म-वर्गणाओंको, उतने ही प्रमाण ग्रहणकरि कर्मत्वभावको प्राप्त करे, उस बीचके सम्पूर्ण कालको एक कर्मपरिवर्तन काल जानो।

(२) क्षेत्रपरिवर्तन—यह भी दो प्रकारका है। स्वक्षेत्र-परिवर्तन और परक्षेत्रपरिवर्तन।

स्वक्षेत्रपरिवर्तन—कोई जीव प्रथम समय जघन्य अवगाहनायुक्त सूक्ष्म-लब्धि-अपर्याप्त निगोदियाका शरीर धारण करे, पश्चात् उससे एक प्रदेश बढती अवगाहनाको धरे। इस प्रकार क्रमसे एक-एक प्रदेश बढाता हुआ महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहनापर्यंत शरीर धारण करे, बीचमें जो क्रमरहित अवगाहनायुक्त शरीर धारण करे, सो गिनतीमें नहीं। ऐसा करते हुए जितना समय लगे, सो सब एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन काल जानो।

परक्षेत्रपरिवर्तन—कोई सूक्ष्म लब्धि-अपर्याप्तक निगोदिया जीव जघन्य अवगाहनाके शरीरको धारणकर मेरुके नीचे, लोकके मध्यभागमें इस प्रकार जन्म ले, कि उस जीवके

मध्यके ८ प्रदेश, लोकके मध्यके आठ प्रदेशों पर आजायँ* । पश्चात् आयुपूर्ण होने पर मरकर संसार भ्रमण करता हुआ फिर किसी कालमें उतने ही प्रदेश प्रमाण अवगाहनाका शरीर धारण कर उसी क्षेत्रमें जन्म ले, इसी भांति शरीरकी अवगाहनाके बराबर असंख्यात प्रदेश-प्रमाण बार उसी क्षेत्रमें उसी प्रकार जन्म ले, पश्चात् एक प्रदेश प्रमाण अधिक क्षेत्रको बढाकर× जन्म ले, ऐसे क्रमसे श्रेणीबद्ध एक-एक प्रदेश बढाता हुआ लोकाकाशके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें जन्म ले। क्रम-रहित प्रदेशोंमें जन्म लेना गिनतीमें नहीं, इस प्रकार लोका-काशके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें जन्म तथा मरण करनेमें जितना काल लगे वह सब एक परक्षेत्रपरिवर्तन काल जानो ।

(३) काल परिवर्तन—कोई जीव उत्सर्पिणीकालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ, मरकर संसारमें भ्रमण करता करता फिर किसी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें उत्पन्न हो, इसी प्रकार तृतीयादि समयोंमें क्रमसे जन्म ले-लेकर उत्सर्पिणी के दश कोडा-कोडी सागर व अवसर्पिणीके दश कोडा-कोडी

*सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्त निगोदियाके शरीरकी अवगाहना असंख्यातप्रदेश प्रमाण होती है इसलिए लोकके मध्यके ८ प्रदेशोंको अपने आठ रुचिक (मध्यके) प्रदेशों से दाबता तथा और भी आसपासके क्षेत्रको रोकता है ।

× प्रदेश आगे बढ़ानेका मतलब ऐसा नहीं है कि पहले प्रदेशोंको भी शामिल करके उतना बड़ा शरीर करे। किन्तु आगे एक-एक प्रदेश क्रमसे बढाता जाय, पीछेके प्रदेश चाहे छूटते जायँ ।

सागर इस प्रकार २० कोडा-कोडी सागर (कल्प काल) के समयोंको क्रमपूर्वक जन्म ले-लेकर पूर्ण करे, क्रमरहित गिन्तीमें नहीं। ऐसा करनेमें जितना काल व्यतीत हो, वह सब एक काल-परिवर्तन जानो।

(४) भव-परिवर्तन—कोई जीव प्रथम नरकमें दश हजार वर्षकी जघन्य-आयु पाकर जन्मा, आयु पूर्ण होनेपर मरा, पीछे संसार भ्रमण करते-करते फिर किसी कालमें उतनी ही आयुका धारक हुआ, इस प्रकार दश हजार वर्षके जितने समय होते हैं, उतने बार दश-दश हजार वर्षकी आयुका ही धारक होकर, पीछे क्रमसे एक-एक समय अधिक, आयु धारण कर नरकायुका उत्कृष्ट ३३ सागर प्रमाण काल पूर्ण करे। इसी प्रकार देवायुकी जघन्य-स्थिति दश हजार वर्षसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति ३१ सागर* तक तथा मनुष्यायु-तिर्यंचायुकी जघन्य स्थिति अंतमुर्हूर्तसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य पर्यन्त क्रमपूर्वक एक-एक समय बढ़ाता हुआ पूर्ण करे। क्रमरहित गिनतीमें नहीं। ऐसा करते हुए चारों आयुके पूर्ण करनेमें जितना काल लगे, वह सब एक भव-परिवर्तन काल जानो।

* देवायुमें ३१ सागरसे अधिक आयुका धारक नियमसे सम्यक्ती मोक्षमार्गी ही होता है अतएव उसे परिवर्तन नहीं करना पड़ता इसीलिये यहां ३१ सागर कहा है।

(५) भाव-परिवर्तन—योगस्थान, अनुभाग–अध्यवसाय स्थान, कषाय-अध्यवसाय स्थान, स्थिति-स्थान इन चारोंका परिवर्तन क्रम पूर्वक पूर्ण होना, सो एक भाव परिवर्तन काल है अर्थात् किसी जीवके जिस समय जघन्य स्थिति—स्थान, जघन्य कषाय-अध्यवसाय स्थान, जघन्य अनुभाग-अध्यवसाय स्थान और जघन्य ही योग स्थान हो, तब भाव परिवर्तनका आरम्भ जानो। वहां योगस्थानके तो एक-एक स्थान क्रम से पलट कर उत्कृष्ट पर्यन्त असंख्यात स्थान पूर्ण हों और शेष तीनों ज्यों-के-त्यों जघन्य रूप ही रहे। इस प्रकार जब योगस्थान पूर्ण हो चुकें, तब अनुभाग-अध्यवसायस्थान पलटकर दूसरा हो, शेष दो का जघन्य स्थान ही रहे। इस प्रकार योगस्थानोंकी पलटन पूर्वक असंख्यात-लोक-प्रमाण अनुभाग अध्यवसाय स्थान क्रम से पलट-पलटकर पूर्ण हो चुकें, तब कषाय अध्यवसायका दूसरा स्थान हो। इस प्रकार योगस्थान, अध्यवसाय स्थान पूर्वक, कषायाध्यवसाय स्थान क्रमसे पलटते हुए असंख्यात लोकप्रमाण पूर्ण हों तब स्थिति स्थान जघन्यसे पलटकर दूसरा अर्थात् एक समय अधिक हों, इस प्रकार सब कर्मोंकी मूल उत्तर प्रकृतियोंके स्थिति-स्थानों के इसी क्रमपूर्वक पलटनेमें जितना समय लगे, वह सब भाव-परिवर्तन काल जानो।

भावार्थ—द्रव्य परिवर्तन काल अनंत है, उससे अनंत-

गुणा क्षेत्र परिवर्तनका, उससे अनंतगुणा काल-परिवर्तनका, उससे अनंतगुणा भव-परिवर्तनका और उससे अनन्तगुणा भाव-परिवर्तनका काल है। इन पांचों परिवर्तनोंके कालक समूह एक परिवर्तन कहाता है। जीव मिथ्यात्ववश अनादि-कालसे अपने शुभाशुभ परिणामोंके अनुसार सुख-दुःख भोगता हुआ ऐसे अनंत परिवर्तन कर चुका है इसलिये अब भव-भ्रमणके दुःखोंसे छूटनेका प्रयत्न करना अवश्य है।

हे जीव! तीनों लोकोंमें तू अकेला है, तेरा कोई भी साथी नहीं, अकेला ही जन्मता और अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल (सुख-दुख) भोगता है। स्त्री-पुत्रादि कोई भी साथी नहीं होते। केवल आत्मीक गुण (रत्नत्रय) ही तेरे साथी, तेरे स्वभावरूप हैं। उन्हींके प्रभावसे तू मोक्ष-सुख पा सकता है, इसलिए उन्हींके बढ़ानेका यत्न कर (एकत्व भावना)।

हे आत्मन्! तू इन कर्म-शरीरादि पुद्गलोंसे पृथक् है, केवल भ्रमबुद्धिसे इनको अपने मान रहा है। तू सर्वाङ्ग चेतन और ये शरीरादि जड़ हैं। फिर इनमें तथा घर, सम्पत्ति, परिवारमें एकता कैसी? और इनका भरोसा कैसा? व्यर्थ ही तू इनका भरोसा करता और इनके लिये पाप करके दुर्गतिका पात्र बनता है। (अन्यत्व भावना)।

हे आत्मन्! यह शरीर अशुचि माताके रज और पिताके

वीर्यसे उत्पन्न हाड, मांस,, मल, मूत्रका समूह है। इसमें रहते हुए तुझे क्या ग्लानि नहीं आती ? क्या तुझे चमड़ेसे लिपटा हुआ घिनावनी वस्तुओंका समूह यह शरीर सुहावना लगता है ? जो तू इसे अपना रहा है। भला ! विचार तो सही, संसारमें जितनी अपवित्र वस्तुयें हैं वे सब एक शरीरके सम्बन्धसे ही अपवित्र हुई हैं। इतना होनेपर भी यह शरीर स्थिर नहीं है, अतएव ऐसे अपवित्र शरीरसे ममत्व तजना और आत्माके पवित्र होनेका प्रयत्न करना ही श्रेष्ठ है। (अशुचिभावना.)।

हे जीव ! मिथ्यात्व, अविरत, कषायके वशीभूत होकर मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति करनेसे पुद्गल-कर्मोंका आस्रव होकर आत्मासे बंध होता है, जिससे आत्माके ज्ञानदर्शनादि गुणों-का घात होता है, अतएव आत्म-गुणोंकी रक्षाके लिये इन मोहादि भावोंको त्यागना योग्य है। (आस्रवभावना)।

हे आत्मन् ! मोहके मन्द पड़ने अथवा सर्वथा अभाव हो जानेसे सम्यक्त्व, संयम तथा निष्कषाय भाव उत्पन्न होते और योगोंका निरोध होकर, नूतन कर्मोंका आना रुक जाता है, अतएव आत्म हितके लिये जिस-तिस प्रकार इस संवर अवस्थाकी प्राप्ति करना अवश्य है (संवर भावना)।

हे आत्मन् ! शुभाशुभ कर्मोंके उदयानुसार सुख-दुखकी सामग्रीके समागम होनेपर समताभाव धारण करनेसे सत्तास्थित

कर्मोंका स्थिति अनुभाग घटता और बिना रस दिये ही (कर्म-त्वशक्ति रहित होकर) निर्जरा होती है, इस प्रकार संवरपूर्वक कर्मोंका एकदेश अभाव होना सो (अविपाक) निर्जरा और सर्व-देश कर्मोंका अभाव हो जाना सो मोक्ष है। अतएव मुक्तिप्राप्ति के लिये शुद्धोपयोगकी वृद्धि करना ही उचित है। (निर्जरा-भावना)।

हे आत्मन्! यह अनादि, अनंत, अकृत्रिम, षट्द्रव्योंसे भरा हुआ लोक १४ राजू ऊंचा, उत्तर-दक्षिण ७ राजू चौड़ा, पूर्व-पश्चिम नीचे ७ राजू, मध्यमें १ राजू, पांचवें स्वर्गके अंतमें ५ राजू, और ऊपर लोकके अंतमें १ राजू मोटा है। यह पुरुषाकार ३४३ घन राजू प्रमाण घनाकार है। अधोलोक में ७ नरक पृथ्वी, मध्यलोकमें असंख्यात द्वीप-समुद्र, ऊर्ध्व-लोकमें १६ स्वर्ग, नव ग्रैवेयिक, नव अनुत्तर, पंच-पंचोत्तर हैं, उससे ऊपर अष्टमी प्राग्भार-पृथ्वी है, जिसमें अंगूठीमें नगीनेकी नांई ४५ लाख योजन व्यासयुक्त सिद्धशिला जड़ी हुई है, सबसे ऊपर लोकके अंतमें मुक्तजीवोंका स्थान (सिद्धा-लय) है। जीव अनादिकालसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्राप्ति के बिना इस लोकमें सर्वत्र जन्म-मरण कर रहा है, अतएव संसारभ्रमणसे बचनेके लिये आत्म-गुणोंकी एकताको प्राप्त करना ही परम कर्तव्य है। (लोकभावना)।

हे आत्मन् इस संसार भ्रमणमें प्रथम तो नित्य निगोदसे

निकलना ही महा कठिन है, फिर बे-इन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्रियका होना क्रमशः दुर्लभ है। पुनः सैनी-पंचेन्द्रिय, मनुष्यपना, उच्चकुल, नीरोगता, आयुकी पूर्णता पाना अति दुर्लभ है। तिसपर क्षयोपशमादि पंचलब्धियोंको प्राप्त होकर सम्यक्त्व और चारित्रका उत्पन्न होना महा कठिन है। अब यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ है अतएव ऐसे दुर्लभ-संयोगको पाकर अनन्तकाल-स्थायी स्वस्थान (मोक्ष) की प्राप्तिका यत्न करना योग्य है। (बोधिदुर्लभभावना)।

हे आत्मन ! धर्म आत्माका स्वभाव है, वह निश्चयनयसे यद्यपि अकथनीय है तथापि व्यवहारनयसे रत्नत्रय, दशलक्षण, जीवदया रूप है। इस निज-स्वभाव रूप आत्मधर्मको प्राप्त करना ही जीवका परम हित है, इस निज सम्पत्तिको पाकर ही यह जीव सच्चा सुखी हो सकता है अतएव इसको धारण करना ही श्रेष्ठ है' (धर्मभावना)।

ये द्वादश-भावना वैराग्यकी माता संवेग-निर्वेदकी उत्पादक हैं, इनके चिंतवन करनेसे संसारसे विरक्तता होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप भावनाओंमें गाढ़-रुचि उत्पन्न होती है अतएव समाधिमरण करनेवाला इन भावनाओं-आराधनाओं युक्त पंच-परमेष्ठीके गुणोंका तथा आत्मगुणोंका चिंतवन करे। निकटवर्ती साधर्मी भाइयोंको भी चाहिये कि समाधिमरण करने वालेका उत्साह हर समय बढ़ाते रहें, धर्मध्यानमें सावधान करते

रहें। वैयावृत्य करते हुए सदुपदेश देवें और रत्नत्रयमें उपयोग स्थिर करावें।

अब समाधिमरण करनेवाला अन्त समयमें किस प्रकार आहारादिको घटावे तथा क्या चिंतवन करे वह लिखते हैं। प्रथम ही अन्नके बदले क्रम-क्रमसे दूध पीनेका अभ्यास डाले, पीछे छांछ और उसके बाद प्राशुक जल ही रक्खे, जब देखे कि आयु दो-चार प्रहर, या १ दिन की ही शेष रही जान पड़ती है, तब शक्ति-अनुसार चार प्रकार आहारका त्याग करे। योग्यता तथा आवश्यकतानुसार ओढ़ने-पहिरने मात्र अल्प वस्त्र परिग्रह रक्खे, यदि शक्ति और सब प्रकारकी योग्यता हो तो वस्त्रादिक सब परिग्रह त्याग, मुनिव्रत धार तृण के संस्तर पर पद्मासन या पर्यंकासनसे बैठ जाय, यदि बैठने की शक्ति न हो, तो लेट जाय और मन, वचन, कायको स्थिरकर धीरे धीरे समाधिमरण में दृढ करनेवाले पाठ पढ़े, अथवा साधर्मीजनोंके बोले हुए पाठोंको रुचिपूर्वक सुने, जब बिलकुल शक्ति घट जाय तो केवल णमोकार मंत्र ही जपे, पंचपरमेष्ठीका ध्यान मात्र करे, जब यह शक्ति भी न रहे, तब निकटवर्ती धर्मात्मा पुरुष धीरे धीरे मीठे स्वरसे उसे सावधान करते हुए, केवल अर्हत्-सिद्ध या सिद्ध नाममात्र ही सुनावें। यह बात ध्यानमें रहे कि समाधि मरण करनेवालेके पास कुटुम्बी या कोई दूसरे आदमी सांसारिक वार्तालाप न करें, कोई रोवें और गावें नहीं, कोलाहल

न करें क्योंकि ऐसा होनेसे समाधिमरण करनेवालेका मन उद्वेग-रूप होजाता है। अतएव हरएक सज्जनको यही उचित है कि उसके निकट संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त करनेवाली चर्चा वार्ता करे, तथा आगे जो बड़े सुकुमाल आदि सत्पुरुषों ने भारी भारी परीषह-उपसर्ग सहकर समभावों पूर्वक समाधिमरण साधा, उनकी कथा कहे, जिससे समाधिमरण करनेवाले के चित्तमें उत्साह और स्थिरता उत्पन्न हो इस प्रकार समतासहित, ममतारहित शरीरका त्याग करना समाधिमरण कहाता है।

समाधिमरणके नीचे लिखे पंच अतीचार त्यागने योग्य हैं। क्योंकि इनके लगने से समाधिमरण दूषित होजाता है।

(१) जीवित-आशंसा—ऐसी वांछा करना कि यदि मैं अच्छा हो जाऊं और कुछ काल और भी जीऊं तो अच्छा है।

(२) मरण-आशंसा—ऐसी वांछा करना कि दुःख बहुत हो रहा है, यदि शीघ्र मर जाऊं तो अच्छा है।

(३) मित्रानुराग—माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि की प्रीति का स्मरण तथा मिलने की इच्छा करना।

(४) सुखानुबंध—पूर्वकाल में भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना।

(५) निदान—परभवमें सांसारिक विषयभोगों की प्राप्ति की वांछा करना।

लाभ—जो अणुव्रती सत्पुरुष अतीचाररहित संन्यासमरण

करते हैं, वे अपने किये हुए व्रत रूपी मन्दिर पर मानो कलश चढाते हुए स्वर्गमें महर्द्धिक देव होते हैं, पुनः दोचार भव में ही सच्चे आत्मिक निराकुलित स्वरूपानन्दको प्राप्त होते हैं। क्योंकि समाधिमरण के भलेप्रकार साधनेसे अगले जन्म में इसकी वासना चली जाती है, जिससे वह जीव वहां विराग-रुचि होकर निग्रंथपना धारनेका उत्साही होता और शीघ्रही मुनिव्रत धारणकर, शुद्धस्वरूप को साध, मोक्ष प्राप्त कर सकता है

[अभिवंदन प्रकरण]

(भद्रबाहु संहितानुसार*)

अव्रती, व्रती, ब्रह्मचारी, उत्तम, श्रावक तथा निग्रंथ गुरु आदि के, एक दूसरे से अभिवंदन करने की पद्धति।

(१) गुरु मुनि के लिए श्रावक 'नमोस्तु' कहे।

(२) गुरु (मुनि) बदले में उत्तम त्रिवर्ण-श्रावकों को 'धर्मवृद्धि' साधारण (सामान्य) पुरुषोंको 'धर्मलाभ' और शूद्रोंको 'पापं क्षयतु' कहें।

(३) ब्रह्मचारीको श्रावक 'वन्दना' कहे।

(४) ब्रह्मचारी बदलेमें श्रावकको 'पुण्यवृद्धि' अथवा 'दर्शनविशुद्धि' कहें।

*अन्य ग्रंथों में यह विषय देखने में नही आया।

(५) श्रावक आर्यिका को 'वंदामि' कहे।*

(६) आर्यिका भी श्रावकको धर्मवृद्धि और सामान्य पुरुषोंको धर्मलाभ' कहें।

(७) व्रती श्रावक अर्थात् सहधर्मी आपसमें 'इच्छाकार' करें तथा विरक्त उदासीन श्रावकसे भी 'इच्छाकार' करें।

(८) शेष जैनी मात्र आपसमें जुहार (जुहारु) या जयजिनेन्द्र करें*।

(९) गृहस्थ अपने लौकिक व्यवहार में जेठों, बड़ों को नमस्कार करें* ।

(१०) इनके सिवाय और पुरुषोंके प्रति भी उनकी योग्यतानुसार यथायोग्य विनय करना चाहिये।

(११) विद्या, तप, और गुणों से श्रेष्ठ पुरुष, अवस्थामें कम होते हुए भी ज्येष्ठ (बड़ा) माना जाता है।

(१२) सूत्रपाहुडमें दशवीं-ग्यारहवीं प्रतिमावाले उत्कृष्ट-श्रावकों को 'इच्छाकार' करना लिखा है, अर्थात् मैं आप

*यह किसी ग्रंथ में नहीं मिला कि श्राविका, आर्यिका के प्रति क्या कहे और आर्यिका बदले में श्राविका से क्या कहे, परन्तु बुद्धि में आता है कि श्रावक को नांई श्राविका भी आर्यिका प्रति वंदामि कहे और आर्यिका श्रावकों की नांई श्राविका को धर्मवृद्धि कहे।

* जेठे-बड़े अपनेसे छोटोंको बदले में क्या कहें ? ऐसा कहीं देखने में नहीं आया, परंतु बुद्धि में आता है कि 'सुखी होओ' आदि आशीर्वादात्मक-वचन कहें।

सरीखे होनेकी इच्छा करता हूँ ।

(१३) ग्यारहवीं प्रतिमावाले आपसमें 'इच्छामि' करे, (सागारधर्मामृत और धर्मसंग्रह श्रावकाचार ।)

(नोट) यहां पर व्रती स्त्री-पुरुषोंको श्रावक और शेष सबको सामान्य गृहस्थ समझना चाहिये ।

[सूतकप्रकरण]

सूतकमें देव-गुरु शास्त्रका पूजन स्पर्शन, मन्दिर के वस्त्र पात्रका स्पर्शन तथा पात्रदान वर्जित हैं । सूतक कालपूर्ण होने पर प्रथम दिवस पूजन-प्रक्षाल तथा पात्रदान करके पवित्र होवे । सूतकका विधान इस प्रकार है:—

(१) वृद्धि अर्थात् जन्मका सूतक [सुआ] १० दिन का माना जाता है ।

(२) स्त्रीका गर्भ-जितने माहका पतन हो, उतने दिनका सूतक मानना चाहिये, यदि ३ माहसे कमका हो, तो तीन दिनका सूतक मानना चाहिये ।

(३) प्रसूता-स्त्रीको ४५ दिनका* सूतक होता है, इसके पश्चात् वह स्नान-दर्शन करके पवित्र होवे ।

(४) प्रसूतिस्थान को १ माहका सूतक अर्थात् अशुद्धता कहीं है ।

(५) रजस्वला (ऋतुवती) स्त्रीकी पांचवे दिन शुद्धता होती है ।

*कहीं २ चालीस दिन का भी माना जाता है ।

(६) व्यभिचारिणी स्त्री कभीभी शुद्ध नहीं होती, उसके सदा ही सूतक है।

(७) मृत्युका सूतक १२ दिनका माना जाता है।

(८) तीन पीढ़ीतक १२ दिन, चौथी पीढ़ीमें १० दिन, पांचवीं पीढ़ीमें ६ दिन, छट्ठी पीढ़ीमें ४ दिन, सातवीं पीढ़ीमें ३ दिन, आठवीं पीढ़ीमें १ दिन-रात, नववी पीढ़ीमें दो प्रहर और दशवीं पीढ़ीमें स्नानमात्रसे शुद्धता कही है।

(९) ८ वर्ष तकके बालककी मृत्युका ३ दिनका और तीन दिनके बालकका १ दिनका सूतक है।

(१०) अपने कुलका कोई गृह-त्यागी अर्थात् दीक्षित हुआ हो उसका संन्यास मरण अथवा किसी कुटुम्बीका संग्राममें मरण हो जाय, तो एक दिनका सूतक होता है। यदि अपने कुलका देशान्तरमें मरण करे और १२ दिन पूरे होनेके पहिले मालूम हो, तो शेष दिनोंका सूतक मानना चाहिये। यदि दिन पूरे होगये हों, तो स्नानमात्र सूतक है।

(११) घोड़ी, भैंस, गौ आदि पशु तथा दासी अपने आंगन (गृह) में जने, तो १ दिनका सूतक होता है, यदि गृह बाहिर जने तो सूतक नहीं होता।

(१२) दासी-दास तथा पुत्रीके प्रसूति हो या मरे, तो ३ दिनका सूतक होता है। यदि गृह बाहिर हो तो सूतक नहीं होता। यहां पर मृत्युकी मुख्यतासे ३ दिनका कहा है,

प्रसूतिका १ ही दिन का है। .

(१३) जने पीछे भैंसका दूध १५ दिन तक, गायका १० दिन तक और बकरीका ८ दिन तक अशुद्ध है, पश्चात् खाने योग्य है।

प्रगट रहे कि कहीं-कहीं देश भेदसे सूतक विधानमें भी भेद होता है, इसलिये देश-पद्धति तथा शास्त्रपद्धतिका मिलानकर पालन करना चाहिये।

[स्त्री चारित्र]

(१) सूत्रपाहुड़में कहा है कि स्त्री 'क्षुल्लिका' भी हो सकती है। पुनः यह भी कहा है कि उनकी योनिमें स्तनकी बीटियोंमें, नाभिमें तथा काखोंमें लब्धि-अपर्याप्तक मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसी दशामें उनको महाव्रत की दीक्षा कैसी हो सकती है ? क्योंकि उनसे सर्वप्रकारकी हिंसाका त्याग नहीं हो सकता। जो स्त्री सम्यक्त्वसे शुद्ध है वह मोक्षमार्ग संयुक्त कही है, परन्तु ऊंचा (अपनी शक्तिभर) चारित्र धारण करने परभी उसके महाव्रतकी दीक्षा नहीं होती।

(२) दौलतक्रियाकोष के दानप्रकरणमें कहा है कि तीन उत्तम वर्णकी स्त्रियां ही आर्यिका होसकती है। आर्यिका एक सफेद साड़ी, पीछी, कमंडल, शास्त्र रक्खे, बैठकर कर-पात्र आहार करे, केश लौंच करे।

(३) श्रीमूलाचारमें नीचे लिखे अनुसार कहा है—

'आर्यिकाओंके वृक्ष-मूलादि योग नहीं होता है अर्थात् वृक्षादि के कोटरमें एकान्त रहकर तप करनेकी आज्ञा नहीं है। आर्यिका परस्पर अनुकूल रहे, परस्पर मत्सर, ईर्षाभाव न रक्खे, आपसमें रक्षण, प्रतिपालनमें तत्पर रहें, क्रोध, वैर, कलह, कुटिलता रहित हों, न्यायमार्गमें प्रवर्तनेवाली, मर्यादावान्, लोकापवादसे भयभीत, लज्जायुक्त तथा दोनों कुल [सासरा और पीहर] के योग्य जिनका आचरण हो अर्थात् मर्यादावान्, लज्जवान् और क्रियावान् हों।

पढ़े हुए शास्त्रोंका पठन-स्वाध्याय-पाठ शास्त्र-श्रवण, अपने जाने हुए शास्त्रोंका व्याख्यान, श्रुतका चिंतवन, द्वादशानुप्रेक्षा का चिंतवन, बारह प्रकार तप, इन्द्रियनिरोध, विनय इन शुभ क्रियाओंमें आर्यिकायें सदा उद्यमी रहें। विकार-रहित वस्त्र (सफेद साड़ी) पहिरें (रंगीले और शौकीनी वस्त्र न पहिरें) विकार तथा संस्कार-रहित शरीर रहे तथा स्नानादि रहित हों* धर्मयुक्त, दीक्षायुक्त, शीलवान् विशुद्ध हों, संक्लेश रहित हों।

आर्यिका नगरके न अति निकट रहें न अति दूर रहें जहां असंयमी तथा गृहस्थ न रहते हों, जहां परदारालम्पट,

*आर्यिका मासिकधर्म के समय तो श्राविकाओं द्वारा उचित स्नानादि शौच करे, इन दिनों में उपवास या नीरस आहार करे, चौथे दिन प्रासुक-जल से स्नान कर आहार करे।

चोर,ठग, दुष्ट-तिर्यंचादि न रहते हों तथा मुनियोंका संचार जहां न हों, जहां मल-मूत्रादि उत्सर्ग करनेका स्थान गुप्त हो, ऐसे स्थानमें रहें। दो आर्यिकाओं से कम न रहें अर्थात् अकेली कभी न रहें, अधिक हों तो उत्तम है।

आर्यिका विना प्रयोजन गृहस्थके घर न जावे, अथवा जहां मुनि बैठे हों, वहां न जाय। गृहस्थोंके घर (भिक्षा-काल में अथवा आचार्यके निकट (प्रतिक्रमण के समय) गणिनी श्रेष्ठ आर्यिका) की आज्ञा लेकर अन्य आर्यिका अथवा गणिनी के साथ जाय ।

आर्यिकाको आश्रममें तथा पर घर जाकर इतने काम न करना चाहिये। रुदन अर्थात् दुःखसे पीड़ित होकर आंसू काढ़ना, स्नपन अर्थात् बालकादिको स्नान कराना, किसीके बालकादिको भोजन कराना, पानी पिलाना, रसोई करना, सूत कातना, सीना, कसीदा काढ़ना आदि। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्पकर्म, लेखकर्म, ये षट्-कर्म जीवघातके कारण हैं, सो न करे। संयमियोंके पगोंका प्रक्षालन, रागभावपूर्वक गाना आदि और भी अपवादके कारण अयोग्य क्रिया न करे।

आर्यिका आचार्यादिकी वंदनाके लिये जाय, तो आचार्य को ५ हाथ दूरसे, उपाध्यायको ६ हाथ दूरसे और साधुको ७ हाथ दूरसे वंदना करके उनके पिछाड़ी जाकर बैठे, अगाड़ी न बैठे। इसी प्रकार आलोचना, अध्ययन, स्तुति भी इतने

ही दूरसे करे और जैसे गौ बैठती है उसी तरह गौआसनमे वंदना करे।

(४) श्रीभगवतीआराधनासारमें कहा है कि "आर्यिका" समाधिमरणके अवसरमें अन्य आर्यिका या गणिनीकी सहायता से अन्त समय नग्न-दिगम्बर मुद्रा भी धारण कर सकती है, जो पुरुषोंके दृष्टिगोचर न हो।

उपर्युक्त आगमवाक्योंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्त्रियां भी पुरुषोंके समान सब प्रतिमाओंकी धारक तथा आर्यिका हो सकती हैं। ऐलकवृत्ति तथा मुनिव्रत धारण करना इनके लिये अशक्य है। इनके उत्तम संहननके अभावसे शुद्धोपयोग रूप परिणाम, नग्न-दिगम्बर मुद्रा तथा प्रमत्तादि ऊपरले गुणस्थान नहीं हो सकते, इनके वस्त्रत्याग अशक्यानुष्ठानरूप होनेमे तत्सम्बन्धी निराकुलता एवं चित्तकी दृढ़ता नहीं हो सकती। ये हिंसादि सावद्ययोगका त्याग नव कोटि अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित अनुमोदनसे नहीं कर सकतीं, न इनके सामायिक चारित्रकी प्राप्ति हो सकती है, इसीसे आगममें इनके उपचारसे महाव्रत कहा है। यद्यपि ये अपने पुरुषार्थकी हद को पहुँच चुकी हैं तथापि भाव यथार्थमें पंचम गुणस्थानरूप ही होते हैं।

गृहस्थिनी-श्राविका, ब्रह्मचारिणी क्षुल्लिका तथा आर्यिका के बाह्य भेष और क्रियाओंमें मेरी समझसे इतना ही भेद जान

पड़ता है कि श्राविकाके पति संसर्ग तथा परिग्रह-प्रमाण और भोगोपभोग-प्रमाण व्रतके अनुसार वस्त्र वा परिग्रह रहता है और पहिनाव सामान्य गृहस्थों-सरीखा होता है। ब्रह्मचारिणी के पति संसर्गका अभाव, वैराग्य-सूचक सादे-सफेद वस्त्रोंका पहिनाव तथा अल्प-परिग्रह रहता है। क्षुल्लिका एक सफेद धोती तथा एक सफेद दुपट्टा रखतीं और आरम्भ परिग्रह-रहित रहतीं तथा आर्यिका आरम्भ-परिग्रह रहित केवल एक सफेद साड़ी पहिनतीं, पीछी, कमंडल साथ रखती हैं।

भावार्थ—स्त्रियां भी तत्त्वज्ञानपूर्वक श्रावकधर्मका साधन (जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है) ग्यारहवीं प्रतिमा (क्षुल्लिका) तक करती हुई आर्यिका तक हो सकतीं और अपनी शक्ति एवं योग्यतानुसार धर्मसाधन करती हुई आत्म-कल्याण कर सकती हैं। जिससे परम्परासे स्त्री-लिंगका अभाव करके पुरुष पर्याय, उत्तम सुख-समृद्धि पाकर, महाव्रत धारण कर मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं। अतएव स्त्रियोंको उचित है कि पढ़ें-लिखें, धर्म विद्याका अभ्यास करें, तत्त्वबोधको प्राप्त हों और द्रव्य, क्षेत्र, काल भावको देख योग्यतानुसार ब्रह्म-चर्यादि प्रतिमा अथवा आर्यिकाके व्रत धारण करें।

—o—

मुनि-धर्म*

जब जीवके लोक-स्थित जीव-पुद्गलादि षट् द्रव्योंके यथार्थ स्वरूपपूर्वक शुद्ध आत्मद्रव्यकी स्वाभाविक पर्यायों और पुद्गल जनित वैभाविक-पर्यायोंके जाननेसे मिथ्याबुद्धि दूर होकर सत्यश्रद्धान और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, तब वह आत्मिक स्वभावकी प्राप्तिके लिये उसके साधक-कारणों को मिलाता और बाधक कारणोंको दूर करता है, इसी क्रिया को सम्यक्चारित्र कहते हैं।

चारित्रकी आरम्भिक श्रेणीमें हिंसादि पंच-पापोंका स्थूल-पने त्याग होता है जिसे श्रावकधर्म या अणुव्रत कहते हैं। तहां राज्य-दंड, पंच-दंड, लोकमें निन्दा हो; ऐसी हिंसा, झूठ, चोरी अब्रह्म एवं अतितृष्णाका त्याग होता है। पुनः इनके रक्षणार्थ तथा महाव्रतोंकी आरम्भिक क्रियाओंके शिक्षणार्थ दिग्विरतादि सप्त शीलोंका पालन किया जाता है। जिसका फल यह होता है कि अणुव्रत, महाव्रतोंको स्पर्शने लगते हैं और इनका पालक पुरुष महाव्रत धारण करनेका अधिकारी हो जाता है।

चारित्रकी उत्तरश्रेणीमें हिंसादि पंच पापोंका सम्पूर्णपने

---

* यहां श्री मूलाचार, भगवतीआराधनासार तथा विद्वज्जनबोधकके अनुसार दिग्दर्शन मात्र संक्षिप्तरूपसे मुनिधर्मका वर्णन किया है। जो सज्जन रूपसे जानना चाहें, वे इन ग्रंथोंका अवलोकन करें।

त्याग होता है, इसे मुनिधर्म या महाव्रत कहते हैं। इसके निर्वाहार्थ तथा रक्षणार्थ पंच-समिति, तीन गुप्ति (अष्ट प्रवचन-मात्रिका) भी पालन की जाती हैं। जिसका फल यह होता है कि महाव्रत, यथाख्यात चारित्रको प्राप्त होते हैं।

यह श्रावकधर्म और मुनिधर्म किसी-किसी ग्रन्थमें चार आश्रमोंमें विभक्त करके वर्णन किया गया है। यथा चारित्र-सारमें:—

(१) ब्रह्मचर्याश्रम—जबतक पुत्र-पुत्रियोंका विवाह न हो, तबतक वे ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करें, यह ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता है।

(२) गृहस्थाश्रम—ब्रह्मचर्याश्रमी पुत्र-पुत्री विवाह होने पर गृहस्थ कहलाते हैं और इससमय वे नीचे लिखे षट्कर्म करते हैं। (१) इज्या अर्थात् पूजन करना (२) असि, मसि, कृषि, वाणिज्य पशुपालन और शिल्प; इन आजीवी-षट्कर्मोंमें से जो उद्योग अपने वर्णानुसार योग्य हो, उसके द्वारा न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जन करना (३) दत्ति अर्थात् चार प्रकार दान देना, सर्व जीवोंसे मैत्री भाव रखना, पात्रोंकी भक्तिपूर्वक सेवा करना, दोनोंको दया पूर्वक दान देना, समानता वालोंको समदत्ति अर्थात् योग्य सहायता देना (४) स्वाध्याय करना (५) संयम पालना (६) यथासंभव तप करना।

(३) वानप्रस्थाश्रम—सप्तम प्रतिमाधारक नैष्ठिक ब्रह्म-

चारी तथा अष्टमीं, नवमीं, दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमावाले (गृहस्थाश्रम के त्यागी) संन्यासाश्रममें प्रविष्ट होनेके अभ्यासी वानप्रस्थ कहाते हैं। इनमें उत्कृष्ट-वानप्रस्थ खंड-वस्त्र धारक क्षुल्लक, ऐलक हैं।

(४) संन्यासाश्रम— सर्व परिग्रहके त्यागी, आत्म-ध्यानी निग्रंथ साधु हैं, जो आत्मस्वरूप को साधते हैं।

(नोट) इन चार आश्रमोंमें से आरम्भिक तीन आश्रमोंके उपयोगी श्रावकधर्मका वर्णन तो ऊपर हो चुका, अब आगे साक्षात् मोक्ष-प्राप्ति कराने वाले चतुर्थ संन्यासाश्रम (मुनिधर्म) का संक्षिप्तरूप से वर्णन किया जाता है।

[मुनिधर्म धारनेयोग्य पुरुष]

(१) मुनिधर्म धारण करने वाला पुरुष उत्तम देशका उपजा हो* क्योंकि देश (उत्पत्तिस्थान) का असर कुछ न कुछ अवश्य रहता है। (२) उत्तम त्रिवर्ण यथा; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो, शूद्र न हो, क्योंकि जातिका भी असर रहता है। (३) अंगपूर्ण हो। (४) राजविरुद्ध न हो। (५) लोकविरुद्ध न हो। जिसने कुटुम्बसे दीक्षा लेनेकी आज्ञा मांग ली हो। यद्यपि आज्ञा मांगनेका राजमार्ग है तथापि कारण विशेष से यदि कुटुम्बी आज्ञा न दें, तो भी दीक्षा ले सकता है परन्तु प्रेमभावपूर्वक

*म्लेच्छ खंडका उपजा चक्रवर्ती आदिके साथ आर्यखंडमें आकर महाव्रत धारण कर सकता है (लब्धिसारजी)।

सबसे क्षमाभाव होना उचित है (७) मोह रहित हो। कुष्ट, मृगी आदि वड़े रोगोंसे रहित हो। (९) संघमें कुशलता और धर्मकी वृद्धिका कारण हो।

यद्यपि सामान्यरीति से सर्वही मुनि नग्न, दिगम्बर, अट्ठाईस मूल गुणधारी, आभरण–स्नान–गंध-लेपनादि संस्कार–रहित शांति मुद्रायुक्त होते हैं, इसलिए अभेद हैं, तथापि किसी-किसी विशेष गुणकी मुख्यता अपेक्षा इनके अनगार साधु, ऋषि, मुनि, यति आदि भेदरूप नाम भी कहेजाते हैं। सो ही श्रीमूलाचार में कहा है "ये ही महाव्रती गृहवास, स्त्री पुत्रादि परिग्रह तज निग्रंथ होनेकी अपेक्षा अनगार कहाते हैं। आत्मस्वरूप (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) को एकीभावपूर्वक साधनेकी अपेक्षा साधु कहाते हैं। मौन धारण करने, मन-वचन-कायकी गुप्तियुक्त आत्मध्यान में तत्पर होनेकी अपेक्षा मुनि कहाते हैं। आत्म-ध्यानके बलसे अनेक प्रकारकी मनःपर्यय, अक्षीण-महानस, चारण आदि ऋद्धियां प्राप्त होनेकी अपेक्षा ऋषि कहाते हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय-कषायोंको जीतनेकी अपेक्षा संयत और तेरह प्रकार चारित्र पालनेके लिये यत्न करनेकी अपेक्षा यति कहाते हैं"। तथा चारित्रसारमें ऐसा कहा है कि "सामान्यपने निज-गुणके साधक अनगार, उपशम-क्षपक श्रेणीमें आरूढ यति, अवधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी मुनि और जो ऋद्धियुक्त होते हैं सो ऋषि कहाते हैं।

पुनः मुनियोंके पदस्थ अपेक्षा आचार्य, उपाध्याय, साधु तीन भेद होते हैं। इन्हींसे संघका निर्वाह तथा उत्तरोत्तर ज्ञान-ध्यानकी वृद्धि होती है। इनका स्वरूप इस प्रकार है:—

आचार्य—जो स्वतः ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, वीर्याचार,, तपाचार इन पंचाचार रूप प्रवर्तते तथा संघके सब मुनिसमूहको प्रवर्ताते और दीक्षा-प्रायश्चित्तादि देते हैं। जिस प्रकार राजा, प्रजाकी कुशलताको वृद्धि तथा रक्षा करता है उसी प्रकार ये अपने संघके आचार और रत्नत्रयादिकी रक्षा और वृद्धि करते हैं। उपाध्याय—जिस प्रकार अध्यापक शिष्यों-को पठन-पाठन द्वारा ज्ञानकी वृद्धि कराता और स्वयं ज्ञानकी वृद्धिके लिये पठन-पाठन करता है, उसी प्रकार उपाध्याय सर्व संघको अंग-पूर्वादि शास्त्रोंका ज्ञान कराते और स्वयं पठन-पाठन करते हैं। साधु—जो आत्मस्वरूपको साधते और आचार्यकी आज्ञानुसार आचरण करते तथा उपाध्यायकी इच्छानुसार पढ़ते हैं। इस प्रकार पदस्थ अपेक्षा भेद होते हुए भी आत्मस्वरूप-का साधन तीनों प्रकारके मुनियोंमें सामान्यरीतिसे एकसा ही होता है, इसलिये सभी साधु हैं।

सामान्य रीतिसे यद्यपि सब ही साधु सम्यग्दर्शन, सम्य-ग्ज्ञान एवं महाव्रतोंयुक्त, नग्न दिगम्बर (निर्ग्रन्थ) २८ मूल-गुणोंके धारी होनेसे एक ही प्रकारके होते हैं, तो भी चारित्र परिणामकी हानि-वृद्धि अपेक्षा इनके पुलाक, बकुश, कुशील,

निर्ग्रंथ, और स्नातक ये पांच भेद हैं।

(१) पुलाक—जिनका मन उत्तरगुणोंकी भावना रहित हो, जो किसी क्षेत्र कालके आश्रय व्रतोंमें कदाचित् दोष होनेसे परिपूर्णताको नहीं प्राप्त होते हुए अविशुद्ध (बिना धोये हुए तंदुलके समान) हों। भावार्थ—जिनके परवश तथा बराजोरी से कोई मूलगुण सदोष हों। ये सामायिक, छेदोपस्थापना संयम के धारक और पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभलेश्या युक्त होते हैं। मरनेपर बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

(२) बकुश—जिनके महाव्रत अखंडित होते हों। सराग संयमकी विशेषतावश, धर्मप्रभावनाके निमित्त जिनके शरीर तथा पीछी, कमंडलादि उपकरणोंकी सुन्दरताकी इच्छारूप ऐसे भाव होते हों, कि हमारे संयमादिके संस्कारसे शरीर ऐसा सुन्दर हो, जिसके देखनेसे देवोंके सम्यक्त्व हो जाय, मनुष्योंके संयम हो जाय। इसी प्रकार ये वीतरागतासूचक धर्मोपकरण रखते और उन्हें इस प्रकार सुधारते-सम्हालते हैं, जिनके देखनेसे दूसरोंके वीतरागता प्रगट हो जाय। इनका चारित्र चित्रवर्ण कहा है क्योंकि वीतराग होते हुए, विविध विषयोंके ग्राहक शिष्य-समूहयुक्त होते हैं, शिष्य-शाखामें राग होता है। ये सामायिक-छेदोपस्थापना संयमके धारक होते हैं। छहों लेश्यायुक्त होते हैं, मरकर सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

(३) कुशील इनके दो भेद हैं। (१) प्रतिसेवना कुशील-

जिनके शिष्य-शाखादि अप्रगट हैं। यद्यपि मूलगुणों, उत्तर-गणोंमें परिपूर्णता है तथापि कोई कारण-विशेष वश उत्तर-गुणोंकी विराधना होती है। सामायिक, छेदोपस्थापना संयमके धारक होते हैं, छहों लेश्यायुक्त होते, मरकर सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं। (२) कषायकुशील— जो संज्वलन कषाय युक्त होते, शेष कषायोंको जिनने वश किया है, प्रमाद-रहित होते। परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय संयमके धारक होते। सामायिक छेदोपस्थापना संयम भी होता है। परिहार विशुद्धिवालेके कापोत-पीत-पद्म-शुक्ल चार लेश्या होतीं। सूक्ष्मसांपराय संयमीके एक शुक्ल लेश्या ही होती है। मरकर सर्वार्थसिद्धि तक जाते हैं।

(४) निर्ग्रंथ—जिनके जलमें लहर अथवा दंडकी लीक के समान कर्मका उदय प्रगट नहीं है। मोहनीय कर्मका अभाव हुआ है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का उदय है। जिनके उपयोगकी गति मन्द हो गई है, व्यक्त (अनुभवगोचर) नहीं है। जिनके अंतमुर्हूर्त पीछे केवलज्ञान उपजनेवाला है। ये यथाख्यात-संयमके धारक होते, शुक्ललेश्या युक्त होते, मर कर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जाते हैं।

(५) स्नातक—चारों घातिया कर्मोंके सर्वथा अभाव युक्त केवली सयोगी-अयोगी दो भेदरूप होते हैं। ये यथा-

ख्यातसंयमके धारक होते। शुक्ल लेश्या युक्त होते। मोक्षके पात्र होते हैं।

मुनियोंके उत्सर्ग-अपवाद दो मार्ग कहे गये हैं। (१) उत्सर्गमार्ग—जहां शुद्धोपयोग परम वीतराग संयम होता है। (२) अपवादमार्ग—जहां शुद्धोपयोगसे बाह्य-साधन आहार-विहार-निहार, कमंडल-पीछी, शिष्य-शास्त्रादिके ग्रहण-त्याग युक्त शुभोपयोगरूप सरागसंयम होता है। इनमें अपवादमार्ग, उत्सर्गमार्गका साधक होता है।

[साधुके २८ मूलगुण]

आगममें साधु (मुनि) का लक्षण इस प्रकार कहा है "जो पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त, आरंभ-परिग्रह रहित और ज्ञान-ध्यान-तपमें लवलीन हो, सो ही साधु है।" भावार्थ—आत्मस्वरूपमें लवलीन होनेको बाधक कारण आरंभ-परिग्रह और इन्द्रिय-विषयोंकी लोलुपता है, इन्हींके निमित्तसे जीवके कषायोंकी उत्पत्ति होती और आत्मध्यानमें चित्तवृत्ति स्थिर नहीं रह सकती, अतएव इनको त्याग आत्म-ज्ञानपूर्वक ध्यानमें लवलीन रहना ही साधुका कर्तव्य है। इस इष्टसिद्धिके लिये साधुको नीचे लिखे शास्त्रोक्त २८ मूलगुण धारण करना चाहिये। यथाः पंच महाव्रत, पंच समिति, पंच इन्द्रियोंका दमन, सामायिकादि षट्कर्म, केशलोंच, आचेलक्य, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तघर्षण, खड़े-खड़े भोजन और एकभुक्ति।

इन मूलगुणोंके भलीभांति पालनेसे आत्माके ८४ लाख उत्तर-गुणोंकी उत्पत्ति होती है, जिनका वर्णन आगे किया गयाहै। जिस प्रकार मूल विना वृक्ष नहीं ठहर सकता और न विस्तृत व हरा-भरा हो सकता है उसी प्रकार मूलगुणोंके समुचित पालन किये विना न तो मुनिधर्मका ही साधन हो सकता, और न उत्तर गुणोंकी उत्पत्ति ही हो सकती है। अतएव मुनिधर्म धारणकर आत्मस्वरूप साध, परमात्मा होनेके इच्छुक भाग्यवानोंको ये २८ मुलगुण यथार्थरीतिसे पालन करना अत्यावश्यक है।

[पंच महाव्रत]

जिनका आचरण पूर्णरूपेण सावद्यकी निवृत्ति और मोक्षकी प्राप्तिके लिये किया जाय, सो महाव्रत है। अथवा जिनका आचरण महाशक्तिवान्, पुण्यवान् पुरुष ही कर सकें सो महाव्रत है। अथवा जो इन महाव्रतों को धारण करे, सो महान् होजाता है ऐसे ये स्वयं ही महान हैं, इसलिये महाव्रत हैं। इसप्रकार हिंसादि पंच पापोंके सर्वथा त्यागरूप सकल संयम (चरित्र) के साधक महाव्रत पांच प्रकार हैं।

(१) अहिंसामहाव्रत—षट्कायके जीवोंकी हिंसा नहीं करना अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति कायिक (स्थावर जीव) तथा दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय (त्रस जीव) इन सबको जीवत्वकी अपेक्षा समान

जान, इनकी हिंसा न करनी, रक्षा करना-दयाभाव रखना सो द्रव्य हिंसाविरति और राग-द्वेषका त्याग सो भावहिंसाविरति है। भावार्थ—प्रमत्तयोगपूर्वक द्रव्य और भाव प्राणोंके घातका सर्वथा त्याग सो अहिंसा महाव्रत है।

(२) सत्यमहाव्रत–प्रमत्तयोगपूर्वक असत्यवचनका सर्वथा त्याग सो सत्य महाव्रत है।

(३) अचौर्यमहाव्रत—प्रमत्तयोग पूर्वक विना दी हुई वस्तु के ग्रहण करनेका सर्वथा त्याग सो अचौर्य महाव्रत है। यद्यपि अचौर्यका अभिप्राय अदत्तग्रहणका त्याग मात्र है अर्थात् किसीका पड़ा हुआ, भूला हुआ; रक्खा हुआ, विना दिया हुआ पदार्थ न लेवे। तथापि मुनि, धर्मोपकरण तथा भोजनके सिवाय अन्य कोई वस्तु दी हुई भी न लेवें। यदि लेवें तो अचौर्य महाव्रत नष्ट होजाता है, क्योंकि साधु सर्वथा सर्वप्रकार परिग्रहके त्यागी हैं।

(४) ब्रह्मचर्यमहाव्रत–वेदके उदय-जनित मैथुन सम्बन्धी सम्पूर्ण क्रियाओंका सर्वथा त्याग सो ब्रह्मचर्यमहाव्रत है। वहां सर्वप्रकारकी स्त्रियोंमें विकारभावका अभाव सो द्रव्य-ब्रह्मचर्य और स्वात्मस्वरूपमें स्थिति सो निश्चय ब्रह्मचर्य है।

(५) परिग्रहत्यागमहाव्रत--परद्रव्य एवं तत्सम्बंधी मूर्च्छाका अभाव सो परिग्रहत्यागमहाव्रत है वहां चेतन, अचेतन दोनों

प्रकारके परिग्रहका अथवा १ खेत (जमीन) २ वास्तु (मकानात) ३ चांदी ४ सोना ५ पशु ६ अनाज ७ नौकर ८ नौकरानी ९ वस्त्र १० वर्तन इन दश प्रकार बाह्य-परिग्रहों का तथा १ क्रोध २ मान ३ माया ४ लोभ ५ हास्य ६ रति ७ अरति ८ शोक ९ भय १० जुगुप्सा (घृणा) ११ स्त्रीवेद १२ पुरुषवेद १३ नपुंसकवेद १४ मिथ्यात्व इन चौदह प्रकार अंतरंग-परिग्रहोंका त्याग सो परिग्रहविरति है यद्यपि यहां संज्वलन कषायका सर्वथा अभाव नहीं हुआ तथापि अभाव करनेके सन्मुख है।

प्रकट रहे कि श्रीतत्त्वार्थसूत्रमें अहिंसादि पांचों व्रतों पांच-पांच भावना कही गई हैं जिनके यथायोग्य चिंतवन करनेसे अणुव्रतों-महाव्रतोंकी रक्षा होती तथा उनमें दृढ़ता पहुँचती है इसलिये वे व्रती पुरुषोंके बार बार चिंतवन करने योग्य हैं। यहां प्रकरणानुसार महाव्रतोंकी भावनायें कही जाती हैं—

१ अहिंसामहाव्रतकी पांच भावना—१ वचनगुप्ति २ मनोगुप्ति, ३ ईर्यासमिति, ४ आदान-निक्षेपणसमिति, ५ एषणासमिति।

सत्यमहाव्रतकी पांच भावना—१ क्रोधका त्याग, २ लोभका त्याग, ३ भयका त्याग ४ हास्यका त्याग ५ सूत्रके अनुसार वचन बोलना।

अचौर्यमहाव्रतकी पांच भावना—१ सूने घरमें वास

करना (२) दूसरोंकी छोड़ी हुई जगहमें रहना (३) दूसरोंको वस्तिकामें आनेसे न रोकना, या किसीके रोके हुए स्थानमें न जाना (४) शास्त्रोक्त रीतिसे ४६ दोष, ३२ अंतराय १४ मल-दोष टाल आहार ग्रहण करना (५) धर्मात्माओंसे कलह-विसंवाद न करना।

ब्रह्मचर्य महाव्रतकी पांच भावना—(१) स्त्रियोंमें राग उत्पन्न करनेवाली कथा-वार्ता-गीत सुननेका त्याग करना (२) स्त्रियोंके मनोहर अंग देखनेका त्याग करना (३) महाव्रत धारण करनेके पूर्व भोगे हुए भोगोंका स्मरण न करना (४) पुष्ट कामोत्तेजक आहार न करना (५) शरीरका स्नानादि संस्कार न करना।

परिग्रहत्याग महाव्रतकी पांच भावना—पांचों इन्द्रियोंके भले-बुरे विषयोंमें राग-द्वेष न करना।

[पांच समिति]

सम् अर्थात् भले प्रकार, सम्यक, शास्त्रोक्त, इति कहिये गमनादिमें प्रवृत्ति सो समिति है। इसमें समीचीन चेष्टा सहित आचरण होता है इसलिये ये व्रतोंकी रक्षक और पोषक हैं। ये पांच हैं, यथाः—

(१) ईर्यासमिति—जो मार्ग मनुष्य-पशु आदिके गमनागमनसे खुंद गया हो, सूर्यके आतापसे तप्त हो गया हो, हल-बखर आदिसे जोता गया हो तथा मसानभूमि हो, ऐसे

प्रासुकमार्गसे, प्रमाद रहित-होकर, दिनके प्रकाशमें चार हाथ प्रमाण भलीभांति निरखते हुए प्राणियोंको न विराधते हुए, शास्त्र-श्रवण, तीर्थ-यात्रा, गुरु-दर्शन आदि धर्म-कार्यों तथा आहार-विहार-निहारादि आवश्यक कार्योंके निमित्त गमन करना सो ईर्यासमिति कहाती है।

इसके अतीचार*—गमन करते समय भूमिका भलीभांति अवलोकन नहीं करना। पर्वत, वन, वृक्ष, नगर, बाजार, तिर्यंच मनुष्यादिको अवलोकन करते हुए चलना।

(२) भाषासमिति—सर्व प्राणियोंके हितकारी, सुख उप-जानेवाले, प्रामाणिक, शास्त्रोक्त, विकथा-वर्जित वचन बोलना। लौकिक, कर्कश, हास्यरूप, परनिन्दक, स्वात्मप्रशंसक प्राणियों को संक्लेश-दुःख हानि उपजानेवाले वचन न बोलना, सो भाषासमिति कहाती है।

इसके अतीचार—देश-कालके योग्यायोग्य विचार किये विना बोलना, विना पूछे बोलना, पूरा सुने-जाने विना बोलना।

(३) एषणा समिति—आहार ग्रहणकी प्रवृत्तिको एषणा कहते हैं। सो ४६ दोष, ३२ अंतराय, १४ मल दोष टाल कर उत्तम त्रिकुल अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके घर तप-चारित्र बढ़ानेके लिये शीत-उष्ण, खट्टे-मीठेमें समभावसहित, शरीरपुष्टि और सुन्दरताके प्रयोजनरहित मन-वचन-काय, कृत-

*श्री मूलाचारके अनुसार ये अतीचार लिखे गये हैं।

कारित-अनुमोदना नव कोटिसे शुद्ध, अपने निमित्त न किया हुआ ऐसा अनुद्दिष्ट आहार लेना, सो एषणासमिति कहाती है।

इसके अतीचार—उद्गमादि दोषोंमेंसे कोई दोष लगा कर भोजन करना। अतिरसकी लम्पटतासे प्रमाणाधिक भोजन करना।

सूचना—आहार सम्बन्धी ४६ दोषोंका वर्णन अतिथि-संविभाग व्रतमें हो चुका है तथा आगे मुनिके आहारके वर्णन में भी आवेगा, वहां देखकर श्रावकों तथा उद्दिष्टत्यागी आदि पात्रोंको दाता-पात्र और आहारके आश्रय उत्पन्न होनेवाले दोषों से बचना चाहिये, अन्यथा शिथिल होनेसे चारित्रमें दूषण आता है।

(४) आदान-निक्षेपण समिति—रक्खी हुई वस्तु उठाने को आदान और ग्रहणकी हुई वस्तु रखनेको निक्षेपण कहते हैं। जिससे किसी जीवको बाधा न पहुंचे, उस प्रकार ज्ञानके उपकरण शास्त्र, संयमके उपकरण पीछी, शौचके उपकरण कमंडल तथा संस्तरादिको यत्नपूर्वक उठाना, रखना सो आदाननिक्षेपणसमिति कहाती है।

इसके अतीचार—भूमि शरीर तथा उपकरणोंको शीघ्रतासे उठाना-धरना, अच्छी तरह नेत्रोंसे नहीं देखना वा मयूर-पिच्छिकासे अच्छी तरह प्रतिलेखन नहीं करना, उतावलीसे प्रतिलेखन करना।

(५) प्रतिष्ठापनासमिति—जीव-जन्तु रहित तथा एकांत (जहां असंयमी पुरुषोंका प्रचार न हो) अचित्त (हरितकायादि रहित) दूर, छिपे हुए। (गुप्त) विशाल (बिल, छिद्र रहित) अविरोध (जहां रोक-टोक न हो) ऐसे मलमूत्ररहित निर्दोषस्थानमें मल-मूत्र-कफादि क्षेपण करना, सो प्रतिष्ठापनासमिति कहाती है।

इसके अतीचार—अशुद्ध, विना-शोधी भूमिमें मल-मूत्र कफादि क्षेपना।

[पंचेन्द्रिय-निरोध]

स्पर्शनादि पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें लोलुपता होनेसे असंयम तथा कषायोंकी वृद्धि होकर चित्तमें मलिनता तथा चंचलता होती है, इसलिये जिनको चित्त निर्मल तथा आत्मस्वरूपमें स्थिर करना है, आत्मस्वरूपको साधना है, ऐसे-साधु-मुनियों को कषायोंके उत्पन्न न होने देनेके लिये पंचेन्द्रियोंके विषयों से सर्वथा विरक्त होना चाहिये। इसी प्रकार इन पंचेन्द्रियोंको कुमार्गमें गमन करानेवाले चंचल मनको भी वश करना अत्यावश्यक है। यद्यपि मन किसी रसादि विषयको ग्रहण नहीं करता, तथापि इन्द्रियोंको विषयोंकी तरफ झुकाता है। इस तरह इन्द्रियों तथा मनके विषयोंमें रागद्वेषरहित होना इन्द्रिय-निरोध कहाता है। इनका पृथक्-पृथक् स्वरूप इस प्रकार है—

(१) स्पर्शन-इन्द्रिय-निरोध—चेतन-पदार्थ स्त्री-पुत्रादि, अचेतन-पदार्थ वस्त्र-शय्यादि सम्बन्धी स्पर्शन इन्द्रियके विषय-

भूत, कठोर-कोमल, शीत-उष्ण, हलके-भारी, चिकने-रूक्ष पदार्थों में रागद्वेष न करना।

(२) रसना-इन्द्रिय-निरोध—अशन-पान, खाद्य-स्वाद्य चार प्रकार इष्ट-अनिष्ट आहार तीखे, कडुवे, कषायले, खट्टे, मीठे पंच रस-रूप आहारमें रागद्वेष नहीं करना।

(३) घ्राण-इन्द्रिय-निरोध—सुख-दुःखके कारणरूप सुगंधित, दुर्गन्धित पदार्थोंमें रागद्वेष न करना।

(४) चक्षु-इन्द्रिय-निरोध—कुरूप-सुरूप, सुहावने-भयावने रागद्वेषके उत्पादक पदार्थोंको तथा लाल, पीले, हरित, रक्त, सफेद आदि रंगोंको देखकर रागद्वेष न करना।

(५) श्रोत्र-इन्द्रिय-निरोध—चेतन स्त्री, पुरुष, पशु आदि, अचेतन मेघ-बिजली आदि और मिश्र तबला-सारंगी आदिसे उत्पन्न शुभ-अशुभ, प्रशंसा-निन्दा आदिके शब्द सुनकर रागद्वेष न करना।

[षट् आवश्यक]

अवश्य करने योग्यको आवश्यक कहते हैं, मुनियोंके ये षट् आवश्यक समस्त कर्मोंके नाश करनेको समर्थ हैं। यद्यपि मुनिराज नित्य ही ये षट्कर्म करते हैं, तथापि ध्यान-स्वाध्यायकी इनके मुख्यता है। ये षट्कर्म इस प्रकार हैं:—

(१) समता अर्थात् सामायिक—भेदज्ञानपूर्वक समस्त सांसारिक पदार्थोंको अपने आत्मासे पृथक् जान तथा आत्म-

स्वभावको राग-द्वेष-रहित जान जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दुःखमें समान भाव रखना तथा कर्मोंके शुभाशुभ उदयमें रागद्वेष न करना।

(नोट) मुनि इस प्रकार समतारूप सामायिक चारित्रके धारक होते हुए भी नित्य त्रिकाल–सामायिक करते हैं इसलिये यहाँ प्रकरणवश इनके सामायिक सम्बन्धी ३२ दोष कहे जाते हैं।

[सामायिकके ३२ दोष]

(१) अनादर दोष—सामायिकका क्रियाकर्म निरादर-पूर्वक वा अल्पभावसे करना। (२) तप्तदोष—विद्या आदि गर्वसंयुक्त उद्धततापूर्वक सामायिक करना (३) प्रविष्टदोष-अति असंतुष्टतापूर्वक पंचपरमेष्ठीका ध्यान करना। (४) परि-पीड़ित दोष-दोनों गोड़ोंके प्रदेशोंको स्पर्शना-पीड़ना (मसकना)। (५) दोलायनदोष–आपको चंचल करके संशयसहित सामायिक करना। (६) अंकुशदोष–हाथकी अंगुलियोंको अंकुशके सदृश ललाटमें लगाकर वन्दना करना। (७) कच्छपदोष—कटिभागको कछुएकी तरह ऊंचा करके सामायिक करना। (८) मत्स्यदोष—मछलीकी तरह कमरको नीची-ऊंची अगल-बगलको पलटना (९) मनोदुष्टदोष-हृदयको दुष्टरूप, क्लेश-रूप करके सामायिक करना (१०) वेदिकाबद्ध दोष—अपने हाथोंमें अपने दोनों घुटनोंको बांधकर मसकना। (११) भय-

दोष—मरणादिकके भयसहित सामायिक करना। (१२) विभीतदोष-परमार्थको जाने विना गुरुके भयसे सामायिक करना। (१३) ऋद्धिगौरवदोष-अपने संघके गौरवकी इच्छा कर सामायिक करना। (१४) गौरवदोष-सुखके निमित्त आसन आदि कर अपना गौरव प्रगट करना (१५) स्तेनितदोष—गुरुसे तथा अन्यसे छिपकर सामायिक करना; (१६) प्रत्यनीकदोष—देव गुरुसे प्रतिकूल होकर सामायिक करना। (१७) प्रदुष्टदोष—अन्य सामायिक करे उससे द्वेष वैर, कलह करके सामायिक करना (१८) वर्जितदोष—अन्यको भय उपजाकर सामायिक करना। (१९) शब्ददोष—मौनको छोड़ बातें करते हुए सामायिक करना (२०) हीलितदोष-आचार्य तथा अन्य साधुओंका अपमान करते हुए सामायिक करना। (२१) त्रिवलितदोष-ललाटकी तीन रेखा चढ़ाकर सामायिक करना (२२) संकुचित दोष-दोनों हाथोंसे माथा पकड़कर सकोचरूप होना। (२३) दृष्टिदोष-अपनी इच्छापूर्वक दशों दिशाओंमें अवलोकन करना (२४) अदृष्टदोष-आचार्यादिकसे छिपकर और अनेक जनोंके सन्मुख प्रतिलेखन करना। (२५) करमोचनदोष-संघके रंजन निमित्त तिनकी भक्तिकी वांछारहित सामायिक करना। (२६) आलब्धदोष-जो उपकरण मिल जाय तो सामायिक करना। (२७) अनालब्धदोष--उपकरणादिकी वांछायुक्त सामायिक करना (२८) चंदनचूलिकादोष-थोड़े ही कालमें

जल्दीसे सामायिक कर लेना । (२९) उत्तरचूलिकादोष—आलोचनामें अधिक काल लगाकर सामायिकको थोडे ही कालमें पूर्ण करना । (३०) मूकदोष—मूकके समान मुख मटकाके, हुंकारा आदि करके अंगुली आदि की समस्या बताना । (३१) दर्दुरदोष—अपने शब्द, परके शब्द विषैं मिलाते, रोकते, बडे गले करके समायिक करना (३२) चुचूलितदोष-एक ही जगह बैठकर सबकी वंदना पंचम स्वर (अति उच्चस्वर) से करना ।

(२) वंदना—चौबीस तीर्थंकरोंमें से एक तीर्थंकरकी वा पंचपरमेष्ठीमें एककी मुख्यता करके स्तुति करना तथा अर्हंतप्रतिमा, सिद्धप्रतिमा, तपोगुरु, श्रुतगुरु, दीक्षागुरु, दीक्षाधिकगुरुको प्रणाम तथा उनकी मन-वचन काय की शुद्धतापूर्वक स्तुति करना ।

(३) स्तुति या स्तवन—चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करना ।

(४) प्रतिक्रमण—आहार, शरीर, शयन, आसन, गमनागमन और चित्तके व्यापारसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके आश्रय अतीतकालमें लगे हुए व्रत-सम्बन्धी अपराधोंका शोधना, निन्दा-गर्हायुक्त अपने अशुभ योगोंसे निवृत्त होना अर्थात् अशुभ परिणामपूर्वक किये हुए दोषोंका परित्याग करना सो प्रतिक्रमण है । वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक,

सांवत्सरिक, ईर्यापथिक, उत्तमार्थ भेदसे सात प्रकारका होता है। इसी भांति वर्तमानमें लगे हुए दोषोंका निराकरण सो प्रायश्चित्त तथा भविष्यमें ऐसे आराधन करनेकी प्रतिज्ञा सो प्रत्याख्यान कहाता है।

(५) कायोत्सर्ग—शरीरसे ममत्व छोड खडे होकर या बैठकर शुद्धात्मचिंतन करना, सम्यक्त्वादि रत्नत्रयगुणोंकी भावना सहित होकर शरीरसे निर्ममत्व होना।

(६) स्वाध्याय—वांचना, पृच्छनादि पंच प्रकारसे शास्त्रों का अध्ययन अथवा आत्मचिंतन करना।

[केशलौंच*]

अपने हाथसे शिर, डाढ़ी, मूछोंके केशोंका उखाड डालना, सो केशलौंच कहाता है।

यह क्रिया उत्कृष्ट दो माहमें, मध्यम तीन माहमें, जघन्य चार माहमें की जाती है। लौंचके दिन प्रतिक्रमणसहित उपवास करना चाहिये।

लौंच से लाभ—सन्मूर्च्छन जीवोंकी हिंसाका परिहार, शरीरसे निर्ममत्व, वैराग्य, वीर्यशक्ति तथा मुनिलिंगके गुण

* शास्त्रोंमें "पंचमुष्टी लोच कीनो" ऐसा कहा है उसका भाव वृद्ध-विद्वानों द्वारा ऐसा सुना गया है कि दीक्षा समय, शरीरसे निर्ममता प्रगट करनेको पहिले नेगमात्र दो मुठी मूछोंकी दो डाढीकी और १ शिरकी लोच करते, पीछे शेष सबका लोच कर डालते है।

निर्ग्रन्थपनेकी प्रगटताके लिये केशलोंच किया जाता है। इससे आत्मा वशीभूत होता, शरीरसम्बन्धी सुखमें आसक्तता नहीं होती, स्वाधीनता नष्ट नहीं होती, संयम नहीं बिगड़ता, धर्ममें श्रद्धा, प्रतीति होती तथा कायक्लेश तप होता है।

[आचेलक्य]

चेल, वस्त्रको कहते हैं। निरवद्य मुनिधर्मके विरोधक-कपास-रेशम-सन टाट आदि वनस्पतिके वस्त्रों तथा मृग व्याघ्र-आदिसे उत्पन्न मृगछालादि चर्म व वृक्षोंके पत्र-छाल आदि द्वारा शरीरको आच्छादित नहीं करना और उन्हें मन-वचन-कायसे त्यागना सो आचेलक्य गुण है।

यद्यपि परिग्रह-त्यागमें ही यह आचेलक्य-गुण गर्भित होता है तथापि अन्यमतोंमें वस्त्रको परिग्रह नहीं गिना, इसलिये अथवा आर्यिकाको वस्त्र धारण करनेके कारण उपचारसे महाव्रत ग्रन्थोंमें कहा है इसलिये यथार्थ महाव्रतीके लिये परिग्रह-त्यागसे पृथक् ही वस्त्रत्याग मूलगुण कहा है।

निर्ग्रंथ लिंगसे लाभ—इसमें कामविकारका अभाव होता, शरीरमें निर्ममता होती, संयमके विनाशका अभाव होता, हिंसादि पापोत्पत्तिका अभाव होता, ध्यानमें विघ्न का अभाव होता, जगतमें प्रतीति होती, अपनी आत्मामें स्थिति होती; गृहस्थपनेसे पृथकता प्रगट होती, परिग्रहमें मूर्च्छा नहीं होती, बहुत शोधना नहीं पड़ता, भय नहीं होता, जीवोंकी उत्पत्ति

वा हिंसा नहीं होती। याचना, सींना, प्रक्षालना, सुखाना आदि ध्यान-स्वाध्यायमें विघ्नके कारण उत्पन्न नहीं होते। शीत-उष्णादि परीषहोंका जय, उपस्थइन्द्रोका वशीकरण होना है। यह मुद्रा जिनेन्द्रमुद्राका प्रतिबिम्ब है।

[अस्नान]

जल (सर्व अंग पर जो मल हो, जैसे धूल-पसेव आदि) तथा मल (जो एक ही अंगमें लगा हो, जैसे पांवमें कीचड़ लगजाना आदि) युक्त शरीर होने पर भी स्नान, विलेपन, जलसिंचन आदि शरीरसंस्कार न करनेको अस्नानगुण कहते हैं। परन्तु साधुको मलमूत्रादि सम्बन्धी शुद्धता, षट् आवश्यक आदिके निमित्त करना आवश्यक है।

अस्नान गुणसे लाभ—कषायनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह तथा इन्द्रियसंयमके निमित्त अस्नान मूलगुण है इससे मल-परीषह का जीतना भी होता है।

[क्षितिशयन]

जीवादि-रहित प्रासुकभूमिमें संस्तर-रहित अथवा जिससे संयमका घात न हो, ऐसे अल्पमात्र तृण-काष्ठके पट्टिये (फलक) पर या शिलामय संस्तर पर (जो आपके द्वारा या अन्य महाव्रतीके द्वारा किया गया हो, हिलता न हो, कोमल तथा सुन्दर न हो) एकान्तस्थानमें प्रछन्न औंधे अथवा सीधे रहित एक पसवाड़ेसे दंड अथवा धनुषके समान शयन करना,

सो क्षितिशयन गुण कहलाता है।

क्षितिशयनसे लाभ—शरीरसे निर्ममत्व, तपकी भावना, संयमकी दृढता, निषद्या-शैय्या-तृणस्पर्श आदि परीषहोंका जीतना, शरीरके सुखियापने तथा प्रमादका अभाव होता है।

[अदन्तधावन]

हाथकी अंगुली, नख, दन्तौन, तीक्ष्ण कंकर, वृक्षकी छाल आदि द्वारा दांतोंका शोधन न करना, सो अदन्तधावन कहाता है।

अदन्तधावनसे लाभ—इन्द्रियसंयमकी रक्षा होती, वीतरागता प्रकट होती और सर्वज्ञकी आज्ञाका पालन होता है।

[स्थितभोजन]

भींत आदिके आश्रय बिना, दोनों पावोंमें चार अंगुलका अन्तर रखकर, समपाद खड़े होकर, ४६ दोष, ३२ अंतराय, १४ मलदोष टालकर, पाणिपात्र आहार लेने को स्थिर-भोजन गुण कहते हैं। खड़े भोजन लेनेका प्रयोजन यह है कि जबतक हाथ-पांव चलें और धर्मध्यान सधे, तबतक शरीरको आहार देना। बैठकर, दूसरेके हाथसे या बर्तनद्वारा आहार नहीं करना पाणिपात्रसे ही करना, जिससे अंतराय होनेपर हाथका ग्रासमात्र भोजन छोड़ना पड़े, अधिक नहीं।

स्थितभोजनसे लाभ—हिंसादि दोषोंकी निवृत्ति होती, इन्द्रियसंयम तथा प्राणिसंयमका प्रतिपालन होता है।

[एकभुक्ति]

तीन घडी दिन चढ़े पीछे, तीन घड़ी दिन रहे पहिले, मध्यमें १, २, ३, मुहूर्त कालके भीतर-भीतर दिवसमें केवल एक बार ही अल्प आहार लेनेको एकभुक्ति गुण कहते हैं।

एकभुक्तिमे लाभ—इन्द्रियोंके जीतने तथा आकांक्षाकी निवृत्तिके लिये एकभुक्ति व्रत है।

(नोट) इन उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणोंके विधिपूर्वक पालन करनेसे इन्द्रियसंयम* और प्राणिसंयम* दोनोंकी भली-भांति सिद्धि होती है, स्वाधीनता, निराकुलता बढ़ती, धर्ममें प्रवृत्ति भलीभांति होती, उपयोग स्थिर और निर्मल होता है, यही योग्यता मोक्षप्राप्तिके लिये मूलकारण और मोक्षका स्व-रूप है।

[मुनिके आहार—विहारका विशेष]

भोजन करनेके कारणः—(१) क्षुधावेदनाके उपशमनार्थ (२) षट् आवश्यकोंके पालननिमित्त (३) चारित्रपालनार्थ (४) इन्द्रियसंयमनिमित्त (५) प्राण रक्षणार्थ उत्तमक्षमादि धर्मपालन-निमित्त। इन छः कारणोंसे साधु आहार लेते हैं।

---

*पांचों इन्द्रियों और छठे मनके विषयोंसे राग घट जाना या तत्सम्बन्ध रागका बिलकुल अभाव हो जाना सो इन्द्रियसंयम और छहकायके जीवोंक विराधनाका अभाव अर्थात् योगोंकी यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति अथवा संवर हो जाना सो प्राणिसंयम है।

भोजन न करनेके कारणः—(१) युद्धादिककी शक्ति उत्पन्न होनेको (२) आयुकी वृद्धि होनेको (३) स्वादके लिये (४) शरीर पुष्ट होनेको (५) मोटे (मस्त) होनेको (६) दीप्तिवान होनेको। इन छः प्रयोजनोंसे साधु आहार नहीं लेते।

आहार त्याग करनेके कारणः—अकस्मात् मरणान्त समय एकसी वेदना उपजनेपर आहार त्यागे (२) दीक्षाके विनाशके कारण उपसर्ग होनेसे आहार त्यागे (३) ब्रह्मचर्यकी रक्षामें बाधा होती देखे तो आहार त्यागे (४) प्राणियोंकी दया निमित्त आहार त्यागे (५) अनशन तप पालनेके निमित्त आहार त्यागे (६) शरीर-परिहार अर्थात संन्यास-मरणके निमित्त आहार त्यागे।

भिक्षाको जानेकी पद्धतिः—साधु योग्यकालमें भिक्षाके लिये वनसे नगरमें जावे, उससे यह बात जानना जरूर है कि इस देशमें भोजनका काल कौन-सा है? नगर-ग्रामादिको अग्नि स्वचक्र, परचक्रके उपद्रव, राजादि महंत पुरुषोंके मरण, धर्ममें उपद्रव आदि युक्त जाने या महान् हिंसा होती हो तो भोजनको न जाये। जिस काल चक्की, मूसलादिका शब्द मंद पड़ जाय, उस समय मल-मूत्र आदिकी बाधा मेट, पीछी, कमंडल ग्रहण कर गमन करे। मार्गमें किसीसे वार्तालाप न करे, यदि आवश्यकता ही हो, तो खड़े होकर योग्य और थोड़े शब्दोंमें उत्तर दे। दुष्ट मनुष्य-तिर्यंच, पत्र, फल, पुष्प, बीज,

जल, कीच जिस भूमिमें हो, वहां गमन न करे। दातार तथा भोजनका चिंतवन न करे। अंतराय कर्मके क्षयोपशमके आधीन लाभालाभको विचार धर्म-ध्यान सहित चार आराधनाको आराधता भिक्षाके निमित्त गमन करे। जाते समय योग्यतानुसार व्रत-परिसंख्यान प्रतिज्ञा अंगीकार करे। भिक्षाके निमित्त लोकनिन्द्य कुलमें न जाय। दानशाला, विवाहस्थान, मृतक-सूतकस्थान, नृत्य-गान-वादित्रस्थान, रुदनस्थान, विसंवाद, द्यूतक्रीडाके स्थानमें न जाय। जहां अनेक भिक्षुक एकत्र हो रहे हों, किवाड़ लगे हों, मनुष्योंकी भीड़ हो, सकड़ा मार्ग हो, जहां आने-जानेकी कठिनाई हो, ऊंट, घोड़ा, बैल आदि पशु खड़े हों, या बंधे हों, घुटनोंसे ऊंचा चढ़ने तथा ड्ढी (ढुंडी) से नीचा माथा करके उतरने योग्य स्थानमें साधु भोजनको न जाय। दीन-अनाथ, निंद्यकर्म द्वारा आजीविका करनेवालोंके गृह न जाय। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन उत्तम कुलवालोंके गृहके आंगन तक जाय, जहां तक किसीके आने-जानेकी रोक न हो। आशीर्वाद, धर्मलाभादि न कहे, इशारा न करे, पेट न बतावे, हुंकारा न करे, भ्रुकुटी न चलावे। यदि उत्साहपूर्वक गृहस्थ पडगाहे तो जाकर शुद्ध आहार ले। न पडगाहे तो तत्काल अन्य गृह चला जाय। किसी गृहको छोड़े पीछे फिर उसमें उस दिन न जाय। अंतराय हो जाय, तो अन्य गृह भी न जाय।

भिक्षाके पंच प्रकार—(१) गोचरी–जैसे गाय घास खाती है, घास डालनेवालेकी तथा उसके वस्त्राभूषणकी सुन्दरता नहीं देखती, वैसे ही मुनि योग्य-शुद्ध भोजन करते हैं, दातारके ऐश्वर्य-सुन्दरतादिको नहीं देखते। (२) अक्षमृक्षण—जैसे वणिक गाड़ीको घी, तेलसे औंघकर अपना माल इष्टस्थानको ले जाता है तैसे ही साधु रत्नत्रयकी स्थिरता तथा वृद्धिके निमित्त रस-नीरस आहार लेते हैं। (३) उदराग्नि—प्रशमन-जैसे प्रज्वलित अग्निको जलसे बुझाते हैं, वैसे ही मुनि रस-नीरस भोजनसे क्षुधा शान्त करते हैं (४) गर्तपूरणवृत्ति—जैसे गृहस्थ गृह-स्थित गड्ढेको कूड़ा-मिट्टी आदिसे भरकर पूर्ण करता है वैसे ही मुनि रस-नीरस भोजनसे उदर भरते हैं। (५) भ्रामरी—जैसे भ्रमर कमलादि पुष्पोंका रस लेता परन्तु बाधा नहीं पहुँचाता वैसे मुनि दातारको किसी प्रकार कष्ट-बाधा-उद्वेग पहुँचाये बिना आहार लेते हैं।

[आहार-सम्बन्धी दोष]

१६ उद्गम दोष—जो दोष दातारके अभिप्रायसे आहार तय्यार करनेमें उपजे सो उद्गम दोष कहाते हैं। यदि पात्रको मालूम हो जाय तो ऐसा आहार ग्रहण न करे। वे १६ हैं यथा—(१) जो षट्कायके जीवोंके वधसे उपजे सो अधःकर्म नामक महान् दोष है (२) साधुका नाम लेकर भोजन बनाना सो उद्देशिक दोष है (३) संयमी को देख भोजन बनानेका

आरम्भ करना सो अध्यदि दोष है (४) प्रासुक भोजनमें अप्रासुक भोजन मिलाना सो पति दोष है (५) असंयमीके योग्य भोजनका मिलाना सो मिश्र दोष है (६) रसोईके स्थानसे अन्यत्र आपके वा परके स्थानमें रक्खा हुआ भोजन लाकर गृहस्थ देवे और पात्र लेवे सो स्थापित दोष है (७) यक्ष, नागादिके पूजन-निमित्त किया हुआ भोजन, पात्रको देना सो बलि दोष है (८) पात्रको पड़गाहे पीछे, कालकी हानि वृद्धि अथवा नवधाभक्तिमें शीघ्रता या विलम्ब करना सो प्रावर्तिक दोष है (९) अंधेरा जान मंडपादिको प्रकाशरूप करना सो प्राविशकरण दोष है (१०) अपने पास वस्तु नहीं, दूसरेसे उधार लाकर देना सो प्रामिशिक दोष है (११) अपनी वस्तुके बदले, दूसरे गृहस्थसे कोई वस्तु लाना सो परिवर्तिक दोष है (१२) तत्काल देशान्तर से आई हुई वस्तु देना सो अभिघट दोष है (१३) बंधी या छांदा लगी हुई वस्तु खोलकर देना सो उद्भिन्न दोष है (१४) रसोईके मकानसे ऊपरके मकान में रक्खी हुई वस्तु नसैनी पर चढ़कर निकालकर देना सो मालारोहण दोष है (१५) उद्वेग, त्रास, भयको उत्पन्न करनेवाला भोजन देना सो आच्छेद्य दोष है (१६) दातारका असमर्थ होना सो अनिसार्थ दोष है।

१६ उत्पादन दोष—जो आहार प्राप्त करनेमें अभिप्राय सम्बन्धी दोष पात्रके आश्रय लगते हैं। यथाः—[१] गृहस्थ

को मंजन, मंडन, क्रीडनादि धात्रीकर्मका उपदेश देकर आहार ग्रहण करना सो धात्री दोष है। [२] दातारको पर-देश के समाचार कहकर आहार ग्रहण करना सो दूत दोष है [३] अष्टांग-निमित्त बताकर आहार ग्रहण करना सो निमित्त दोष है [४] अपना जाति-कुल-तपश्चर्यादिक बताकर आहार लेना सो आजीवक दोष है [५] दातार के अनुकूल वचन कहकर आहार लेना सो वनीपकदोष है [६] दातारको औषधि बताकर आहार ग्रहण करना सो चिकित्सा दोष हैं [७, ८, ९, १०] क्रोध, मान, माया, लोभसे, आहारग्रहण करना सो क्रोध, मान, माया, लोभ दोष है [११] भोजनके पूर्व दातार की प्रशंसा कर आहार ग्रहण करना सो पूर्वस्तुति दोष है [१२] आहार ग्रहण किये पीछे दातारकी स्तुति करना सो पश्चात्-स्तुति दोष है [१३] आकाशगामिनी आदि विद्या बताकर आहार ग्रहण करना सो विद्या दोष है [१४] सर्प-बिच्छू आदिका मंत्र बताकर आहार ग्रहण कराना सो मंत्र दोष है (१५) शरीरकी शोभा-निमित्त चूर्णादि बता आहार ग्रहण करना सो चूर्ण दोष है (१६) अवशको वश करनेकी युक्ति बताकर आहार लेना सो मूलकर्म दोष है।

१४ आहार-सम्बन्धी दोष—जो दोष भोजन के आश्रय लगते हैं। यथाः—(१) यह भोजन योग्य है या अयोग्य? खाद्य है या अखाद्य? ऐसी शंकाका होना सो शंकित दोष है

(२) सचिक्कण हाथ या बर्तन पर रक्खा हुआ भोजन ग्रहण करना सो मृक्षित दोष है (३) सचित्त पत्रादि पर रक्खा हुआ भोजन ग्रहण करना सो निक्षिप्त दोष है (४) सचित्त पत्रादिसे ढंका हुआ भोजन करना सो पिहित दोष है (५) दान देनेकी शीघ्रतासे भोजन को नहीं देखकर या अपने वस्त्रोंको नहीं सम्भालकर आहार देना सो सव्यवहरण दोष है (६) सूतक आदि युक्त अशुद्ध आहार ग्रहण करना सो दायक दोष है (७) सचित्तसे मिला हुआ आहार सो उन्मिश्र दोष है (८) अग्निसे परिपूर्ण नहीं पचा व जल गया अथवा तिल, तंदुल, हरड़ आदिसे स्पर्श-रस-गंध-वर्ण बदले विना जल ग्रहण करना सो अपरिणत दोष है (९) गेरू हरताल, खडी आदि अप्रासुक द्रव्यसे लिप्त हुए पात्र द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करण सो लिप्त दोष है (१०) दातार द्वारा पात्रके हस्तमें स्थापन किया हुआ आहार जो पाणिपात्रसे में से गिरता हो, अथवा पाणि-पात्रमें आये हुए आहारको छोड़कर और आहार लेय ग्रहण करना सो परित्यजन दोष हैं (११) शीतल भोजन या जलमें उष्ण अथवा उष्णभोजन या जलमें शीतल मिलाना सो संयोजन दोष है (१२) प्रमाणसे अधिक भोजन करना सो अप्रमाण दोष है (१३) अतिगृद्धता सहित आहार लेना सो अंगार दोष है (१४) भोजन प्रकृति-विरुद्ध है, ऐसा संक्लेश या ग्लानि करता हुआ आहार लेना सो धूम दोष है।

अपने तई स्वतः भोजन तथा उसकी सामग्री तय्यार करना सो अधःकर्म दोष कहाता है, यह ४६ दोषोंके अतिरिक्त महान् दोष है जो मुनिव्रत को मूलसे नष्ट करता है।

बत्तीस अंतराय—अंतराय, सिद्धभक्ति किये पीछे होने पर माना जाता है। [१] भोजनको जाते समय ऊपर काकादि पक्षीका बीट कर देना [२] पगका विष्टादि मलसे लिप्त हो जाना [३] वमन हो जाना [४] भोजनको गमन करते कोई रोक देवे [५] रुधिर-राधकी धार बह निकले [६] भोजनके समय अश्रुपात हो जाय अथवा अन्यके अश्रुपात देखे या विलाप करता देखे [७] भोजनके निमित्त जाते गोड़ों [घुटने] से ऊंची पंक्ति चढना पड़े [८] साधुका हाथ गोड़े [घुटने] से नीचे स्पर्श हो जाय [९] भोजनके निमित्त नाभिसे नीचा माथा कर द्वारमेंसे निकलना पड़े [१०] त्यागी हुई वस्तु भोजनमें आजाय [११] भोजन करते हुए अपने सामने किसी प्राणीका वध हो जाय [१२] भोजन करते हुए काकादि पक्षी ग्रास लेजाय [१३] भोजन करते हुए पात्रके हस्तमेंसे ग्रास गिर जाय [१४] कोई त्रसजीव साधु-के हस्तमें आकर मर जाय [१५] भोजनके समय मृतक पंचेंद्रियका कलेवर देखे [१६] भोजनके समय उपसर्ग आजाय [१७] भोजन करते हुए साधुके दोनों पांवोंके मध्य-में से मेंढक, चूहा आदि पंचेंद्रिय जीव निकल जाय [१८]

दातारके हाथमेंसे भोजनका पात्र गिर पड़े [१९] भोजन करते समय साधुके शरीरसे मल निकल आवे [२०] मूत्र निकल आवे [२१] भ्रमण करतेहुए शूद्रके गृहमें प्रवेश होजाय[२२] साधु भ्रमण करते हुए मूर्च्छा खाकर गिर पड़े [२३] भोजन करता हुआ साधु रोगवश बैठजाय [२४] श्वानादि पंचेन्द्रिय काट-खाय [२५] सिद्धभक्ति किये पीछे हस्तसे भूमिका स्पर्श हो जाय [२६] भोजनके समय कफ, थूकादि गिर पड़े [२७] भोजन समय साधुके उदरसे कृमि निकल आवे [२८] भोजन करते समय साधु के हस्तसे परवस्तुका स्पर्श होजाय [२९] भोजन करते हुए कोई दुष्ट, साधुको या अन्यको खड्ग मारे [३०] भोजन निमित्त जाते हुए गांवमें आग लग जाय [३१] भोजन करते हुए साधुके चरणसे किसी वस्तुका स्पर्श होजाय [३२] भोजन करते हुए साधु भूमि पर पडी हुई वस्तुको हाथ से छूले।

विशेषता—और भी चांडालादि अस्पर्श के स्पर्श होते, किसीसे कलह होते, इष्ट गुरु शिष्यादि का व राजादि प्रधान पुरुषोंका मरण हो उस दिन उपवास करे।

चौदह मल-दोष—१ नख २ बाल ३ प्राणरहित शरीर ४ हाड ५ कण (जव, गेंहूं आदिका बाहिरी अवयव) ७ राधि ८ त्वचा (चर्म) ९ बीज (गेंहूं, चना आदि) १० लोहू ११ मांस सचित्त फल [जामुन, आम आदि] १३ कन्द १४ मूल।

विशेषता—[१] रुधिर, मांस, अस्थि, चर्म, राध ये पांच महादोष हैं, इनके देखनेमात्रसे आहार तजे, यदि स्पर्श हुआ हो तो प्रायश्चित्त भी ले। [२] बाल, विकलत्रय प्राणीका शरीर तथा नख निकले तो आहार तजे और किंचित् प्रायश्चित्त भी ले [३] कण, कुण्ड, कंद, बीज फल, मूल भोजनमें हों तो अलग करदे, न होसकें तो भोजन तजे [४] राध-रुधिर सिद्धभक्ति किये पीछे दातार-पात्र दोनोंमेंसे किसी के निकल* आवे तो भोजन तजे तथा मांसको देखते ही भोजन तजे।

भोजनमें कितना काल लगे—उत्कृष्ट एक मुहूर्त मध्यम दो मुहूर्त, जघन्य तीन मुहूर्त काल सिद्धभक्ति किये पीछे भोजनका कहा है।

वस्तिकादोषवर्णन—उपर्युक्त प्रहार आकारके जो ४६ दोष कहे हैं, वे ही दोष वस्तिका सम्बन्धी हैं तथा एक अधः कर्म महान दोष और भी है, जिसमें वस्तिका तथा उस सम्बन्धी सामग्रीका तय्यार करना जानना।

निवास और चर्या—साधु छोटे ग्राममें एक दिन तथा नगरमें पांच दिनसे अधिक नहीं ठहरे, चौमासे भर एकस्थान में रहे। समाधिमरण आदि विशेष कारणोंसे अधिक दिन भी

---

*किसीर ग्रंथमें राधि-रुधिर चार अंगुलतक वहनेपर अंतराय मानना कहा है।

ठहर सकता है। एक स्थानपर न रहने और विचरते रहनेसे रागद्वेष नहीं बढ़ता और जगह-जगहके भव्यजीवोंका उपकार होता है। गमन करते समय जीवोंके रहनेके स्थान, जीवोंकी उत्पत्तिरूप योनिस्थान तथा जीवोंके आश्रयस्थान जानकर यत्नाचारपूर्वक गमन करे, जिसमें जीवोंको पीड़ा न हो। सूर्य के प्रकाशमें नेत्रद्वारा भलीभांति देखता हुआ, ईर्यापथ शोधता हुआ गमन करे। न धीरे-धीरे गमन करे, न शीघ्रतासे। इधर उधर न देखे। नीचे पृथ्वी अवलोकन करता हुआ चले। मनुष्य, पशु आदि जिस मार्गपर चले हों, प्रातःकालके पवनने जिस मार्गका स्पर्श किया हो, सूर्य-किरणोंका संचार जिस मार्ग-में हुआ हो, अंधेरा न हो, ऐसे प्रासुकमार्गसे दिनमें गमन करे, रात्रिको गमन न करे।

मुनि इन कारणोंसे गमन करे--प्रसिद्ध सिद्ध-क्षेत्रों जिन-प्रतिमाओंकी वंदनाके लिये तथा गुरु, आचार्य वा तपमें अधिक मुनियोंकी सेवा-वैयावृत्तिके निमित्त गमन करे। साधु अकेला गमन न करे, कम-से-कम एक मुनिका साथ अवश्य हो। एकल-विहारी (अकेला गमन करनेवाला) वही मुनि हो सकता है, जो वज्र-ऋषभ-नाराच, वज्र-नाराच अथवा नाराच संहनन-का धारक हो, अंग-पूर्व तथा प्रायश्चित्तादि ग्रन्थोंका पाठी हो, ऋद्धिके प्रभावसे जिसके मल-मूत्र न होता हो। यदि इन गुणों करके रहित एकलविहारी हो जाय, तो धर्मकी निन्दा

तथा हानि होती है ।

वासस्थान—मुनि, नगरसे दूर वनमें, पर्वतकी गुफा, मसानभूमि, सूने घर, वृक्षकी कोटर आदि एकान्त-स्थानोंमें वास करे । विकार, उन्माद तथा चित्तमें व्यग्रता उत्पन्न होनेके कारणरूप स्त्री, नपुंसक, ग्राम्य-पशु आदि युक्त स्थानोंको दूर ही तजे ।

चर्याके अयोग्य स्थान—जो क्षेत्र राजा-रहित हो, जिस नगर, ग्राममें स्वामी न हो, जहांके लोग स्वेच्छाचारी हों, जहां राजा दुष्ट हो, जहां नगर-ग्राम-घरका स्वामी दुष्ट हो, ऐसे धर्म-नीतिरहित स्थानमें मुनि विहार न करे ।

भ्रष्ट मुनियोंकी संगति न करे । भ्रष्टमुनि ५ प्रकारके होते हैं—[१] पार्श्वस्थ—जिन्होंने वस्तिका, मठ, मकान बांध रक्खा हो, शरीरसे ममत्व रखते हों, कुमार्गगामी हों, उपकरणोंके एकत्र करनेमें उद्यमी हों, भावोंकी विशुद्धता-रहित हों, संयमियोंसे दूर रहते हों, दुष्ट असंयमियोंकी संगतिमें रहते हों, इन्द्रिय-कषाय जीतनेको असमर्थ हों । [२] कुशील—जिनका निंद्य स्वभाव हो । जो क्रोधी, व्रत, शील-रहित हों । धर्मका अपयश तथा संघका अपवाद करानेवाले हों, उत्तरगुण, मूलगुण-रहित हों । [३] संसक्त—जो दुर्बुद्धि, असंयमियोंके गुणोंमें आसक्त, आहारमें अति लुब्ध हों, वैद्यक-ज्योतिष-यंत्र-मंत्र करते हों राजादिकके सेवक हों । [४] अपगत या

अवसन्न—जो जिनवचनके ज्ञानरहित, आचार भ्रष्ट, संसार सुखोंमें आसक्त हों, ध्यानादि शुभोपयोगमें आलसी हों। [५] मृगचारी—जो स्वेच्छाचारी, गुरुकुलके त्यागी, जैनमार्गको दूषण देनेवाले, आचार्यके उपदेशरहित एकाकी भ्रमण करने वाले, मृगसमान चरित्र धारने में धैर्यरहित तथा तपमार्गसे परान्मुख हों।

(नोट) ये पांचों दिगम्बर भेषधारी द्रव्यलिंगी, जिनलिंग से बाह्य, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररहित होते हैं। ऐसे भेषधारी, भ्रष्ट-मुनि आजकल दिखाई नहीं देते, इनके स्थानापन्न वस्त्र-परि-ग्रहधारी, आरम्भके अत्यागी भट्टारकोंकी कई गद्दियां दक्षिण पश्चिम प्रान्तोंमें पाई जाती रही हैं। कुछ काल पूर्व जैनियोंमें धर्मविद्याकी हीनताके कारण यह मनो-कल्पित भेष सारे देशमें प्रचलित और पूजनीय हो गया था। भट्टारक लोग अपनेको दिगम्बर गुरु मानते, मनाते और तदनुसार ही गृहस्थोंसे पुजवाते थे, मानों भोले-भाले जैनियोंपर राज्य ही करते थे और भावनाके बहाने मनमाना द्रव्य उनसे वसूल कर अपने दिन मजा-मौज और शौकीनी मे काटते थे। अब कुछ कालसे धर्मविद्याका प्रचार होनेसे इनकी मान्यता, पूज्यता बहुत कम और अल्प क्षेत्रमें ही रह गई है क्योंकि सर्व-साधारण जैनी भाई शास्त्रोंका अवलोकन करनेके कारण सच्चे गुरुके लक्षणों-कर्त्तव्यों और इन शिथिलाचारी भट्टारकोंके बनावटी भेष

और धर्मविरुद्ध क्रियाओंसे परिचित हो गये है। वे भलीभांति जानने लगे हैं कि ये भट्टारक, ब्रह्मचारी-गृहस्थाचार्योंसे भी जघन्य है। अतएव जैनमतके देव-गुरु-धर्मके स्वरूपके भली-भांति जाननेवाले पुरुषोंको योग्य है कि ऐसे धर्मविरुद्ध भेष एवं आचरणके धारक भेषियोंको गुरु मानकर कदापि न पूजें, वंदें और सच्चे देव-गुरु-धर्मके उपासक बने रहें।

[मुनिके धर्मोपकरण]

शौचका उपकरण कमंडल—यह काष्ठका बनता और श्रावकों द्वारा मुनिको प्राप्त होता है। इसमें श्रावकों द्वारा प्राप्त उष्ण किया हुआ जल रहता है। मुनि इस जलसे लघुशंका-दीर्घशंका-सम्बन्धी अशुचि मेटते अथवा चांडालादि अस्पर्श-शूद्रसे कदाचित् स्पर्श हो जाय तो शास्त्रोक्त शुद्धिके निमित्त कमंडलसे जलकी धारा मस्तकपर इस तरहसे डालते हैं जो मस्तकसे पांव तक बह जाय। इस प्रकार शुद्धिपूर्वक सामायिक, स्वाध्यायादि षट्कर्मोंमें प्रवर्तते हैं। यदि लौकिक शुचि न की जाय, तो व्यवहारका लोप हो जाय, लोकनिंद्य होवे, अविनय होवे, गृहस्थोंके मनमें उनसे घृणा उत्पन्न हो जाय। हां! यदि शरीरकी स्वच्छताके लिये कमंडलके जलसे स्नान किया जाय, मैल उतारा जाय या पीनेमें काम लाया जाय, तो वही कमंडल परिग्रहरूप असंयमका कारण होता है।

ज्ञानका उपकरण, शास्त्र—साधु ध्यानसे निवृत्त होनेपर

ज्ञानकी वृद्धि तथा परिणामोंकी निर्मलताके लिये स्वाध्याय करते हैं। स्वाध्यायके लिये आवश्यकतानुसार श्रावकों द्वारा प्राप्त हुए एक दो शास्त्र यत्नाचारपूर्वक अपने साथ रखते हैं। जब कोई शास्त्र पूर्ण हो जाता है तो उसे वापिस कर देते या किसी मन्दिरमें विराजमान कर देते हैं। यदि यही शास्त्र अपने महत्त्व बतानेको बहुतसे एकत्र करके साथमें लिये फिरें, तो वे ही परिग्रहरूप असंयमके कारण होते हैं।

संयमका उपकरण, पिच्छिका—पिच्छिका मयूरके स्वाभाविक रीतिसे छोड़े हुए पंखोंसे बनाई जाती है। मयूर के पंखोंकी पिच्छी बनानेसे यह लाभ है कि इसमें सचित्त-अचित्त रज नहीं लगती, पसेव-जलादि प्रवेश नहीं करता, कोमल और कम वजन होती, इसका स्पर्श सुहावना लगता है। साधु, जीव-जन्तुओंकी रक्षा निमित्त जमीनको पीछीसे मार्जन करके उठते-बैठते तथा हर एक वस्तुको पीछी से मार्जन करके उठाते-रखते हैं। इसी प्रकार शरीरको भी पीछी से मार्जन करते हैं, संस्तरको शोधते हैं जिससे किसी जीव-जन्तुको बाधा न हो। यदि अपने शारीरिक आरामके लिये पीछीसे पृथ्वीपरके कंकरादि झाड़कर सोवें, बैठें तो वही पीछी परिग्रह रूप असंयमकी करनेवाली होती है।

(नोट) जो निकटभव्य सम्यग्ज्ञान द्वारा हेय-उपादेयको भलीभांति जान, महाव्रत धारण करके संवर-निर्जरापूर्वक उसी

पर्यायमें मोक्ष प्राप्ति करना चाहते हैं। वे तीन गुप्ति, पंच-समिति, पंचाचार, दशधर्म, द्वादश तप पालते हुए, बाईस परीषह सहन करते हुए धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूप आचरण भी करते हैं, क्योंकि विना साधनके साध्यकी सिद्धि नहीं होती। यद्यपि तत्त्वाधिकारमें इन सब बातोंका वर्णन हो चुका है, तथापि यहां मुनिधर्मका प्रकरण होनेसे त्रिगुप्ति-पंचाचार-द्वादश तप तथा ध्यानका पुनः विशद रूपसे वर्णन किया जाता है।

[तीन गुप्ति]

जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र गोपिये अर्थात् रक्षित कीजिये, सो गुप्ति कहाती है, जैसे कोटद्वारा नगरकी रक्षा होती है, उसी प्रकार गुप्तिद्वारा मिथ्यात्व, अज्ञान असंयम अथवा शुभाशुभ कर्मोंसे आत्माकी रक्षाकी जाती है। वे तीन हैं। यथाः—

[१] मनोगुप्ति—मनसे रागद्वेषादिका परिहार करना।

[२] वचनगुप्ति—असत् अभिप्रायसे वचनकी निवृत्ति कर, मौनपूर्वक ध्यान–अध्ययन–आत्मचिंतवनादि करना।

[३] कायगुप्ति—हिंसादि पापोंकी निवृत्तिपूर्वक कायोत्सर्ग धारण करना, कायसम्बन्धी चेष्टाकी निवृत्ति करना।

मुनिराज मन-वचन-कायका निरोध करके आत्मध्यानमें ऐसे लवलीन रहते हैं, कि उनकी वीतराग स्थिरमुद्रा देखकर

वनके मृगादि पशु, पाषाण या ठूंठ जानकर उनसे खाज खुजाते हैं। ऐसा होते हुए भी वे ध्यानमें ऐसे निमग्न रहते हैं, कि उन्हें इसका कुछ भी भान नहीं होता।

[नोट] इन तीनोंमें मनोगुप्ति सबसे श्रेष्ठ है, मनकी स्थिरता होनेसे वचन-कायगुप्ति सहजमें पल सकती है। इसी-कारण आचार्योंने जहां-तहां मन वश करनेका उपदेश दिया है। अतएव आत्मकल्याणके इच्छुकोंको आत्मस्वरूप तथा द्रव्यस्वरूपके चिंतवनमें लगाकर क्रमशः मनको वश करनेका अभ्यास करना योग्य है।

[अतीचार]

मनोगुप्तिके अतीचार—रागादि-सहित स्वाध्यायमें प्रवृत्ति व अंतरंगमें अशुभ परिणामोंका होना।

वचनगुप्तिके अतीचार-राग तथा गर्वसे मौन धारण करना।

कायगुप्तिके अतीचार—असावधानपूर्वक कायकी क्रिया-का त्याग करना, एक पांवसे खड़ा हो जाना तथा सचित्त भूमि में बैठना।

[पंचाचार]

सम्यग्दर्शनादि गुणोंमें प्रवृत्ति करना सो आचार कहाता है। वह पांच प्रकारका है। यथाः—

[१] दर्शनाचार—भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि

समस्त परद्रव्योंसे भिन्न, शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा ही उपादेय है, ऐसा श्रद्धान या इसकी उत्पत्तिके कारणभूत षट्द्रव्य, सप्त तत्त्व अथवा सुगुरु, सुदेव, सुधर्मका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन प्रवृत्तिको दर्शनाचार कहते हैं।

[२] ज्ञानाचार—शुद्ध आत्माको स्वसंवेदन भेदज्ञान द्वारा मिथ्यात्व-रागादि परभावोंसे भिन्न, उपाधि-रहित जानना अथवा स्वपर-तत्त्वोंको आगम तथा स्वानुभवसे निर्बाध जानना सो सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यग्ज्ञान रूप प्रवृत्तिको ज्ञानाचार कहते हैं।

[३] चारित्राचार—उपाधिरहित शुद्धात्माके स्वाभाविक सुखास्वादमें निश्चल चित्त करना अथवा हिंसादि पापोंका अभाव करना सो सम्यक्चारित्र है। इस सम्यक्चारित्ररूप प्रवृत्तिको चारित्राचार कहते हैं।

[४] तपाचार—समस्त परद्रव्योंसे इच्छा रोक प्रायश्चित्त, अनशनादिरूप प्रवर्तना, निजस्वरूपमें प्रतापरूप रहना, सो तप है। इस तपरूप आचरणको तपाचार कहते हैं।

[५] वीर्याचार—इन उपर्युक्त चार प्रकारके आचारोंकी रक्षामें शक्ति न छिपाना अथवा परिषहादि आनेपर भी इनसे नहीं चिगना, सो वीर्य है। इस वीर्यरूप प्रवृत्तिको वीर्याचार कहते हैं।

[द्वादश तप]

जिससे इन्द्रियां प्रबल होकर मनको चंचल न करने पावें,

उस प्रकार चारित्रके अनुकूल कायक्लेशादि तप साधन करना, तथा अविपाक—निर्जराके निमित्त अंतरंगमें विषय-कषायोंकी निवृत्ति करना सो तप कहाता है। यह बाह्याभ्यन्तर दो प्रकार का है। यथाः—

[१] बाह्य तप—जो काय-सल्लेखनाके निमित्त इच्छा निरोध-पूर्वक नित्य—नैमित्तिक क्रियाओंका साधन किया जाय और जो बाहिरसे दूसरोंको प्रत्यक्ष प्रतिभासित होवे। यह बाह्य तप छः भेदरूप है। यथा—[१] अनशन—आत्माका इंद्रिय-मनके विषय-वासनाओंसे रहित होकर आत्मस्वरूपमें वास करना सो उपवास कहाता है। भावार्थः—संयमकी सिद्धि, रागके अभाव, कर्मोंके नाश, ध्यान और स्वाध्यायमें प्रवृत्तिके निमित्त इन्द्रियोंका जीतना, इस लोक, परलोक सम्बन्धी विषयोंकी वांछा न करना, मनको आत्मस्वरूप अथवा शास्त्र-स्वाध्यायमें लगाना, क्लेश उत्पन्न न हो उस प्रकार एक दिन की मर्यादारूप चार प्रकार आहारका त्याग करना सो अनशन तप है। [२] अवमोदर्य—कीर्ति-माया, कपट, मिष्ट भोजन के लोभरहित अल्प-आहार लेना सो ऊनोदर तप है। भावार्थ—संयमकी सिद्धि, निद्राके अभाव, वात-पित्त-कफके प्रकोपकी अशान्ति, सन्तोष, सुखसे स्वाध्यायके निमित्त एक ग्रास ग्रहण कर शेषका त्याग करना सो उत्कृष्ट ऊनोदर और एक ग्रासका त्याग कर ३१ ग्रास पर्यन्त आहार लेना सो मध्यम तथा

जघन्य ऊनोदर है। (नोट) साधुके लिए उत्कृष्ट आहार ३२ ग्रास—प्रमाण शास्त्रोंमें कहा है, और वह एक ग्रास एक हजार चांवल-प्रमाण कहा है। [३] वृत्तिपरिसंख्यान-भोजन की आशा-तृष्णाको निराश करनेके लिये अटपटी मर्यादा लेना और कर्मयोगसे संकल्पके माफिक प्राप्त होने पर आहार लेना सो वृत्तिपरिसंख्यान तप है। भावार्थः—भिक्षाके लिये अटपटी आखड़ी करके चित्तके संकल्पको रोकना सो वृत्तिपरिसंख्यान तप है। [४] रसपरित्याग-इन्द्रियोंके दमन, दर्पकी हानि संयम के उपरोध निमित्त घृत, तैलादि छः रस अथवा खारा-खट्टा-मीठा, कड़ुवा, तीखा, कषायला, इन छहों रसोंका वा एक दो आदिका त्याग करना सो रसपरित्याग तप है। [५] विविक्तशय्यासन—ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यानकी सिद्धिके लिये प्राणियोंकी पीडारहित शून्यागार, गिर, गुफा आदि एकान्तस्थानमें शयन, आसन, ध्यान करना सो विविक्त शय्यासन तप है। [६] कायक्लेश—जिस प्रकार चित्तमें क्लेश-खेद न उपजे, उसप्रकार अपनी शक्तिके अनुसार साम्य-भावपूर्वक प्रतिमायोग धार परिषह सहते हुए आत्मस्वरूपमें लवलीन रहना सो कायक्लेश तप है। इससे सुखकी अभि-लाषा कृश होती, रागका अभाव होता, कष्ट सहनेका अभ्यास होता और प्रभावनाकी वृद्धि होती है।

(२) आभ्यन्तर तप—जो कषायोंकी सल्लेखना अर्थात्

मनको निग्रह करनेके लिये क्रियाओंका साधन किया जाय और दूसरोंकी दृष्टिमें न आवे। यह भी छः प्रकारका है यथाः–[१] प्रायश्चित्त—प्रमादजनित दोषोंको प्रतिक्रमणादि पाठ या तप-व्रतादि द्वारा दूर कर चारित्र शुद्ध करना सो प्रायश्चित्त तप है। इससे व्रतोंकी शुद्धता, परिणामोंकी निर्मलता मानकषायकी मन्दता होती है। [२] विनय—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचारमें परिणामोंकी विशुद्धता करना सो विनय तप है। भावार्थ—सम्यग्दर्शनमें शंकादि अतीचार-रहित परिणाम करना सो दर्शनविनय है। ज्ञानमें संशयादि-रहित परिणाम करना तथा अष्टांगरूप अभ्यास करना सो ज्ञान-विनय है। हिंसादि परिणामरहित निरतीचार चारित्र पालनेरूप परिणाम करना सो चारित्रविनय है। तपके भेदोंको निर्दोष पालनरूप परिणाम करना सो तपविनय है। रत्नत्रयके धारक मुनियोंके अनुकूल भक्ति तथा तीर्थादिका वंदनारूप आचरण करना सो उपचारविनय है। विनय तपसे ज्ञानादि गुणोंकी प्राप्ति तथा मान कषायका अभाव होता है। [३] वैयावृत्त्य-जो मुनि, अशुभ कर्म के उदय तथा उपसर्गसे पीड़ित हों, उनका दुख, उपसर्ग पूजा-महिमा-लाभ की वांछारहित होकर दूर करना, हाथ-पांव दाबना, शरीरकी सेवा करना तथा उपदेश व उपकरण देना सो वैयावृत्त है। इससे गुणानुराग प्रगट होता तथा मान कषाय कृश होती है। [४] स्वाध्याय-ज्ञान

भावना के लिये अथवा कर्मक्षयनिमित्त, आलस्यरहित होकर जैन-सिद्धान्तोंका पढ़ना, अभ्यास करना; धर्मोपदेश देना, तत्त्व निर्णयमें प्रवृत्ति करना सो स्वाध्याय तप है। इससे बुद्धि स्फुरायमान होकर परिणाम उज्ज्वल होते, संवेग होता, धर्मकी वृद्धि होती है। [५] व्युत्सर्ग-अंतरंग तथा बाह्य परिग्रहों से त्यागरूप बुद्धि रखना अर्थात् शरीर संस्काररहित, रोगादि इलाजरहित, शरीरसे निरपेक्ष,दुर्जनोंके के उपसर्गमें मध्यस्थ, देहसे निर्ममत्व, स्वरूपमें लीन रहना सो व्युत्सर्ग तप है। इस से निःपरिग्रहपना, निर्भयपना प्रगट होकर मोह क्षीण होता है। [६] ध्यान—समस्त चिंताओं को त्याग, मंद कषायरूप धर्मध्यान और अति मन्द कषायरूप व कषायरहित शुक्लध्यानमें प्रवृत्ति करना, सो ध्यान तप है। इससे मन वशीभूत होकर अनाकुलताकी प्राप्ति एवं परमानन्दमें मग्नता होती है।

तप से लाभ—बाह्य तपके अभ्याससे शरीर नीरोग रहता, कदाचित् रोगादि कष्ट आ भी जाय तो चित्त चलायमान नहीं होता, सन्तोषवृत्ति रहती है। अंतरंग तपके प्रभावसे आत्मीक विचित्र २ शक्तियाँ प्रगट होतीं, अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होतीं, देव, मनुष्य तिर्यञ्चादि वश होते, यहां तक कि कर्मों-की अविपाक निर्जरा होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है।

[ध्यान]

उपयोग (चित्तवृत्ति) को अन्य चिंताओंसे रोककर एक

ज्ञेयपर स्थिर करना ध्यान कहाता है। ध्यानका उत्कृष्टकाल उत्तम संहननके धारक पुरुषोंके अंतमुंहूर्त कहा है अर्थात् वज्रऋषभ-नाराच, वज्रनाराज, नाराच संहननके धारक पुरुषोंका अधिक-से-अधिक एक समय कम दो घड़ी तक (अंतमुंहूर्त तक) एक ज्ञेयपर उपयोग स्थिर रह सकता है, पीछे दूसरे ज्ञेयपर ध्यान चला जाता है। इस प्रकार बदलता हुआ बहुत काल तक भी ध्यान हो सकता है। यह ध्यान अप्रशस्त, प्रशस्त भेदसे दो प्रकारका है।

आर्त्त रौद्र ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं, इनका फल निकृष्ट है; ये संसारपरिभ्रमणके कारण नरक-तिर्यञ्च गतिके दुखोंके मूल हैं और अनादिकालसे स्वयं ही संसारी जीवोंके बन रहे हैं, इसलिये इनकी वासना ऐसी दृढ़ हो रही है कि रोकते २ भी उपयोग इनकी तरफ चला जाता है। सम्यग्ज्ञानी पुरुष ही इनसे चित्तको निवृत्त कर सकते हैं।

धर्म शुक्ल ये दो ध्यान प्रशस्त हैं, इनका फल उत्तम है, ये स्वर्ग-मोक्षके सुखके मूल हैं, ये ध्यान जीवोंके कभी भी नहीं हुए, यदि हुए होते तो फिर संसार भ्रमण न करना पडता, इसलिये इनकी वासना न होनेसे इनमें चित्तका लगना सहज नहीं, किन्तु बहुत ही कठिन है। अतएव जिस तिस प्रकार प्रयत्न करके इन ध्यानोंका अभ्यास बढ़ाना चाहिये और तत्त्व-चिंतवन-आत्मचिंतवनमें चित्त स्थिर करना चाहिये।

यहांपर चारों ध्यानोंके सोलहों भेदोंका स्पष्ट रूपसे वर्णन किया जाता है, जिससे इनका स्वरूप भलीभांति जानकर अप्रशस्त ध्यानोंसे निवृत्ति और प्रशस्त ध्यानोंमें प्रवृत्ति हो।

[आर्त्तध्यान]

दुःखमय परिणामोंका होना सो आर्त्तध्यान है इसके चार भेद हैं। यथाः—(१) इष्टवियोगज आर्त्तध्यान—इष्ट प्रिय स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि तथा धर्मात्मा पुरुषोंके वियोगसे संक्लेशरूप परिणाम होना (२) अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान-दुःखदाई अप्रिय स्त्री, पुत्र, भाई, पड़ौसी, पशु आदि तथा पापी दुष्ट पुरुषोंके संयोग होनेसे संक्लेशरूप परिणाम होना। (३) पीड़ा चिंतवन आर्त्तध्यान—रोगके प्रकोपकी पीड़ासे संक्लेशरूप परिणाम होना, वा रोगका अभाव चिंतवन करना। (४) निदानबंध आर्त्तध्यान—आगामी कालमें विषयभोगोंकी वांछारूप संक्लेश परिणाम होना।

ये आर्त्तध्यान संसारकी परिपाटीसे उत्पन्न और संसारके मूल कारण है, मुख्यतया तिर्यञ्चगतिको लेजानेवाले हैं। पांचवें गुणस्थान तक चारों और छठेमें निदानबंधको छोड़ शेष तीन आर्त्तध्यान होते हैं। परन्तु सम्यक्त्व अवस्थामें मन्द होनेसे तिर्यञ्चगतिके कारण नहीं होते।

[रौद्र ध्यान]

क्रूर (निर्दय) परिणामोंका होना सो रौद्रध्यान है। यह

चार प्रकारका है। यथाः—(१) हिंसानन्द—जीवोंको अपने तथा परके द्वारा वध-पीड़ित, ध्वंस-घात होते हुए हर्ष मानना, वा पीड़ित करने-करानेका चिंतवन करना। (२) मृषानन्द—आप असत्य झूठी कल्पनायें करके तथा दूसरोंके द्वारा ऐसा होते हुए देख–जानकर आनन्द मानना वा असत्य भाषण करने-करानेका चिंतवन करना। (३) चौर्यानन्द—चोरी करने-करानेका चिंतवन तथा दूसरोंके द्वारा इन कार्योंके होते हुए आनन्द मानना। (४) परिग्रहानन्द—क्रूर चित्त होकर बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रहरूप संकल्प वा चिंतवन करना, या अपने-पराये परिग्रह बढ़ने-बढ़ानेमें आनन्द मानना।

ये रौद्रध्यान नरक ले जानेवाले हैं। पंचम गुणस्थान तक होते हैं परन्तु सम्यक्त्व अवस्थामें मंद होनेसे नरकगति के कारण नहीं होते।

[धर्मध्यान]

सातिशय पुण्यबंधका कारण, शुद्धोपयोगका उत्पादक शुभ परिणाम सो धर्मध्यान कहाता है। इसके मुख्य चार भेद हैं। यथा–(१) आज्ञाविचय—इस धर्मध्यानमें जैनसिद्धान्त-में प्रसिद्ध वस्तु स्वरूपको, सर्वज्ञ भगवान्‌की आज्ञाकी प्रधानता से यथा सम्भव परीक्षापूर्वक चिंतवन करना और सूक्ष्म-परमाणु आदि, अंतरित–राम रावणादि, दूरवर्ती–मेरुपर्वतादि ऐसे छद्मस्थके प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणोंके अगोचर पदार्थोंको सर्वज्ञ

वीतरागकी आज्ञा-प्रमाण ही सिद्ध मानकर तद्रूप चिंतवन करना (२) अपायविचय-कर्मोंका नाश, मोक्षकी प्राप्ति किन उपायोंसे हो, इस प्रकार आस्रव-बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि तत्त्वोंका चिंतवन करना (३) विपाकविचय—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके निमित्तसे अष्टकर्मोंके विपाकद्वारा आत्माकी क्या-क्या सुख-दुःखादिरूप अवस्था होती हैं उसका चिंतवन करना। (४) संस्थानविचय-लोक तथा उसके ऊर्ध्व-मध्य-तिर्यक लोक सम्बन्धी विभागों तथा उसमें स्थित पदार्थोंका, पंच-परमेष्ठीका, अपने आत्माका चिंतवन करता हुआ, इनके स्व-रूपमें उपयोग स्थिर करना। इसके पिंडस्थ पदस्थ रूपस्थ रूपातीत चार भेद हैं। जिनका विशेष वर्णन श्रीज्ञानार्णवसे जानना।

यद्यपि यह धर्मध्यान चौथे गुणस्थानसे सातवें गुणस्थान तक अर्थात् अव्रती श्रावकसे मुनियों तक होता है, तथापि श्रावक अवस्थामें आर्त्त-रौद्र ध्यानके सद्भावसे धर्मध्यान पूर्ण विकासको प्राप्त नहीं होता, इसलिये इसकी मुख्यता मुनियों-के ही होती है, विशेषकर अप्रमत्त अवस्थामें इसका साक्षात् फल स्वर्ग और परम्परासे शुद्धोपयोगपूर्वक मोक्षकी प्राप्ति भी है।

[शुक्लध्यान]

जो ध्यान, क्रिया रहित, इन्द्रियोंसे अतीत, ध्यानकी

धारणासे रहित अर्थात् मैं ध्यान करूं या ध्यान कर रहा हूं, ऐसे विकल्परहित होता है। जिसमें चित्तवृत्ति अपने स्वरूपके सन्मुख होती है। इसके चार भेद हैं, उनमें प्रथम पाया तीन शुभ संहननोंमें और शेष तीन पाये वज्रऋषभनाराचसंहनन में ही होते हैं। आदिके दो भेद तो अंग-पूर्वके पाठी छद्मस्थों के तथा शेष दो केवलियोंके होते हैं। ये चारों शुद्धोपयोग रूप हैं। (१) पृथक्त्व-वितर्क-वीचार—यह ध्यान श्रुतके आधारसे (वितर्कसहित) होता है, मन-वचन-काय तीनों योगोंमें बदलता रहता है, अलग-अलग ध्येय भी श्रुतज्ञानके आश्रय बदलते रहते हैं, अर्थात् एक शब्द-गुण-पर्यायसे दूसरे शब्द-गुण-पर्यायपर चला जाता है। इसके फलसे मोहनीयकर्म शान्त होकर एकत्व-वितर्क अविचार ध्यानकी योग्यता होती है। यह आठवें गुणस्थानसे ग्यारहवें गुणस्थान तक होता (२) एकत्व-वितर्क-अवीचार—यह ध्यान भी श्रुतके आधार-से होता है। तीनों योगोंमें से किसी एक योगद्वारा होता है। इसमें श्रुतज्ञान बदलता नहीं, अर्थात् एक द्रव्य, एक गुण या एक पर्यायका एक योगद्वारा चिंतवन होता है। इससे घाति-कर्मोंका अभाव होकर अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यकी प्राप्ति होती है, यह बारहवें गुणस्थानमें होता है*। (३) सूक्ष्म-

*श्री क्षपणासारमें आठवेंसे बारहवें गुणस्थानके असंख्यात भागों तक प्रथम शुक्लध्यान और बारहवेंके सि ` असंख्यातवें भागमें दूसरा शुक्लध्यान कहा है।

क्रियाप्रतिपाति—इसमें उपयोगको क्रिया नहीं है, क्योंकि क्षयोपशमज्ञान नहीं रहा। श्रुतके आश्रयकी आवश्यकता नहीं रही; क्योंकि केवलज्ञान हो गया। ध्यानका फल जो उपयोगकी स्थिरता, सो भी हो चुकी। यहां वचन-मनयोग और बादर-काययोगका निरोध होकर सूक्ष्म-काययोगका अवलम्बन होता, अन्तमें काययोगका भी अभाव हो जाता है। अतएव इस कार्य होनेकी अपेक्षा उपचाररूपसे यहां सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति ध्यान कहा है; यह ध्यान तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें होता है। (४) व्युपरत-क्रियानिवृत्ति—इसमें श्वासोच्छ्वासकी भी क्रिया नहीं रहती, यह चौदहवें गुणस्थानमें योगोंके अभावकी अपेक्षा कहा गया है।

इस चतुर्थ शुक्ल ध्यानके पूर्ण होते ही आत्मा चारों अघातिया कर्मोंका अभाव करके ऊर्ध्वगमनस्वभावके कारण एक ही समयमें लोकके अग्रभाग अर्थात् अन्तमें जा सुस्थिर, सुप्रसिद्ध, सिद्ध, निकल-परमात्मा हो जाता है। इसके एक-एक गुणकी मुख्यतयासे परब्रह्म, परमेश्वर, मुक्तात्मा, स्वयंभू आदि अनन्त नाम हैं। यह मुक्तात्मा धर्मास्तिकायके अभावसे लोकाकाशसे आगे अलोकाकाशमें नहीं जा सकता। आकार इस शुद्धात्माका चरम (अन्तिम) शरीरसे किंचित् उन पुरुषाकार रहता है। इस निष्कर्म आत्माके ज्ञानावरणी कर्मके अभावसे अनन्त ज्ञान और दर्शनावरणीकर्मके अभावसे अनन्त दर्शन-

की प्राप्ति होती है, जिससे यह लोकालोकके चराचर पदार्थोंको उनकी त्रिकालवर्ती अनन्त गुणपर्यायों सहित युगपत् एक ही समय जानता देखता है। अन्तरायकर्मके अभावसे ऐसी अनन्तवीर्य-शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे खेदरहित हो उन सर्व पदार्थोंको देखता जानता है। मोहनीयकर्मके अभाव होनेसे क्षायिक-सम्यक्त्व होता है, जिससे सर्वज्ञ होते हुए भी किसीमें रागद्वेष उत्पन्न नहीं होता, और समता (शांति) रूप अनन्त सुख*की प्राप्ति होती है। आयुकर्मके अभावसे अवगाहन गुण उत्पन्न होता, जिससे इस मुक्तात्माके अनन्तकाल स्थायीपनेकी शक्तिउत्पन्न होती है (नाटक समयसार—मोक्षाधिकार) गोत्रकर्मके अभावसे अगुरुलघुत्वगुण उत्पन्न होता, जिससे सब शुद्धात्मा हलके भारीपनेसे रहित हो जाते हैं। नामकर्मके अभावसे शरीर-रहितपना अर्थात् सूक्ष्मत्व (अमूर्तित्व) गुणकी प्राप्ति होती, जिससे सिद्धात्मायें अपनी-अपनी सत्ता कायम रखती हुई एक दूसरेमें अवगाह पा सकती हैं। वेदनीय कर्मके अभाव से अव्याबाध गुणकी प्राप्ति होती, जिससे इस कृतकृत्य आत्मा के किसी प्रकारकी बाधा उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार मुक्त जीव यद्यपि व्यवहारनय अपेक्षा अष्टकर्मोंके अभावसे अष्टगुण-

*श्रीक्षपणासारमें मोहनीय कर्मके अभावसे क्षायिक सम्यक्त्व, वीर्यान्तरायके अभावसे अनंतवीर्य और शेष चारों अन्तराय और नव नौकषायके अभावसे अनंत सुख होना कहा है।

मय कहा जाता है, तथापि निश्चयनयसे एक शुद्ध-चैतन्यरस-का पिंड है। यह संसारी अशुद्ध आत्मा, पुरुषार्थ करके इस प्रकार निष्कर्म, परमात्म, परमैश्वर्य अवस्थाको प्राप्त हो, सदा स्वाभाविक शान्तिरसपूर्ण, स्वाधीन आनन्दमय रहता और सदाके लिये अजर-अमर हो जाता है। फिर जन्म-मरण नहीं करता।

पुनः इसीको दूसरी तरहसे ऐसा भी कह सकते हैं कि यह शुद्धात्मा सकल संयम (मुनिव्रत) के धारण करनेके फल-स्वरूप, निज गुणोंके अति विकाशरूप, पूर्ण अहिंसकपनेको प्राप्त हो जाता है। जिस अहिंसकपनेका परिवार ८४ लाख उत्तरगुण हैं। इसी प्रकार पुद्गलसंयोग-जनित कुशीलभावका अभाव होनेसे यह सिद्धात्मा निजस्वरूप-विहारी, महाशीलवान् ब्रह्मचारी हो जाता है। जिस शीलगुणका परिवार १८ हजार उत्तरगुण हैं।

[चौरासी लाख उत्तरगुणों के भंग]

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा ये पंच पाप। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय। मन-वचन-कायकी दुष्टता ये तीन योग। मिथ्यादर्शन १। प्रमाद १। पैशून्य १। अज्ञान १। भय १। रति १। अरति १। जुगुप्सा १। इन्द्रियोंका अनिग्रह १। इन २१ दोषोंका त्याग, अतीचार। अनाचार, अतिक्रम, व्यतिक्रम चार प्रकारसे, पृथिवी कायादि १०के पर-

स्पर संयोग रूप १०० की हिंसाका त्याग, १० अब्रह्मके कारणों का त्याग, १० आलोचनाके दोषोंका त्याग, १० प्रायश्चित्त के भेद। इसप्रकार उपर्युक्त सर्व भेदोंके परस्पर गुणित करने पर (२१×४×१००×१०×१०×१०=८४०००००) चौरासी लाख दोषोंके अभावसे आत्मामें अहिंसाके चौरासी लाख उत्तरगुणोंकी प्राप्ति होती है।

[अठारह हजार शीलके भेद]

मन-वचय-काय ३ गुप्ति, कृत-कारित-अनुमोदना ३, आहार भय मैथुन-परिग्रह ४ संज्ञा-विरति, पंचेन्द्रिय-विरति ५, पृथ्वीकायादि १० प्राणिसंयम उत्तम क्षमादि दश धर्म इस प्रकार इन सबके परस्पर गुणित करने पर (३×३× ४×५×१०×१०=१८०००) अट्ठारह हजार शीलके भेद आत्मामें उत्पन्न होते हैं।

[मुनिव्रतका सारांश, मोक्ष]

मिथ्यादृष्टि जीवोंके बहुधा अशुभ उपयोग रहता है, कदाचित् किसीके मन्द कषायसे शुभोपयोग भी हो तो सम्यक्त्वके विना, निरतिशय पुण्यबंधका कारण होता है, जो किंचित् सांसारिक (इन्द्रिय-जनित) सुख-सम्पदाका नाटक दिखाकर अंत में फिर अधोगतिका पात्र बना देता है। ऐसा निरतिशय पुण्य मोक्षमार्गके लिये सहकारी नहीं होता। हां! जिस जीवके काललब्धिकी निकटतासे तत्त्वविचार पूर्वक आत्मानुभव

(सम्यक्त्व) हो जाता है, उसीके सातिशय पुण्यबंधका कारण सच्चा शुभोपयोग होता है। इस सम्यक्त्वसहित शुभोपयोगके अभ्यन्तर ही दहीमें मक्खनकी नाँई शुद्धोपयोगकी छटा झलकती है, ज्यों-ज्यों संयम बढ़ता जाता, त्यों-त्यों उपयोग निर्मल होता जाता अर्थात् शुद्धोपयोगकी मात्रा बढ़ती जाती है। यह शुद्धोपयोगका अंकुर चौथे गुणस्थानसे शुभोपयोगकी छायामें अव्यक्त बढ़ता हुआ, सातवें गुणस्थानमें व्यक्त हो जाता है। यहां पर अव्यक्त मन्द-कषायोंके उदयसे किंचित् मलिन होने पर भी यद्यपि इसे द्रव्यानुयोगकी अपेक्षा शुद्धोपयोग कहा है, क्योंकि छद्मस्थके अनुभवमें उस मलिनताका भान नहीं होता तथापि यथार्थमें दशवें गुणस्थानके अनन्तर ही कषायोंके उदयके सर्वथा अभाव होनेसे यथाख्यात-चारित्ररूप सच्चा शुद्धोपयोग होता है।

यह स्पष्ट ही है कि अशुभोपयोग पापबंधका कारण, शुभोपयोग पुण्यबंधका कारण और शुद्धोपयोग बंधरहित (संवरपूर्वक) निर्जरा एवं मोक्षका कारण है। इस शुद्धोपयोगकी पूर्णता निर्ग्रन्थ (साधु) पद धारण करनेसे ही होता है, इसलिये मुनिव्रत मोक्षका असाधारण कारण है। जिसप्रकार श्रावकको १२ व्रत निर्दोष पालनेसे उसके कर्तव्यकी पूर्णता होती है। उसी प्रकार मुनिको पंच महाव्रत अथवा पंचाचार, पंच समिति, तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार चारित्र निर्दोष पालने

से साधुके कर्तव्यकी सिद्धि अर्थात् शुद्धोपयोगकी उत्पत्ति होती है। इस-प्रकार तेरह प्रकारके चारित्रमेंसे यथार्थमें ३ गुप्तिका पालन साधुका मुख्य कर्तव्य है, यह गुप्ति ही मोक्षकी दाता, मोक्ष-स्वरूप है। जब तक इनकी पूर्णता न हो, तब तक निष्कर्म अवस्था प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार साधुका सकल संयम यथाख्यात चारित्र अर्थात् रत्नत्रयकी पूर्णताको प्राप्त कराता है। यद्यपि अष्टकर्मोंकी नाशक रत्नत्रयकी एकता, एक देश श्रावकके भी होती है तथापि पूर्णता मुनि अवस्थामें ही होती है। यह रत्नत्रयकी पूर्णता मोक्षकी कारण एवं मोक्ष-स्वरूप है, संसार-परिभ्रमणकी नाशक है। जो जीव मोक्षको प्राप्त हुए अथवा होवेंगे, वे सब इसी दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता से। यह ही आत्माका स्वभाव है, यही तीन लोकमें पूज्य है। इसकी एकता विना कोटि यत्न करनेपर भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। जितने कुछ क्रिया-आचरण हैं वे सब इसी रत्नत्रयके सहकारी होनेसे धर्म कहलाते हैं। यह रत्नत्रय की एकता ही अद्भुत रसायन है, जो जीवको अजर-अमर बना देती है। इस पूज्य रत्नत्रयकी एकताको हमारा बारम्बार नमस्कार है और यह हमारे हृदयमें सदा विकासमान रहो।

[सदुपदेश]

यह संसारी आत्मा अनादिकालसे अपने स्वरूपको भूल, पुद्गलको ही अपना स्वरूप मान बहिरात्मा हो रहा है।

जब काललब्धि तथा योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका संयोग पाकर इसे अपना तथा परका भेद-विज्ञान होकर सम्यक्त्व (आत्म-स्वभावका दृढ़ विश्वास) की प्राप्ति होती है, तब वह अंतरात्मा होकर परपदार्थोंसे उपयोग हटाकर निजात्मस्वरूपमें स्थित होनेकी उत्कट इच्छारूप स्वरूपाचरण-चारित्रका आरंभी तथा स्वात्मानुभवी हो जाता है पश्चात् बारह व्रतरूप देशचारित्र अंगीकार कर एकदेश आरम्भ-परिग्रहका त्यागी अणुव्रती होता है। जिसके फलसे इसका उपयोग अपने स्वरूपमें किंचित् स्थिर होने लगता है। पुनः मुनिव्रत धार, अट्ठाईस मूलगुणरूप सकल-संयम पालनेसे सर्वथा आरम्भ-परिग्रहका त्यागी हो जाता है जिससे आत्माका उपयोग पूर्णरूपसे निज-स्वरूप ही में लीन होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतापूर्वक ध्यान-ध्याता-ध्येय, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेयके भेदरहित हो जाता है। यही स्वरूपाचरण चारित्रकी पूर्णता है। आत्मा इसी अद्भुत रसायनके बलसे निर्बन्ध अवस्थाको प्राप्त होकर उस वचनातीत आत्मिक स्वाधीन सुखको प्राप्त करता है, जो इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्तीको भी दुर्लभ है। क्योंकि इन इन्द्रादिकोंका सुख लोकमें सर्वोपरि प्रसिद्ध होते हुए भी आकुलतामय परिमित तथा पराधीन है और सिद्ध अवस्थाका सुख निराकुलित, स्वाधीन तथा अनन्तकाल स्थायी है। धन्य हैं वे महंत पुरुष ! जिन्होंने इस मनुष्य पर्यायको पाकर अनादि जन्म-

मरण रोगका नाश कर सदाके लिये अजर अमर अनन्त अविनाशी आत्मिक लक्ष्मीको प्राप्त किया। ऐसे सम्पूर्ण जगत्के शिरोमणि सिद्ध परमेष्ठी जयवंत होओ! भक्तजनोंके हृदय-कमलमें निवास कर उन्हें पवित्र करो! जगत्के जीवोंको कल्याण दाता होओ।

हे मोक्षसुखके इच्छुक, संसार-भ्रमणसे भयभीत सज्जन भ्राताओ! इस सुअवसरको हाथसे न खोओ, सांसारिक राग-द्वेष रूप अग्निसे तप्तायमान इस आत्माको समता (शांति) रसरूपी अमृतसे चिंतन कर अजर-अमर बनाओ, यही सच्चा पुरुषार्थ, यही मुख्य प्रयोजन, यही सर्वोत्कृष्ट इष्ट (हित) है।

[प्रशस्ति]

पावन भारतवर्षके, मध्यप्रदेश मझार।
सागर नागर-जन-बहुल, जिला लसत सुखकार ॥ १ ॥
ता महं सरित सुनारके, तीर मनोहर ग्राम।
हृदयनगर* राजत जहां जिनमन्दिर अभिराम ॥ २ ॥
विविध धर्म कुल जातिके, निवसत जनसमुदाय।
जैनी जन रार्जे अधिक, सब विधि साता पाय ॥ ३ ॥
बसें तहां परवार-वर, सोधिया प्यारेलाल।
रकिया मूर प्रसिद्ध जिहि, बाँझल गोत विशाल ॥ ४ ॥

*नदी के दाहिने तट हृदयनगर और बायें तट गढ़ाकोटा है। आजकल इसका प्रसिद्ध नाम गढ़ाकोटा है।

तीन पुत्र तिनकें भये, पहिले नाथूराम ।
दूजौ मैं दरयावसिंह, मूलचन्द लघुनाम ॥ ५ ॥
धर्म-कर्म संयोग से, कर कछु विद्याभ्यास ।
अध्यापक की जीविका, पाई शान्ति निवास ॥ ६ ॥
ब्रटिश राज्य में इकादश, वर्ष कियौ यह काम ।
किन्तु न पायौ धर्मकौं, मर्म शर्म सुखधाम ॥ ७ ॥
पूर्व पुरायके उदय वश, आ पहुँचौ रतलाम ।
राजकीय अध्यापकी, पाई उन्नति धाम ॥ ८ ॥
यहां मिली संगति सुखद, साधर्मिन की शुद्ध ।
धर्म सम्पदा पायकर, नितप्रति भयौ प्रबुद्ध ॥ ९ ॥
पूरव भवके मित्रसम, हीराचन्द गंगवाल।
तिनके प्रेम प्रसादसे, पायौ धर्म रसाल ॥ १० ॥
पण्डित बापूलालजी, धर्म-तत्त्व मर्मज्ञ ।
ज्ञान दान अनमोल तिन, दियौ कियौ वृष-विज्ञ ॥ ११ ॥
पूरवके, संस्कारवश भयौ अटल विश्वास ।
निज स्वरूप समुझन लगौ, कटी अविद्या फांस ॥ १२ ॥
एकाएकी देशमें, प्रगटौ रोग महान् ।
उठौ उपद्रव प्लेग कौ अतिशय प्रलय समान ॥ १३ ॥
इसी रोगमें ग्रसित ह्वै, युगल तनय सुकुमार ।
निज माता युत तन तज्यो, नेक न लागी वार ॥१४॥

नैनन देख्यौ जगत कौ अतिशय अथिर स्वभाव ।
मोह घट्यो प्रगट्यो विशद, निज सुधारकौ चाव ॥१५॥
तबहि ज्येष्ठ सुत भ्रातकों, सौंप भयौ निर्द्वन्द ।
तृष्णा तजि भगवत् भजन, करन लग्यो सानन्द ॥१६॥
गोत्र-काशलीवाल मणि, हुकमचन्दजी श्रेष्ठि ।
इन्द्रपुरी (इन्दौर) नगरी बसैं, दानवीर धर्मिष्ठ ॥१७॥
धर्म प्रेमवश तिन कही, रहौ हमारे पास ।
नाश दासता फांसको, करो स्वधर्म विकाश ॥१८॥
महदाश्रय को पाय करि, भयौ अमित आनन्द ।
धर्म कर्म साधन लग्यो, सब प्रकार स्वच्छन्द ॥१९॥
श्रावकधर्म स्वरूपके, समुझन हेतु अनेक ।
आर्ष ग्रन्थ देखन लग्यों, निशदिन सहित विवेक ॥२०॥
जो कछु समुझ्यो अरु गुन्यों, सुन्यौ सुबुद्धिनि पास ।
ताकौ यह संग्रह भयौ ग्रन्थ स्वरूप प्रकाश ॥२१॥
श्रावक बुध्दूलालजी, कीन्ही बहुत सहाय ।
बार-बार लिख सोधियौ, दे सम्मति सुखदाय ॥२२॥
भये सहायक मित्र मम, गोधा पन्नालाल ।
खूबचन्दजी ठोलिया, अरु परसादीलाल ॥२३॥
इन सब मित्रों ने कियौ संशोधन अविरुद्ध ।
यथासाध्य दूषण-रहित, कीन्हों याहि विशुद्ध ॥२४॥

संवत्सर उन्नीस सौ, सत्तर अधिक प्रमाण ।
ज्येष्ठ शुक्ल श्रुतपंचमी, भयौ ग्रन्थ अवसान ॥२५॥
रवि-शशि कौ जबलों रहै, जगमें सुखद प्रकाश ।
तब लौं यह रचना रहै, करै सुधर्म विकाश ॥२६॥

॥ इति शम् ॥

राजहंस प्रेस सदर बाजार दिल्ली ।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	६	विषय सुखोंकी मदिरा पिला कर वे उन्हें बार २ मोह में	वे बार २ उपदेश देकर मोह-निद्रा में
६	६	निरक्षर	निज
७	१०	त्रान	ज्ञान
१०	२०	तत्पन्न	उत्पन्न
११	३	बनाना	बनाया
११	१६	विना	विना किसी
१३	८	न्यायधीशों	न्यायाधीशों
१३	१८	ईवर	ईश्वर
२०	१८	खारा	खट्टा
२२	१	विभाव नहीं	विभाव पर्याय नहीं
२४	१२	मथाती	मथानी
२५	७	(ममत्व भाव	(ममत्व भाव)
२६	१६	रत्नत्रयसे	रत्नत्रयके
२६	८	तब	अब
३१	१७	वस्त्र,	वस्त्र, धन—
३१	२१	कुशास्त्र	कुशास्त्र
३२	४	देखसुन कर	सुनकर
३२	५।६	विचारना कि अनेक देव, गुरु, धर्म सब अपने २ को सच्चा और दूसरोंको झूठा बतलाते हैं। अनेक मत	विचारना कि अनेक मत
३२	११	देव मन्दिर-कुदेव मन्दिर,	जिन मन्दिर-अन्य मन्दिर
३२	१७	छहों-इन्द्रियों और मन को	छहों को
३४	२	चिसमें	चिस

३६	१४	विभाग	विभाग होता है। वह विभाग
३७	१०	वेदनीय कर्ममें और	और वेदनीय कर्ममें
३९	७	प्रदेश बन्ध	प्रकृति बन्ध प्रदेश बन्ध
३९	१०	और १९०	और १००
३९	१७	आसाता	असाता
४१	१५	पदार्थोंका स्वरूप ज्यों का त्यों	पदार्थोंका सत्य स्वरूप जानना, तथा सम्यग्ज्ञानपूर्वक पदार्थोंका स्वरूप ज्योंका त्यों
४३	२०	विरक्तिरूप	विरक्तरूप
४४	७	इनसे	इससे
४५	५	करना।	करना चाहिए
४५	१५	इच्छा करता है	इच्छा करता है तथा प्राप्तिका उपाय करता है।
४७	१३	पैदल चलते	पैदल गमन करना और पैदल चलते
४७	२०	बंधे	बांधे
५०	१९	(क्षय) हो जाना	कर्मोंका अपने उदय कालसे पहले ही विना रस दिये एक देश नाश (क्षय) हो जाना।
५१	२१	मोहध भारूप	मोह-भावरूप
५२	१	ंधता	बंधता
५२	११-१२	सहन करने से राग द्वेष	सहन करूं तो मेरा रागद्वेष
५४	२१	सम्यक्त्वी	जो सम्यक्त्वी
५६	९	मल दोषके सम्यक्त्वके	मल दोष लगते हैं, तथापि वे मल दोष सम्यक्त्वके
५७	४	निर्बलता	निर्मलता
५७	८	सम्यक्त्वसे	सम्यक्त्वके
५७	१६	अनुभूतिसे	अनुभूतिका

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५८	१६	आत्मा श्रद्धान	आत्म-श्रद्धान
५८	१८-१९	सम्यक्त्व चौथे	सम्यक्त्वमें चारित्रमोहकी अधिकता-हीनता की अपेक्षा है। सराग सम्यक्त्व चौथे
५९	९	निन्द्य भाव	निर्दय भाव
६०	१९	हेतुवाद	हेतुवादसे
६०	२०	दूसरे सूक्ष्म	दूसरे सूक्ष्म स्वभावसे
६१	१८	पर्वतादि अन्तरित	पर्वतादि दूरवर्ती पदार्थ, तथा तीर्थंकर, चक्रवर्ती राम-रावणादि अन्तरित
६९	८	भोगियोंक	भेषियोंका
६९	१९	मठ	मद
६९	२०	ऋद्धि	ऋद्धि
७०	३-४	उसी तरह इन आठ तरहके मदोंमें भूला हुआ आया धर्मकी	उसी तरह मदोंमें भूला हुआ धर्मकी
७१	१८	तत्त्वोपदेशवाली	तत्त्वोपदेशदाता
७३	१८	उद्यम	उद्यत
७४	३	तूर्ण	पूर्ण
७७	९	ढँका नहीं	ढक नहीं
७८	९	सम्यक्रूप रहते हैं उस समय सम्यग्ज्ञान	सम्यक्रूप सम्यग्ज्ञान
७८	१०	परमा विधि और सर्वा विधि	परमावधि और सर्वावधि
७९	३	श्रवण का अनुभव करना	श्रवण करना
७९	४	मतिज्ञान के रूप हैं	मतिज्ञान है
७९	७	शेष	ज्ञेय
७९	२०	'श्रुतिमनिन्द्रियस्य'	'श्रुतमनिन्द्रियस्य'
८५	१-२	होता है ? इस तरह संवर, निर्जरा और मोक्ष कर्मोंके भेद	होता है ? कर्मों के भेद

८८	१३	धर्म	पर्म
८९	१	अणुव्रतादिरूप	अणुव्रत-महाव्रतादिरूप
९५	१५	दुष्कर्म करता	दुष्कर्म हैं सभी करता
९५	१६	धर्मको शुद्धि	धर्मकी सुधि
९५	१९	कहां	वहां
१०३	१	गेगी	निरोगी
११०	२	चर्चा	चर्या
११०	१८	घंटे एक	घंटे
१२९	८	व्रत तिमा	व्रतप्रतिमा
१४१	६	करके सर्पादि	करके सिंह-सर्पादि
१५२	७	सन्तोषहित	सन्तोष-सहित
१५२	१९	चर्चा	चर्या
१५५	१४	स्त्री नहीं है	स्त्री नहीं है, किन्तु
१५८	२	देवमें होती है।	देव होती है।
१७५	७	शयनमने	शयनामने
२०८	५	पशं	पर्श
२३७	१५	सहाहता	सहायता
२३७	१७	महत्व	ममत्व
२४२	२०	बीच	बीज
२४४	१८	केजल	केवल
२५१	१३	सुन्दर	सुन्दर
२५६	२१	त्यगी	त्यागी
२५७	१६	युद्ध काम	काम
२६३	६	वस्त्र	वस्त्र
२६८	२	प्रकारका	मकारका
२७४	२०	यज्ञोपर्वाय	यज्ञोपवीत
३१२	११	रूपसे	विशेष रूपसे